एम.ए. उत्तरार्द्ध

राजनीति विज्ञान, चतुर्थ प्रश्नपत्र

भारतीय प्रशासन

(INDIAN ADMINISTRATION)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University
   Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College
   Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Sandia Bhardwaj, Lecturer, Agra University
Units (1.0-1.1, 1.2-1.4, 1.5-1.9, 2.0-2.1, 2.6-2.7, 2.8, 2.9-2.13, 3.0-3.1, 3.2-3.5, 3.6-3.10, 4.0-4.1, 4.3.1, 4.3.2, 4.4-4.8, 5.0-5.4, 5.5-5.10)

Dr. Nutan Singh, Associate Professor, Dept. of Political Science, GDM Girls PG College, Modinagar
Unit (2.2-2.5)

Dr. Arun Kumar Gupta, Associate Prof., Deptt of Political Science, K.G.K. College, Moradabad
Unit (4.2, 4.3, 4.3.3)

Dr. Biswaranjan Mohanty, Assistant Prof., SGTB Khalsa College, Dept. of Political Science, Delhi University
Unit (4.3.4)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारतीय प्रशासन

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 मौर्य, मुगल और ब्रिटिश काल; स्वतंत्रता के बाद का भारतीय प्रशासन; केंद्र प्रशासन की संरचना	**इकाई 1** : भारतीय प्रशासन का विकास **(पृष्ठ 3–48)**
इकाई–2 राष्ट्रपति– राष्ट्रपति का निर्वाचन, राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति; प्रधानमंत्री– प्रधानमंत्री का चयन या नियुक्ति, प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति; मंत्रिपरिषद; कैबिनेट समितियां; प्रधानमंत्री कार्यालय; कैबिनेट सचिवालय और कैबिनेट सचिव की भूमिका; केंद्रीय सचिवालय	**इकाई 2** : केंद्रीय कार्यपालिका **(पृष्ठ 49–120)**
इकाई–3 राज्यपाल; मुख्यमंत्री; विभागाध्यक्ष और सचिवालय के साथ उनके संबंध; कैबिनेट समितियों के कार्य	**इकाई 3** : राज्य **(पृष्ठ 121–142)**
इकाई–4 सरकारिया आयोग रिपोर्ट; केंद्र–राज्य संबंध में समस्या क्षेत्र– सिवल सेवा : केंद्र–राज्य सिविल सेवा, स्थानीय प्रशासनिक सेवा, भर्ती, लोक सेवा आयोग की भूमिका	**इकाई 4** : केंद्र राज्य संबंध **(पृष्ठ 143–200)**
इकाई–5 जिला प्रशासन; ब्लॉक स्तर; तहसील स्तर प्रशासन मशीनरी – भूमिका और कार्य; जिला विकास प्रशासन	**इकाई 5** : राजस्व प्रशासन **(पृष्ठ 201–210)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 भारतीय प्रशासन का विकास 3–48

- 1.0 परिचय
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 मौर्य, मुगल और ब्रिटिश काल
  - 1.2.1 मौर्य काल
  - 1.2.2 मुगल काल
  - 1.2.3 ब्रिटिश काल
- 1.3 स्वतंत्रता के बाद का भारतीय प्रशासन
- 1.4 केंद्र प्रशासन की संरचना
- 1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
- 1.6 सारांश
- 1.7 मुख्य शब्दावली
- 1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
- 1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 केंद्रीय कार्यपालिका 49–120

- 2.0 परिचय
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 राष्ट्रपति
  - 2.2.1 राष्ट्रपति का निर्वाचन
  - 2.2.2 राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति
- 2.3 प्रधानमंत्री
  - 2.3.1 प्रधानमंत्री का चयन या नियुक्ति
  - 2.3.2 प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति
- 2.4 मंत्रिपरिषद
- 2.5 कैबिनेट समितियां
- 2.6 प्रधानमंत्री कार्यालय
- 2.7 कैबिनेट सचिवालय और कैबिनेट सचिव की भूमिका
- 2.8 केंद्रीय सचिवालय
- 2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
- 2.10 सारांश
- 2.11 मुख्य शब्दावली
- 2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
- 2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 राज्य 121–142

- 3.0 परिचय
- 3.1 उद्देश्य

3.2 राज्यपाल
3.3 मुख्यमंत्री
3.4 विभागाध्यक्ष और सचिवालय के साथ उनके संबंध
3.5 कैबिनेट समितियों के कार्य
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 केंद्र राज्य संबंध 143–200

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 सरकारिया आयोग रिपोर्ट
4.3 केंद्र–राज्य संबंध में समस्या क्षेत्र
    4.3.1 सिवल सेवा : केंद्र–राज्य सिविल सेवा
    4.3.2 स्थानीय प्रशासनिक सेवा
    4.3.3 भर्ती
    4.3.4 लोक सेवा आयोग की भूमिका
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 राजस्व प्रशासन 201–210

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 जिला प्रशासन
5.3 ब्लॉक स्तर
5.4 तहसील स्तर प्रशासन मशीनरी – भूमिका और कार्य
5.5 जिला विकास प्रशासन
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय प्रशासन' विश्वविद्यालय द्वारा एम.ए. (उत्तरार्द्ध) के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम पर आधारित है। भारतीय–प्रशासन के विकास का इतिहास बहुत पुराना है। वास्तव में यह विषय उतना ही प्राचीन है जितनी मानव सभ्यता। प्राचीनकाल में राजनीतिक व्यवस्थाएं भी लोक प्रशासन के माध्यम से ही शासन कार्य संचालित करती थीं। भारतीय लोक प्रशासन अपने वर्तमान स्वरूप में विरासत एवं निरंतरता का परिणाम है। अतः परंपरागत लोक प्रशासन की नींव पर आज के लोक प्रशासन का भवन खड़ा हुआ है और भारतीय लोक प्रशासन का विकास अनेक शताब्दियों के विकास का नतीजा है।

प्रस्तुत पुस्तक की सभी इकाइयों में विद्यार्थियों के ज्ञान को परखने के लिए 'अपनी प्रगति जांचिए' के अंतर्गत वैकल्पिक प्रश्न पूछे गए हैं, मुख्य शब्दावली में कठिन शब्दों के अर्थ बताए गए हैं तथा स्व–मूल्यांकन प्रश्न भी दिए गए हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए पुस्तक में 5 इकाइयों का समायोजन किया गया है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई में भारतीय प्रशासन के विकास, स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत के भारतीय प्रशासन तथा केंद्र प्रशासन की संरचना का वर्णन किया गया है।

दूसरी इकाई में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री की भारतीय प्रशासन में स्थिति और भूमिका, कैबिनेट सचिवालय और केंद्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरी इकाई राज्यपाल और मुख्यमंत्री के कार्यों, शक्तियों तथा अधिकारों के बारे में बताती है और विभागाध्यक्ष तथा सचिवालय के साथ उनके संबंधों का परिचय कराती है और कैबिनेट समितियों के कार्यों से अवगत कराती है।

चौथी इकाई केंद्र और राज्यों के संबंधों का खुलासा करती है तथा सरकारिया आयोग रिपोर्ट, केंद्र–राज्य सिविल सेवा, स्थानीय प्रशासनिक सेवा, भर्ती एवं सार्वजनिक सेवा आयोगों की भूमिका आदि महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालती है।

पांचवीं इकाई में राजस्व प्रशासन के विभिन्न पहलुओं, जैसे–जिला प्रशासन, ब्लॉक–स्तर प्रशासन, तहसील–स्तर प्रशासन की भूमिका और कार्यों तथा जिला विकास प्रशासन आदि विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

हमें सिर्फ आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक भारतीय प्रशासन को समझने में विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

इकाई 1 भारतीय प्रशासन का विकास

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 मौर्य, मुगल और ब्रिटिश काल
    1.2.1 मौर्य काल
    1.2.2 मुगल काल
    1.2.3 ब्रिटिश काल
1.3 स्वतंत्रता के बाद का भारतीय प्रशासन
1.4 केंद्र प्रशासन की संरचना
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

भारतीय प्रशासन का क्षेत्र क्या है? इसका विकास कैसे हुआ और यह अस्तित्व में कैसे आया। यहां हम भारतीय प्रशासन के विकास के महत्वपूर्ण बिंदुओं पर चर्चा करेंगे। भारतीय प्रशासन की प्राचीन, मुगल, ब्रिटिश काल में क्या स्थिति थी? इन कालों में प्रशासन कैसे चलता था? जनता की क्या स्थिति थी? आज के प्रशासन में और तब के प्रशासन में क्या अंतर है, इन सब के बारे में आप जान पाएंगे। हमारे संविधान ने प्रशासन को खास विशेषताएं दी हैं, जैसे–संविधान द्वारा हमारे प्रशासन को जनता के लिए महत्वपूर्ण सुविधाओं की व्यवस्था करने सहित अनेक अधिकार दिए गए हैं, जिनकी हम विस्तार से चर्चा करेंगे। भारत के प्रशासन की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि प्रशासन के कारण ही आज तीनों का विकास संभव हो सका है।

प्रस्तुत इकाई में भारतीय प्रशासन के विकास का विस्तार से अध्ययन किया गया है और स्वतंत्रता के बाद के भारतीय प्रशासन का विवेचन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय प्रशासन के विकास के बारे में जान पाएंगे;
- भारतीय प्रशासन के मौर्य काल की विशेषताओं को जान पाएंगे;
- भारतीय प्रशासन के मुगल काल की स्थितियों का आकलन कर पाएंगे;

- भारत में ब्रिटिश राज्य के समय की स्थितियों को जान पाएंगे;
- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय प्रशासन के हालात समझ सकेंगे;
- केंद्र के प्रशासन व उसकी शक्ति के बारे में जान पाएंगे।

1.2 मौर्य, मुगल और ब्रिटिश काल

शब्दकोष के अनुसार 'प्रशासन' शब्द अंग्रेजी शब्द 'एडमिनिस्टर' का रूपांतर है, जो लैटिन भाषा के दो शब्द 'एड + मिनिस्ट्रेर' से बना है, जिसका अर्थ कार्यों की व्यवस्था या व्यक्तियों की देखभाल करना है। प्रशासन के पूर्व 'लोक' शब्द प्रशासनिक क्रियाओं को सरकार तक सीमित कर देता है। अर्थात प्रशासन एक सामूहिक प्रक्रिया है। प्राचीन प्रशासन से लेकर अब तक भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, जिनका इस पुस्तक में विस्तार से विवरण दिया गया है। भारतीय नौकरशाही व्यवस्था, जो भारतीय प्रशासन की रीढ़ कही जा सकती है, उसका भी स्पष्ट विवरण दिया गया है। राजनीतिक नौकरशाही मतलब मंत्रिपरिषद, जो संसद सदस्यों और विधायकों अर्थात विधानमंडलों के माध्यम से जनता के सामने जवाबदेह हो और एक कार्यकारी नौकरशाही अर्थात 'सिविल' सेवा जो मंत्रियों की सहायता करती और उन्हें सलाह देती है तथा निर्णयों को लागू करती है। सरकार (कार्यपालिका) तथा विधायिका के कार्यों पर निगरानी के लिए तथा न्याय करने के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका भी होती है। शासन के इन तीनों अंगों–विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का गठन भारतीय संविधान के बनाये गये ढांचे के दायरे में किया जाता है, जिसे 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। तीनों के बीच पारस्परिक निर्भरता का संबंध और एक नाजुक संतुलन पाया जाता है। भारत में संविधान को ही सर्वोच्चता प्राप्त है। जब कार्यपालिका अपनी मर्यादा से आगे बढ़ जाती है तो न्यायपालिका उस पर अंकुश लगा सकती है। जब संसद या विधानसभा कोई कानून बनाती है तो न्यायपालिका यह तय कर सकती है कि वह संविधान के अनुरूप है या नहीं। लेकिन संसद संविधान संशोधन के द्वारा न्यायिक समीक्षा की आवश्यकता समाप्त कर सकती है। लोक प्रशासन में बहुत–सी अबूझ बातें होती हैं, जिनकी वजह से इसमें अनेकानेक तरह के प्रकार्य शामिल होते हैं, जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के घटनाक्रमों से प्रभावित होते हैं। सरकार के अनेक दूरगामी लक्ष्य होते हैं, जिनमें से अनेक एक–दूसरे से टकराते हैं (जैसे–संवृद्धि बनाम समता) और ये साफ निरूपित नहीं होते। इनके कारण व्यक्ति अपने पेशे, कार्य और भूमिका की समझ विकसित नहीं कर पाता। साथ ही कारगुजारी के वस्तुगत मूल्यांकन के लिए मापन के उपकरणों की भी कमी है। इसके अलावा लोक प्रशासन द्वारा किए गए कार्यों तथा जुटाई गई सेवाओं या लाभों की अदृश्यता भी एक समस्या है। यह इस तथ्य से भी खराब होती है कि किसी सेवा विशेष को चाहने वाले व्यक्तियों की संख्या बड़ी होती है मगर वह थोड़े–से लोगों तक ही पहुंचती है। किसी परियोजना या कार्यक्रम का परिपक्वता काल इतना विस्तृत हो सकता है कि उसके आगे बढ़ने पर मूल मकसद ही किसी और मकसद में समाहित

होकर बदल जाए। कभी–कभी व्यक्ति यह नहीं जान पाता कि अंतिम नतीजे में उसका योगदान क्या रहा है। किसी कारखाने का मजदूर, जो मिसाल के लिए एक बल्ब या एक कार का बहुत छोटा–सा टुकड़ा बनाता है, अंतिम परिणाम को देखकर गर्व का अनुभव करता है क्योंकि उसके निर्माण में उसकी भी भूमिका रही है। लेकिन सिविल अधिकारी किस बात का श्रेय लें? परिणाम दिखाई नहीं देता, 'वह न तो गोचर होता है और न उसका परिमाणीकरण संभव है।' शायद वर्षों बाद कुछ हो और कोई परिणाम दिखाई पड़े, मगर तब तक वह सेवानिवृत्त हो जाता है या जीवित नहीं रहता। लेकिन मान्यता और पुरस्कार (मौखिक प्रशंसा तक भी) उत्साहवर्धक होते हैं लेकिन लोक प्रशासन लगभग अकेला क्षेत्र है, जिसमें इसकी भी उपेक्षा की जाती है। लोक प्रशासन एक अर्थ में गृहस्थी चलाने जैसा होता है। जब तक काम सुचारु रूप से चलता रहता है, कोई उस पर ध्यान नहीं देता, लेकिन जहां कोई बात गड़बड़ हुई कि सिविल अधिकारी पर दोष धरा जाता है। किसी गृहिणी के काम पर तब ही ध्यान जाता है जब वह सब्जी में नमक या मसाला कुछ ज्यादा डाल देती है। उसमें और लोक प्रशासक में यही एक बात साझी है। कार्यों की पारस्परिक निर्भरता और उनका समन्वित संचालन, हाल में ये बातें लोक प्रशासन के कुछ क्षेत्रों की साझी विशेषताएं बन गई हैं तथा व्यक्तियों के काम और उनकी योग्यता के मूल्यांकन में इनका ध्यान रखना जरूरी है। इस 'सामूहिक कार्य' का समुचित मूल्यांकन कैसे किया जाए, इस पर अध्ययन की आवश्यकता है। कभी–कभी सेवा की आपात जरूरत की वजह से अतिरिक्त कर्तव्य भी निभाने पड़ते हैं। किए जाने वाले काम की गुणवत्ता या परिमाण के बारे में कोई सुस्पष्ट मानक या सूचक नहीं होते। इस कारण यह तय करना कठिन हो जाता है कि किसी इकाई में आवश्यकता से अधिक स्टाफ है या कम, या क्या वह दक्षतापूर्ण है। इस तरह हम कह सकते हैं कि उद्देश्यों की साफ समझ का अभाव लोक प्रशासन में मूल्याकंन या जवाबदेही का काम मुश्किल बना देता है, जिससे काम की संस्कृति में गिरावट आती है। नीतियों और योजनाओं का निर्धारण, कार्यक्रमों का क्रियान्वयन और उनकी निगरानी, कानूनों और नियम–कायदों का निर्धारण तथा उनके क्रियान्वयन के लिए विभागों एवं संगठनों की स्थापना और उनकी निगरानी जैसे कार्य लोक प्रशासन में शामिल हैं। प्रशासन से आशा की जाती है कि वह हमारी सीमाओं की देखभाल और रक्षा, संचार और बुनियादी ढांचे, विदेश नीति, जमीन के दस्तावेजों के (अब भूमि के उपयोग संबंधी नियमों के भी) रखरखाव, कानून–व्यवस्था की रक्षा, राजस्व की वसूली, कृषि, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, उद्योग तथा देशी–विदेशी व्यापार की उन्नति, बैंकिंग, बीमा, खनिज और समुद्री संपदा, यातायात और संचार, शिक्षा, समाज–कल्याण, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य तथा सभी संबद्ध विषयों पर ध्यान देगा। प्रशासन का काम राष्ट्र, राज्य तथा जिला और प्रखंड जैसी जगहों के स्तरों पर चलता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक एफ. निग्रो. के अनुसार, "प्रशासन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य तथा सामग्री दोनों का संगठन है।" फिफनर के अनुसार, "मनुष्य तथा भौतिक साधनों का संगठन एवं नियंत्रण ही प्रशासन है।" साइमन के अनुसार, "अपने व्यापक रूप से प्रशासन की व्याख्या उन समस्त सामूहिक क्रियाओं से की जा सकती है, जो सामान्य

लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोगात्मक रूप से प्रस्तुत की जाती है।" जॉन ए. वीग का कथन है, "प्रशासन एक निश्चित कार्य है, जो किसी निर्धारित प्रयोजन की प्राप्ति के लिए किया जाता है ताकि कम से कम शक्ति, समय तथा धन के खर्च से वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

टिप्पणी

शासन के विभिन्न पहलुओं का विकास, उन पर अमल एवं उनका गहनता से अध्ययन लोक प्रशासन कहलाता है। साधारण रूप से कहें तो इसका अभिप्राय वह जनसेवा है, जिसे 'सरकार' कहा जाने वाला लोगों का एक संगठन करता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य और अस्तित्व का आधार 'सेवा' है। इस प्रकार की सेवा का वित्तीय बोझ उठाने के लिए सरकार को जनता से करों और महसूलों के रूप में राजस्व वसूल कर संसाधन जुटाने पड़ते हैं। जिनकी कुछ आय है, उनसे कुछ लेकर सेवाओं के माध्यम से उसका समतापूर्ण वितरण करना इसका मकसद है। लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रकृति हर देश की राजनीतिक व्यवस्था से प्रभावित होती है। भारत में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था होने के कारण लोक प्रशासन का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। इसकी क्रियाएं एवं प्रक्रियाएं भारतीय जनमानस की समस्त जीवन–शैली को प्रभावित करती हैं। परंपरागत प्रशासन प्रबंधकीय दृष्टिकोण से प्रेरित था। वर्तमान में समाजवादी व जनकल्याणकारी विचारधारा की प्रगति के साथ–साथ लोक प्रशासन की प्रकृति में काफी परिवर्तन हुआ है। इसके फलस्वरूप इसका क्षेत्र भी निरंतर बढ़ता जा रहा है। 1960 के दशक से नवीन लोक प्रशासन के आंदोलन ने सामाजिक विज्ञान वाला रूप धारण कर लिया। किसी भी देश में लोक प्रशासन के उद्देश्य वहां की संस्थाओं, प्रक्रियाओं, कार्मिक–राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाओं तथा उस देश के संविधान में व्यक्त शासन के सिद्धातों पर निर्भर होते हैं। प्रतिनिधित्व, उत्तरदायित्व, औचित्य और समता की दृष्टि से शासन का स्वरूप महत्व रखता है, लेकिन सरकार एक अच्छे प्रशासन के माध्यम से इन्हें पूरा करने की कोशिश करती है। लोक प्रशासन का विषय बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। भारतीय शिक्षा प्रणाली में इसे सामान्यतः राजनीति या राजनीति विज्ञान नाम के एक वृहत्तर विषय की अनेक शाखाओं में से एक का दर्जा प्राप्त है तथा इसका अध्यापन पाठ्यक्रम के एक या दो प्रश्नपत्रों तक सीमित होता है। लेकिन अब कुछ विश्वविद्यालयों में यह एक अलग शास्त्र के रूप में विकसित हुआ है। इसका सिद्धांत अनुशासनात्मक है क्योंकि यह अपने दायरे में अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, प्रबंधशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे अनेक सामाजिक विज्ञानों को समेटता है। लोक प्रशासन या सुशासन के मूल तत्व पूरी दुनिया में एक ही हैं तथा साथ ही दक्षता, मितव्ययिता और समता उसके मूलाधार हैं। शासन के स्वरूपों, आर्थिक विकास के स्तर, राजनीतिक और सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों, अतीत के प्रभावों तथा भविष्य संबंधी लक्ष्यों या स्वप्नों के आधार पर विभिन्न देशों की व्यवस्थाओं में अंतर अपरिहार्य हैं। लोकतंत्र में लोक प्रशासन का उद्देश्य ऐसे उचित साधनों द्वारा, जो पारदर्शी तथा सुस्पष्ट हों, अधिकतम जनता का अधिकतम कल्याण है। अनेक लोगों को जानकर आश्चर्य होता है कि क्या लोक प्रशासन वही है, जो प्रबंधशास्त्र है। जब तक हमारे कुछ उद्देश्य हैं और हमें उन्हें अभीष्टीकरण के द्वारा अर्थात न्यूनतम लागत से और न्यूनतम समय

टिप्पणी

में प्राप्त करना है, दोनों को सिद्धांततः एक ही सिक्के के दो पहलू माना जा सकता है। लेकिन अभिष्टतम या अधिकतम को पाने की व्याख्या के सवाल पर प्रायः सरकार और निजी प्रबंधन में अंतर होता है। सरकार का प्रमुख सरोकार सामाजिक लाभ और प्रगति से होता है, जिसे संभव है मापा न जा सके लेकिन जो विकास और जनकल्याण उत्तम समाज की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है, उसे निजी उद्यम की प्राथमिकता के बराबर नहीं कहा जा सकता। इसका जीवन भौतिक लाभ–हानि के संतुलन पर निर्भर होता है। हम लोक प्रशासन को राजनीतिक संदर्भ से अलग नहीं कर सकते।

प्रशासनिक कार्यपालिका या सिविल सेवा की सहायता से चलने वाली राजनीतिक कार्यपालिका की व्यवस्था ही लोक की इच्छा को क्रियात्मक रूप देती है। कार्यपालिका पर विधायिका की श्रेष्ठता का सर्वोत्तम दृष्टांत वह प्रकिया है, जिसमें उसके आगे सार्वजनिक व्यय के आकलन प्रस्तुत किए जाते हैं तथा उन पर मतदान कराया जाता है और उसके बाद ही सरकार का कोई भी व्यय वैध या नियमित माना जाता है। सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि सरकार और उसकी प्रशासनिक एजेंसियां संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के दायरे में ही कार्य कर सकती हैं। कानून से कोई भी व्यक्ति ऊपर नहीं होता तथा लोक प्रशासक समेत हर इंसान कानून के शासन से संचालित होता है। इन कारणों से लोक प्रशासन, निजी उद्यम और व्यापार प्रबंध से भिन्न दिखाई देता है। लोक प्रशासकों को यह सुनिश्चित करना होता कि प्रक्रियाएं न्यायपूर्ण और निष्पक्ष हों और कभी–कभी इसे गति या परिणामों की गुणवत्ता की कीमत पर सुनिश्चित किया जाता है। समान स्थिति वाले व्यक्तियों को एक समान व्यवहार या लाभ प्राप्त होने चाहिए। वास्तव में व्यापार प्रबंध की उपलब्धि के लिए 'भेदभाव' आवश्यक होता है। इसलिए इन क्षेत्रों में कार्य की नैतिकता भिन्न होती है। इस अंतर से इसका संकेत भी मिलता है कि सरकार को क्या चाहिए और निजी उद्यमों के लिए क्या छोड़ा जाना चाहिए। वहीं प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था, संस्कृत अभिलेखों के आधार पर एक जमीन तोड़ने का प्रयत्न है। अधिकतर अर्थव्यवस्था के बारे में चर्चा, समकालीन पुस्तकों के साक्ष्य के आधार पर होती रही है। वे साक्ष्य आवश्यक नहीं कि राजशासन से किसी तरह के संबंध रखते हों। प्राचीन अभिलेख, राजशासन के रीति–नीति पर अपेक्षाकृत ज्यादा प्रामाणिक रूप से ही अपने समय की स्थिति की बताते हैं। उनके आधार पर भाषा केंद्रित अध्ययनों के द्वारा कला, इतिहास और धार्मिक प्रयोजनों से किए गए दान, यज्ञ के विषय में जो प्रामाणिक जानकारी मिलती है, इस पर गहन अध्ययन हुआ है किंतु अभिलेखों के आधार पर अर्थव्यवस्था के अंतर्गत भूमि तथा उससे जुड़े पक्ष–कृषि व्यवस्था, सिंचाई, वाणिज्य–व्यापार, राजस्व प्रबंधन आदि के बारे में व्यवस्थित एकांतिक अध्ययन न के बराबर ही हुआ है।

आर्थिक जीवन किसी भी समाज की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि की नींव होती है। पुरुषार्थों में 'अर्थ' की गणना भी इस तथ्य की ओर इशारा करती है। दुर्भाग्यवश भारतीय चिंतन परंपरा को आध्यात्मिक या पारलौकिक करार देते हुए आर्थिक विमर्श के लिए अनुपादेय घोषित कर दिया जाता है। इस तरह का भ्रम आधारहीन है और तथ्यों की अनदेखी कर प्रचलित हुआ है। भारतीय समाज और इसकी सांस्कृतिक प्रथाएं तथा

परम्पराओं की जड़ें गहरी हैं और उनमें निरंतरता है। पाश्चात्य विचारों के प्रभुत्व तथा औपनिवेशिक मानसिकता के कारण ये आवरण से आच्छादित हो गयी हैं और उन्हें सुग्राह्य ढंग से उपस्थित करना आज की एक आवश्यक बौद्धिक चुनौती है। ऐसा करना मात्र आत्मचिंतन न होकर भारतीय यथार्थ की दृष्टि से पर्यालोचन और आवश्यक परिष्कार का मार्ग प्रशस्त करेगा। इस प्रकार का प्रयास ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में आरंभ हुआ है। देशज ज्ञान परंपरा का पुनराविष्कार और अनुसंधान देश को आत्मनिर्भर बनाने में भी सहायक सिद्ध हो रहा है। भारतीय ज्ञान परंपरा इस दृष्टि से भी विचारणीय है कि उसके तत्व आश्चर्यजनक रूप से मनुष्य और समग्र सृष्टि को संबोधित करते हैं। भूमंडलीकरण के वर्तमान समय में जब परस्पर निर्भरता वैश्विक जीवन का मूलमंत्र बनती जा रही है, भारतीय जीवन दृष्टि और भी प्रासंगिक हो गयी है। स्मरणीय है कि भारतीय ज्ञान परंपरा मात्र शास्त्रीय नहीं है, जैसा कि प्रायः प्रचलित किया गया है। शास्त्र के साथ वह लोक व्यवहार में भी अवस्थित है। शास्त्र और लोक दोनों एक–दूसरे के साथ संपृक्त रहे हैं।

आधुनिक विद्यार्थी के लिए प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था को समझना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। यहां समय निरंतर गतिमान है और जीवन से संबंधित तथ्य व घटनाएं वास्तव में जीवन्त परंपरा का ही भाग हैं। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय व्यवस्था के समग्र अध्ययन के स्रोत के रूप में संस्कृत अभिलेखों का विशेष महत्व है। इन अभिलेखों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री समकालीन तथ्यों तक पहुंचने के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त करती है। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था से संबंधित ऐतिहासिक अध्ययन की सुदीर्घ परंपरा है, परंतु इस दृष्टि से मुख्य आधार के रूप में अभिलेखों के व्यापक अध्ययन का अभाव रहा है। परिणामतः अनेक तथ्य अनुद्घटित रह गये हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन से संबंधित ऐतिहासिक व सैद्धांतिक दोनों ही दृष्टियों से ग्रंथों का प्रणयन सुदीर्घकाल से होता आया है। वहीं यहां ये बात ध्यान देने योग्य है कि साधारण श्रेणी के मनुष्य को केवल रोटी, कपड़ा और मकान की चिंता रहती है। मध्यम श्रेणी के मनुष्य को अतिरिक्त सुख–साधनों को जुटाने की चिंता रहती है। उत्तम श्रेणी के मनुष्य को अपनी धनी स्थिति को बनाए रखने एवं और आगे बढ़ने की चिंता रहती है। सरकार, नियम, कानून, ग्रन्थ व शास्त्र मुख्य रूप से मध्यम श्रेणी वालों के लिए होते हैं और गौण रूप से उत्तम श्रेणी वालों के लिए हैं। साधारण श्रेणी वालों को सरकार या किसी भी चीज से कोई मतलब नहीं रहता, इसीलिए इस संसार में साधारण श्रेणी का शोषण मध्यम श्रेणी और उत्तम श्रेणी वाले करते आए हैं, करते हैं और करते रहेंगे। इसी शोषण के कारण हर व्यक्ति अपने को वंचित महसूस करता है। विकास के लिए आवश्यक है कि हर व्यक्ति इस 'वंचना की भावना' को त्यागे और अपने से उत्तम श्रेणी वालों की बराबरी करने का प्रयास करे।

प्राचीन प्रशासन, मुगल प्रशासन और ब्रिटिश प्रशासन

प्राचीन प्रशासन की बात करें तो प्राचीन काल का प्रशासन पूरी तरह सुव्यवस्थित था क्योंकि राजा और किसी भी मंत्री को हटाने की शक्ति जनता में थी और वे धर्म के

विरुद्ध आचरण करने वाले मंत्री और राजा को हटा सकते थे। प्राचीन कालीन प्रशासनिक प्रणाली में समानता की कमी पाई जाती है। अलग–अलग युगों एवं कालों में प्रशासनिक व्यवस्था अलग–अलग रूपों में आगे बढ़ती गई। भारत की प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता काल के प्रशासन के मामले में हमारी जानकारी ज्यादा से ज्यादा अंदाजों और आकांक्षाओं पर आधारित है। दूसरी ओर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में खुदाई से जो अवशेष प्राप्त हुए उनकी बुनियाद पर यह जरूरी कहा जा सकता है कि यहां प्रशासनिक प्रणाली का सुव्यवस्थित स्वरूप विकसित था। पुरोहित लोग शासन करते थे, जो सुमेर और अकात के पुरोहित राजाओं के समान थे। राज्य का स्वरूप केंद्रीकृत था। ऋग्वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का रूप राजाओं पर आधारित था। राज्य और राजा को जनता का उद्धार करने वाला माना जाता था। राजा अपने अलग–अलग मंत्रियों की सलाह पर शासन चलाता था। मंत्रियों में सबसे ऊंचा स्थान पुरोहितों का था। राज दरबार में गांव के हितों और निवासियों का प्रतिनिधित्व ग्रामीण पदाधिकारियों द्वारा किया जाता था। सभा और समिति नाम की जन संस्थाएं भी मौजूद थीं। समिति संपूर्ण प्रजा की संस्था थी जो राजा का निर्वाचन करती थी। सभा समिति से छोटी संस्था थी जिसकी सहायता से राजा दैनिक राज्य–कार्य करता था। इसके माध्यम से ही वह अभियोगों को काबू करता था। इन दोनों संस्थाओं का राजा के ऊपर बड़ा नियंत्रण था। यह नियंत्रण आगे चल कर धीरे–धीरे कम हो गया। यहां लोगों को धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा तथा पदाधिकारियों को सत्ता से हटाने का अधिकार प्राप्त था। उत्तर वैदिक काल में राजा का पद पैतृक अथवा वंशानुगत हो गया। इस काल में राजा बहुत कुछ स्वच्छंद होते हुए भी निरंकुश नहीं था। इस काल में राजा के निर्वाचन का सिद्धांत समाप्त नहीं हुआ था और उसके उत्तराधिकारी पर राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों का प्रभाव और नियंत्रण रहता था। शासन के संचालन में राजा प्रतिष्ठित मंत्रियों की एक परिषद की सहायता लेता था। सभा, समिति और मंत्रि–परिषद का राजा पर प्रभाव था। राज्य की शासन प्रणाली को और भी अच्छा बनाने के लिए व लोगों को ज्यादा से ज्यादा सुविधाएं मुहैया कराने के लिए कई विभागों को बनाया गया, जिससे जनता को मिलने वाली सुविधाओं को आम जनता तक आसानी से पहुंचाया जा सके। प्राचीन प्रशासन और 21वीं सदी के प्रशासन में बहुत अंतर है, क्योंकि प्राचीन प्रशासन के कार्य करने की कार्यप्रणाली अलग थी और आज के शासन का कार्य करने का तरीका अलग है। महाजनपद मगध प्राचीन भारत के 16 महाजनपदों में से एक था। महाजनपदों के राजा विशाल किले बनवाते थे और बड़ी सेना रखते थे, इसलिए उन्हें प्रचुर संसाधनों की जरूरत होती थी। इसके लिए उन्हें कर्मचारियों की आवश्यकता होती थी। महाजनपदों के राजा लोगों द्वारा समय–समय पर लाए गए उपहारों पर निर्भर न रहकर नियमित रूप से कर वसूलने लगे थे।

आधुनिक पटना तथा गया जिले इनमें शामिल थे। इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। भगवान बुद्ध के पूर्व बृहद्रथ तथा जरासंध यहां के प्रतिष्ठित राजा थे। ईसापूर्व छठी सदी में जिन चार महत्वपूर्ण राज्यों ने प्रसिद्धि प्राप्त की उनके नाम हैं–मगध के हर्यंक, कोशल के इक्ष्वाकु, वत्स के पौरव और अवंति के प्रद्योत। हर्यंक एक ऐसा वंश था,

जिसकी स्थापना बुहद्रथों को परास्त करवाने के लिए बिंबिसार द्वारा मगध में की गई थी। प्रद्योतों का नाम उस वंश के संस्थापक की वजह से ही था। संयोग से महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध राज्य–कुरु–पांचाल, काशी और मत्स्य इस काल में भी थे, पर उनकी गिनती अब छोटी ताकतों में होती थी। ईसापूर्व छठी सदी में अवंति के राजा प्रद्योत की कौशाम्बी के राजा तथा प्रद्योत के दामाद उदयन के साथ लड़ाई हुई थी। उससे पहले उदयन ने मगध की राजधानी राजगृह पर हमला किया था। कोसल के राजा प्रसेनजित ने काशी को अपने अधीन कर लिया और बाद में उसके पुत्र ने कपिलवस्तु के शाक्य राज्य को जीत लिया। मगध के राजा बिंबिसार ने अंग को अपने में मिला लिया तथा उसके पुत्र अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों को जीत लिया। ईसापूर्व पांचवीं सदी में पौरव और प्रद्योत सत्तालोलुप नहीं रहे और हर्यंकों तथा इक्ष्वांकुओं ने राजनीतिक मंच पर मोर्चा संभाल लिया। प्रसेनजित तथा अजातशत्रु के बीच संघर्ष चलता रहा। इसका कोई नतीजा नहीं निकला और मगध के हर्यंकों को जीत मिली। इसके बाद मगध उत्तर भारत का सबसे ताकतवर राज्य बन गया। लगभग दो सौ सालों के अंदर मगध सबसे महत्वपूर्ण राज्य बन गया। गंगा और सोन जैसी नदियां मगध से होकर बहतीं थीं, ये नदियां– यातायात, जल वितरण तथा जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए महत्वपूर्ण थीं। मगध का एक हिस्सा जंगलों से भरा हुआ था। इन जंगलों में रहने वाले हाथियों को पकड़कर और उन्हें प्रशिक्षित कर सेना के काम में लगाया जाता था। इतना ही नहीं जंगलों से घर, गाड़ियां तथा रथ बनाने के लिए लकड़ी मिलती थी। इसके अलावा क्षेत्र में लौह अयस्क की खदाने हैं। लौह अयस्क मजबूत औजार और हथियार बनाने के लिए यह बहुत उपयोगी होता है। मगध में दो बहुत ही शक्तिशाली शासक बिम्बिसार और अजातसत्तु (अजातशत्रु) हुए। अन्य जनपदों को जीतने के लिए ये हर संभव साधन अपनाते थे। महाद्मनंद एक और महत्वपूर्ण शासक थे। उन्होंने अपने नियंत्रण का क्षेत्र इस उपमहाद्वीप के उत्तर–पश्चिमी भाग तक फैला लिया था। बिहार में राजगृह (राजगीर) कई सालों का तक मगध की राजधानी बनी रही। बाद में पाटलिपुत्र (पटना) को राजधानी बनाया गया। 2300 साल से भी पहले मेसिडोनिया का राजा सिकंदर विश्व–विजय करना चाहता था। पूरी तरह सफल न होने पर भी वह मिस्र और पश्चिमी एशिया के कुछ राज्यों को जीतता हुआ भारतीय उपमहाद्वीप में व्यास नदी के किनारे तक पहुंच गया। जब उसने मगध की ओर रुख करना चाहा तो उसके सिपाहियों ने इनकार कर दिया। वे इस बात से भयभीत थे कि भारत के शासकों के पास पैदल, रथ और हाथियों की बहुत बड़ी सेना थी। मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। उसके नजदीक वज्जि राज्य था, जिसकी राजधानी वैशाली (बिहार) थी। यहां अलग किस्म की शासन व्यवस्था थी, जिसे गण या संघ कहते थे। गण या संघ में कई शासक होते थे, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति राजा कहलाता था। ये सभी राजा विभिन्न अनुष्ठानों को एकसाथ संपन्न करते थे। सभाओं में बैठकर ये बातचीत, बहस और वाद–विवाद के जरिये तय करते थे कि क्या करना है और कैसे करना है। दुश्मनों के आक्रमण से निपटने के लिए वे मिलकर रणनीतियां बनाते थे। स्त्रियां इन सभाओं में हिस्सा नहीं ले सकती थीं।

टिप्पणी

475 ईसा पूर्व में अजातशत्रु की मृत्यु के बाद उसके पुत्र उदयन ने सत्ता संभाली और उसी ने मगध की राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र (पटना) स्थानांतरित की। हालांकि लिच्छवियों से लड़ते समय अजातशत्रु ने ही पाटलिपुत्र में एक दुर्ग बनवाया था, पर इसका उपयोग राजधानी के रूप में उदयन ने ही किया। उदयन तथा उसके उत्तराधिकारी प्रशासन तथा राजकाज में निकम्मे रहे तथा इसके बाद शिशुनाग वंश का उदय हुआ। शिशुनाग के पुत्र कालाशोक के बाद महापद्म नंद नाम का व्यक्ति सत्ता पर स्थापित हुआ। उसने मगध की श्रेष्ठता को और ऊंचा बना दिया।

ईसा पूर्व 326 में सिकंदर सिंधु नदी को पार करके तक्षशिला की ओर बढ़ा व भारत पर आक्रमण किया। तब उसने झेलम व चिनाब नदियों के मध्य अवस्थित राज्य के राजा पौरस को चुनौती दी। यद्यपि भारतीयों ने हाथियों, जिन्हें मेंसीडोनिया वासियों ने पहले कभी नहीं देखा था, को साथ लेकर युद्ध किया, परन्तु भयंकर युद्ध के बाद भारतीय हार गए। सिकंदर ने पौरस को गिरफ्तार कर लिया तथा जैसे उसने अन्य स्थानीय राजाओं को परास्त किया था, उन्हीं की तरह उसे अपने क्षेत्र पर राज्य करने की अनुमति दे दी। दक्षिण में हैडासयस व सिंधु नदियों की ओर अपनी यात्रा के दौरान सिकंदर ने दार्शनिकों, ब्राह्मणों, जो कि अपनी बुद्धिमानी के लिए प्रसिद्ध थे, की तलाश की और उनसे दार्शनिक मुद्दों पर बहस की। वह निर्भय विजेता के रूप में सदियों तक भारत में किंवदंती बना रहा। उग्र भारतीय लड़ाके कबीलों में से एक मालियों के गांव में सिकंदर की सेना एकत्रित हुई। इस हमले में सिकंदर कई बार जख्मी हुआ। जब एक तीर उसके सीने के कवच को पार करते हुए उसकी पसलियों में जा घुसा, तब वह बहुत गंभीर रूप से जख्मी हुआ। मेसेडोनियन अधिकारियों ने उसे बड़ी मुश्किल से बचाकर गांव से निकाला। सिकंदर व उसकी सेना जुलाई 325 ईसा पूर्व में सिंधु नदी के मुहाने पर पहुंची तथा घर की ओर जाने के लिए पश्चिम की ओर मुड़ी।

1.2.1 मौर्य काल

कुछ लोगों को भ्रम है कि आजादी के बाद ही इस देश में प्रजातंत्र स्थापित हुआ, इससे पूर्व यहां राजतंत्र ही था। यह सोच बिलकुल गलत है। प्राचीन काल से ही भारत में सुदृढ़ लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था विद्यमान थी। इसके साक्ष्य हमें प्राचीन साहित्य, सिक्कों और अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। विदेशी यात्रियों एवं विद्वानों के वर्णन में भी इस बात के प्रमाण हैं। मौर्यों के शासनकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की। चक्रवर्ती सम्राट का आदर्श चरितार्थ हुआ। कौटिल्य ने चक्रवर्ती क्षेत्र को साकार रूप दिया। उसके अनुसार चक्रवर्ती क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय से हिन्द महासागर तक सारा भारतवर्ष है। मौर्य युग में राजतंत्र के सिद्धांत की विजय हुई। इस युग में गण–राज्यों का ह्रास होने लगा और शासन सत्ता अत्यधिक केंद्रित हो गई। साम्राज्य की सीमा पर तथा साम्राज्य के अंदर कुछ अर्धकृस्वतंत्र राज्य थे, जैसे–कंबोज, भोज, पैत्तनिक तथा आटविक राज्य। साम्राज्य को प्रशासन के लिए चार और प्रांतों में बांटा गया था। पूर्वी भाग की राजधानी तोसली थी, तो दक्षिणी भाग की सुवर्णगिरि। इसी प्रकार उत्तरी तथा पश्चिमी भागों की राजधानियां क्रमशः तक्षशिला तथा उज्जैन

(उज्जयिनी) थीं। इनके अतिरिक्त समापा, इशिला तथा कौशांबी भी महत्वपूर्ण नगर थे। राज्य के प्रांतपाल कुमार होते थे, जो स्थानीय प्रांतों के शासक थे। कुमार की मदद के लिए हर प्रांत में एक मंत्रीपरिषद तथा महामात्य होते थे। प्रांत आगे जिलों में बंटे होते थे। प्रत्येक जिला गांव के समूहों में बंटा होता था। प्रादेशिक, जिला प्रशासन का प्रधान होता था। रज्जुक जमीन को मापने का काम करता था। गांव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी, जिसका प्रधान ग्रामिक कहलाता था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में नगरों के प्रशासन के बारे में एक पूरा अध्याय लिखा है। विद्वानों का कहना है कि उस समय पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों का प्रशासन इस सिद्धांत के अनुरूप ही रहा होगा। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के प्रशासन का वर्णन किया है। उसके अनुसार, पाटलिपुत्र नगर का शासन एक नगर परिषद द्वारा किया जाता था, जिसमें 30 सदस्य थे। ये सदस्य पांच–पांच सदस्यों वाली छः समितियों में बंटे होते थे। प्रत्येक समिति का कुछ निश्चित काम होता था। पहली समिति का काम औद्योगिक तथा कलात्मक उत्पादन से संबंधित था। इसका काम वेतन निर्धारित करना तथा मिलावट रोकना भी था। दूसरी समिति पाटलिपुत्र में बाहर से आने वाले लोगों खासकर विदेशियों के मामले देखती थी। तीसरी समिति का ताल्लुक जन्म तथा मृत्यु के पंजीकरण से था। चौथी समिति व्यापार तथा वाणिज्य का विनिमयन करती थी। इसका काम निर्मित माल की बिक्री तथा पण्य पर नजर रखना था। पांचवीं माल के विनिर्माण पर नजर रखती थी तो छठी का काम कर वसूलना था। नगर परिषद के द्वारा जनकल्याण के कार्य करने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारी भी नियुक्त किये जाते थे, जैसे–सड़कों, बाजारों, चिकित्सालयों, देवालयों, शिक्षा–संस्थाओं , जलापूर्ति, बंदरगाहों की मरम्मत तथा रखरखाव के काम। नगर का प्रमुख अधिकारी नागरक कहलाता था। कौटिल्य ने नगर प्रशासन में कई विभागों का भी उल्लेख किया है, जो नगर के कई कार्यकलापों को नियमित करते थे, जैसे–लेखा विभाग, राजस्व विभाग, खनन तथा खनिज विभाग, रथ विभाग, सीमा शुल्क और कर विभाग। मौर्य साम्राज्य के समय एक और बात जो भारत में अभूतपूर्व थी, वह थी मौर्यो का गुप्तचर जाल। उस समय पूरे राज्य में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया था, जो राज्य पर किसी बाहरी आक्रमण या आंतरिक विद्रोह की खबर प्रशासन तथा सेना तक पहुंचाते थे। भारत में सर्वप्रथम मौर्य वंश के शासनकाल में ही राष्ट्रीय राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी। मौर्य प्रशासन में सत्ता का सुदृढ़ केंद्रीयकरण था, परंतु राजा निरंकुश नहीं होता था। मौर्य काल में गणतंत्र का ह्रास हुआ और राजतंत्रात्मक व्यवस्था सुदृढ़ हुई। कौटिल्य ने राज्य सप्तांक सिद्धांत निर्दिष्ट किया था, जिनके आधार पर मौर्य प्रशासन और उसकी गृह तथा विदेश नीति संचालित होती थी–राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र।

मौर्य काल में प्रजा की ताकत में अत्यधिक बढ़ोतरी हुई। परंपरागत राजशास्त्र सिद्धांत के अनुसार राजा धर्म की हिफाजत करने वाला है, धर्म का प्रतिपादक नहीं। राजशासन की वैधता इस बात पर टिकी थी कि वह धर्म के अनुकूल हो। किंतु कौटिल्य ने इस दिशा में एक नया प्रतिमान प्रस्तुत किया। कौटिल्य के

अनुसार राजशासन धर्म, व्यवहार और चरित्र (लोकाचार) से ऊपर था। इस प्रकार राजाज्ञा को प्रमुखता दी गई। इस बढ़ती हुई प्रभुसत्ता की वजह से ही अशोक के समय राजतंत्र ने पैतृक निरंकुशता का रूप धारण किया। अशोक सारी प्रजा को समान मानता था। उनके सुख–दुख के लिए स्वयं को उत्तरदायी समझता था और प्रजा को सही काम करने का उपदेश देता था। चूंकि शासन का केंद्र बिंदु राजा था, अतः इतने बड़े साम्राज्य के शासन संचालन के लिए यह आवश्यक था कि राजा उत्साही, स्फूर्तिवान और प्रजा के लिए कार्यों के लिए सदा तैयार हो। चंद्रगुप्त एवं अशोक दोनों मौर्य सम्राटों में ये गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। चंद्रगुप्त की कार्य तत्परता के संबंध में मेगस्थनीज ने लिखा है कि राजा दरबार में बिना व्यवधान के कार्यरत रहता था। कौटिल्य ने कहा है कि जब राजा दरबार में ही बैठा हो तो, उसे प्रजा से बाहर प्रतीक्षा नहीं करवानी चाहिए क्योंकि जब राजा प्रजा के लिए दुर्लभ हो जाता है और काम अपने मातहत अधिकारियों के भरोसे छोड़ देता है, तो वह प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा करता है और राजा के शत्रुओं के षड्यंत्र का शिकार हो जाने की आशंका पैदा हो जाती है।

टिप्पणी

अपने छठे शिलालेख में अशोक ने यह विज्ञप्ति जारी की थी कि वह प्रजा के कार्य के लिए प्रतिक्षण और प्रत्येक स्थान पर मिल सकता है और प्रजा की भलाई के लिए कार्य करने में उसे बड़ा संतोष मिलता है। राजा ही राज्य की नीति निर्धारित करता था और अपने अधिकारियों को राजाज्ञाओं द्वारा समय–समय पर मार्ग दर्शन किया करता था। अशोक के शिला तथा स्तंभ लेखों से यह साफ है कि प्रजा के नाम उसकी राजाज्ञाएं जारी होती थीं। चंद्रगुप्त के समय में गुप्तचरों के माध्यम से दूरस्थ प्रदेशों में शासन कर रहे अधिकारियों पर सम्राट का पूरा नियंत्रण रहता था। अशोक के समय पर्यटक महामात्रों, राजुकों, प्रादेशिकों, पुरुषों तथा अन्य अधिकारियों की सहायता लेते थे। संचारकृत व्यवस्था के संचालन के लिए सड़कें थीं, सामरिक महत्व की जगहों पर सेना की टुकड़ियां तैनात रहा करती थीं। अधिकारियों की नियुक्ति, देश की आंतरिक रक्षा और शांति, युद्ध संचालन, सेना का नियंत्रण आदि सभी राजा के अधीन था। कौटिल्य का दृढ़ मत था कि राजस्व (प्रभुता) बिना सहायता से संभव नहीं है, अतः राजा को सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उनसे मंत्रणा लेनी चाहिए। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी मंत्री कहलाते थे। इनकी संख्या तीन या चार होती थी। इनका चयन अमात्य वर्ग से होता था (अमात्य शासनतंत्र के उच्च अधिकारियों का वर्ग था)। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भलीभांति जांच के बाद किया जाता था। इस क्रिया को उपधा परीक्षण कहा गया है। ये मंत्री एक प्रकार से अंतरंग मंत्रिमंडल के सदस्य थे। राज्य के सभी कार्यों पर इस अंतरंग मंत्रिमंडल में विचार–विमर्श होता था और उनके निर्णय के पश्चात ही कार्यारंभ होता था। मंत्रिमंडल के अतिरिक्त एक और मंत्रिपरिषद भी होती थी। अशोक के शिलालेखों में परिषद का उल्लेख है। राजा बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य करता था। जहां तक मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद के अधिकार का सवाल है, उनका मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना था। वे राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखते थे, किंतु मंत्रियों का प्रभाव बहुत कुछ उनकी योग्यता तथा कर्मठता पर निर्भर करता था। अशोक के छठे शिलालेख से अनुमान लगता है कि

परिषद राज्य की नीतियों अथवा राजाज्ञाओं पर विचार–विमर्श करती थी और यदि आवश्यक समझती थी तो उनमें संशोधन का सुझाव देती थी। यह राजा के हित में था कि वह मंत्री या परिषद के सदस्यों के परामर्श से लाभ उठाए किंतु किसी नीति या कार्य के विषय में अंतिम निर्णय राजा के ही हाथ में था।

शासन कार्य का भार मुख्यतः एक विशाल वर्ग पर था, जो साम्राज्य के विभिन्न भागों से शासन का संचालन करते थे। अर्थशास्त्र में सबसे उंचे स्तर के कर्मचारियों को तीर्थ कहा गया है। ऐसे अठारह तीर्थों का उल्लेख है, इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी थे–मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, समाहर्ता, संनिधाता तथा मंत्रिपरिषदाध्यक्ष। तीर्थ शब्द एक–दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अधिकतर स्थलों पर इन्हें महामात्र की संज्ञा दी गई है। सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ या महामात्र मंत्री और पुरोहित थे। राजा इन्हीं के परामर्श से अन्य मंत्रियों तथा अमात्यों की नियुक्ति करता था। राज्य के सभी अधिकरणों पर मंत्री और पुरोहित का नियंत्रण रहता था। सेनापति सेना का प्रधान होता था। ज्येष्ठ पुत्र का युवराज पद पर विधिवत अभिषेक होता था। शासन कार्य में शिक्षा देने के लिए उसे किसी जिम्मेदार पद पर नियुक्त किया जाता था। बिंदुसार के काल में अशोक मालवा प्रदेश का प्रशासक था और उसे विद्रोहों को दबाने या विजयाभियान के लिए भेजा जाता था। मौर्य साम्राज्य की अवधि (ईसा पूर्व 322 से ईसा पूर्व 185 तक) ने एक युग का सूत्रपात किया। बताते हैं कि यह वह अवधि थी, जब कालक्रम स्पष्ट हुआ। यह वह समय था जब, राजनीति, कला, और वाणिज्य ने भारत को एक स्वर्णिम ऊंचाई पर पहुंचा दिया। यह खंडों में विभाजित राज्यों के एकीकरण का समय था। इससे भी आगे इस अवधि के दौरान बाहरी दुनिया के साथ प्रभावशाली ढंग से भारत के संपक्र स्थापित हुए। सिकंदर की मृत्यु के बाद उत्पन्न भ्रम की स्थिति ने राज्यों को यूनानियों की दासता से मुक्त कराने और इस प्रकार पंजाब व सिंध प्रांतों पर कब्जा करने का चन्द्रगुप्त को अवसर प्रदान किया। उसने बाद में कौटिल्य की सहायता से मगध में नंद के राज्य को समाप्त कर दिया और ईसा पूर्व 322 में प्रतापी मौर्य राज्य की स्थापना की। चंद्रगुप्त, जिसने 324 से 301 ईसा पूर्व तक शासन किया, ने मुक्तिदाता व भारत के पहले सम्राट की उपाधि प्राप्त की।

अशोक का राज्य

बूढ़ा हो जाने पर चंद्रगुप्त की रुचि धर्म की ओर हुई तथा ईसा पूर्व 301 में उसने अपनी गद्दी अपने पुत्र बिंदुसार के लिए छोड़ दी। अपने 28 साल के राज में बिंदुसार ने दक्षिण के ऊचांई वाले क्षेत्रों पर जीत हासिल की तथा 273 ईसा पूर्व में अपनी राजगद्दी अपने पुत्र अशोक को सौंप दी। अशोक न केवल मौर्य साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध सम्राट हुआ, बल्कि उसे भारत व विश्व के महानतम सम्राटों में से एक माना जाता है। उसका साम्राज्य हिन्दूकुश से बंगाल तक के पूर्वी भू–भाग में फैला हुआ था व अफगानिस्तान, बलूचिस्तान व पूरे भारत में फैला हुआ था, केवल सुदूर दक्षिण का कुछ क्षेत्र छूटा था। नेपाल की घाटी व कश्मीर भी उसके साम्राज्य में शामिल थे। अशोक के साम्राज्य की सबसे दिलचस्प घटना थी, कलिंग विजय (आधुनिक उड़ीसा), जो उसके जीवन में

विशेष परिवर्तन लाने वाली साबित हुई। कलिंग युद्ध में भयानक नरसंहार व विनाश हुआ। युद्ध भूमि के कष्टों व अत्याचारों ने अशोक के हृदय को विदीर्ण कर दिया। उसने भविष्य में और कोई लड़ाई न करने का वचन लिया। उसने सांसारिक विजय के अत्याचारों तथा सदाचार व आध्यात्मिकता की सफलता को समझा। वह बुद्ध के उपदेशों के प्रति आकर्षित हुआ तथा उसने अपने जीवन को, मनुष्य के दिल को कर्तव्यपरायणता व धर्मपरायणता से जीतने में लगा दिया।

टिप्पणी

अशोक का ज्येष्ठ भाई सुसीम उस समय तक्षशिला का प्रांतपाल था। तक्षशिला में भारतीय—यूनानी मूल के बहुत लोग रहते थे। इससे वह क्षेत्र विद्रोह के लिए उपयुक्त था। सुसीम के अकुशल प्रशासन के कारण भी उस क्षेत्र में विद्रोह पनप उठा। राजा बिंदुसार ने सुसीम के कहने पर राजकुमार अशोक को विद्रोह के दमन के लिए वहां भेजा। अशोक के आने की खबर सुनकर ही विद्रोहियों ने उपद्रव खत्म कर दिया और विद्रोह बिना किसी युद्ध के खत्म हो गया। हालांकि यहां पर एक बार फिर अशोक के शासनकाल में बगावत हुई थी पर उसे बलपूर्वक कुचल दिया गया।

इस साम्राज्य की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियां कला के गांधार घराने का विकास व बुद्धमत का आगे एशिया के सुदूर क्षेत्रों में विस्तार करना रहीं। प्रशासन एवं उसकी संस्थाओं का विकास उपयोगितावादी सोच के अंतर्गत परिस्थितिगत होता है। मौर्य केंद्रीकृत प्रशासन का उत्कर्ष रूप जनपद काल से उन्नत होने लगा था। मगध राज्य के उत्कर्ष ने आवश्यकतानुसार विभिन्न विभागों के सृजन को उत्कर्ष दिया। मौर्य प्रशासन की मूल प्रकृति केंद्रीकृत थी किंतु उसमें विकेंद्रीकरण की भी प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। मौर्य शासकों में जनकल्याण के लिए भी रुझान प्राप्त होता है। मौर्य शासन सप्तांग विचारधारा (राजा, जनपद, अमात्य, दुर्ग, कोष, सेना व मित्र) पर आधारित था, इनमें राजा व जनपद को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अर्थशास्त्र में वर्णित है कि राजाज्ञा—धर्म, लोकचरित्र एवं व्यवहार से ऊपर है। राजा को तत्कालीन आवश्यकता के अंतर्गत धर्म की व्याख्या करने का भी अधिकार प्राप्त था। अर्थशास्त्र में राजा के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह ऊंचे कुल का हो, उसमें दैवीय बुद्धि व शक्ति हो, वह वृद्धजनों की बातें सुनने वाला हो, धार्मिक व सत्यभाषी हो और काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं हर्ष से परे होने की सामर्थ्य रखता हो। अर्थशास्त्र में वर्णित राजा का चरित्र केंद्रीकृत प्रशासन में योग्यता के प्रतिमान का उद्घोष है।

अशोक ने राजतांत्रिक चिंतन में पैतृक निरंकुशवाद को तरजीह दी। मौर्य प्रशासन की प्रकृति में विकेंद्रीकरण के तत्व भी प्राप्त होते हैं। इसका आशय राज्य में विद्यमान कुछ विशेष जातियों को प्रशासनिक स्वायत्तता देना है। अशोक के अभिलेखों में स्वायत्तता प्राप्त क्षेत्रों का वर्णन किया गया है , जिनमें भोज, पैतनिक, आटविक, नाभक, नाभपत्ति, यवन व अन्य जातियां सम्मिलित हैं। मौर्य केंद्रीकृत शासन व्यवस्था में अधीनस्थ सत्ताएं स्वीकार्य नही थीं। देवानामप्रियम उपाधि इसका उदाहरण है। राजकीय कार्य, अधिकारियों एवं कर्मचारियों की वृहद् श्रृंखला के द्वारा संचालित होते थे। राजा के द्वारा मुख्यमंत्री व पुरोहित का चुनाव किया जाता था। राजा इनसे भिन्न विषयों पर सलाह लिया करता था। मौर्य राज्य में मंत्रिपरिषद की संरचना विद्यमान थी। उच्च पदस्थ मंत्रियों को तीर्थ कहा जाता था, जिनकी संख्या 18 थी। इनके अतिरिक्त

26 अध्यक्षों का भी उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है, इनका संबंध मुख्यतः आर्थिक व सैन्य गतिविधियों से था। भ्रष्टाचार को रोकने के लिए मंत्रिपरिषद का सामूहिक उत्तरदायित्व निर्धारित किया गया था। केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था में प्रांतीय प्रशासन, राजवंश के सदस्यों के द्वारा संचालित करवाया जाता था परंतु, प्रांतपति की महत्वाकांक्षी मनःस्थिति पर नियंत्रण के उपक्रम भी किये गए थे। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि उपराजा को अधिकार देना खतरे से खाली नहीं है क्योंकि वह विद्रोही हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में प्रांतीय मंत्रिपरिषद को अधिकार संपन्न करके उसे केंद्र के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। इससे उपराजा की गतिविधियां नियंत्रित हुईं और प्रशासन का संस्थागत चरित्र व्यवहारिक हुआ। प्रशासनिक एवं आर्थिक आवश्यकता ने नगर की विभिन्न प्राथमिक संस्थाओं को संगठित एवं मूर्त किया। मेगस्थनीज ने पाटिलपुत्र के नगर प्रशासन का विस्तृत उल्लेख किया है, जिसके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है की राज्य में सफाई, विदेशियों की देख–रेख, उत्पादन वितरण प्रक्रिया, जीवन–मृत्यु पंजीकरण एवं शहरी समस्याओं के निदान की गंभीर समस्या बनी रहती थी। केंद्रीकृत प्रशासन में राज्य के द्वारा किये जाने वाले ये प्रयत्न समीचीन लगते हैं। जिले का प्रशासन विषयपति, प्रादेशिक, राजुक व युक्त के द्वारा संचालित होता था। जिले के प्रशासन में भी सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत अपनाया गया था। प्रादेशिक के द्वारा राजुक के कार्यों की जांच की जाती थी और इसके द्वारा भेजी गयी सूचनाएं युक्त के अभिलेखों से मिलाई जाती थीं। विषय के स्तर पर न्यायिक प्रक्रिया का संचालन भी प्रादेशिक एवं रजुक के द्वारा ही किया जाता था। न्यायिक प्रक्रिया–धर्म, स्थानीय एवं कंटक शोधन न्यायालयों में विभाजित थी।

अशोक के अभिलेखों में प्रजा के प्रति कल्याणकारी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की गई है। महत्वपूर्ण यह है कि एक शासक जिसके पास निरंकुश कानूनी विधान, विशाल सेना एवं अपरिमित संसाधन हो वह अपने शिलालेखों में स्वयं को नैतिक मूल्यों के विस्तारक के रूप में प्रस्तुत क्यों करता है? योग्य व कुशल शासकों की नियुक्तियां सदैव साम्राज्य की रक्षा के लिए की जाती हैं। बौद्ध धर्म की शिक्षा के केंद्र मगध में जनमानस में शोषण के विरुद्ध व्यापक चेतना थी। नन्द वंश का उन्मूलन अत्यधिक करारोपण के कारण होना इसका उदाहरण है। अशोक ने वायसराय रहते हुए विभिन्न विद्रोहों का दमन किया था। व्हेनसांग के अनुसार, अशोक ने उज्जैनी में नरककुंड की स्थापना की थी, जहां वह राज्य विरोधी कार्य में संलग्न व्यक्तियों को दंडित करता था किंतु, अशोक यह भी जानता था कि व्यक्तियों का दमन करके प्रवृत्तियों का उन्मूलन संभव नहीं है। ऐसे में धम्म उपदेशों के माध्यम से जनमानस की नैतिकवान बनाकर उन्हें परिवार, समाज एवं देश के प्रति कर्तव्य बोध से युक्त किया। जनमानस में राज्य के प्रति सम्मान बढाने के लिए चिकित्सालय खुलवाये गए, अहिंसा का व्यापक प्रचार किया गया और हिंसा के उद्भव के कारणों को नष्ट किया गया। कहने का आशय यह है कि जनमानस कि चेतना के कारण मौर्य शासकों ने परोपकारी नीति का भी निर्माण किया किंतु यह सामंती युग की परोपकारिता थी, इसे वर्तमान प्रजातांत्रिक व्यवस्था से नहीं जोड़ा जाना चाहिए।

प्राचीन प्रशासन की कार्यप्रणाली

टिप्पणी

लगभग 50 सालों से हम अपने शासकों का चुनाव मतदान द्वारा करते आ रहे हैं। लेकिन पहले लोग शासक कैसे बनते थे? कुछ राजा लोगों द्वारा चुने जाते थे। लेकिन करीब 3000 साल पहले राजा बनने की इस प्रक्रिया में कुछ बदलाव हुआ। कुछ लोग बड़े–बड़े यज्ञों को आयोजित करके राजा के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। अश्वमेध यज्ञ एक ऐसा ही आयोजन था। इसमें एक घोड़े को राजा के लोगों की देख–रेख में आजाद घूमने के लिए छोड़ दिया जाता था। इस घोड़े को किसी दूसरे राजा ने रोका तो उसे वहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजा से लड़ाई करनी पड़ती थी। अगर उन्होंने घोड़े को जाने दिया तो इसका अर्थ यह होता था कि अश्वमेध यज्ञ करने वाला राजा उनसे ज्यादा ताकतवर था। इसके बाद उन राजाओं को यज्ञ में आमंत्रित किया जाता था। यह यज्ञ विशिष्ट पुरोहितों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। प्राचीन गणतांत्रिक व्यवस्था में आजकल की तरह ही शासक एवं शासन के अन्य पदाधिकारियों के लिए निर्वाचन प्रणाली थी। योग्यता एवं गुणों के आधार पर इनके चुनाव की प्रक्रिया आज के दौर से थोड़ी भिन्न जरूर थी। सभी नागरिकों को मत देने का अधिकार नहीं था। ऋग्वेद तथा कौटिल्य साहित्य ने चुनाव पद्धति की पुष्टि की है परंतु उन्होंने वोट देने के अधिकार पर रोशनी नहीं डाली है।

वर्तमान संसद की तरह ही प्राचीन समय में परिषदों का निर्माण किया गया था, जो वर्तमान संसदीय प्रणाली से मिलता–जुलता था। गणराज्य या संघ की नीतियों का संचालन इन्हीं परिषदों द्वारा होता था। इसके सदस्यों की संख्या विशाल थी। उस समय के सबसे प्रसिद्ध गणराज्य लिच्छवी की केंद्रीय परिषद में 7707 सदस्य थे। वहीं यौधेय की केंद्रीय परिषद के 5000 सदस्य थे। वर्तमान संसदीय सत्र की तरह ही परिषदों के अधिवेशन नियमित रूप से होते थे।

किसी भी मुद्दे पर निर्णय होने से पूर्व सदस्यों के बीच इस पर खुलकर चर्चा होती थी। सही–गलत के आकलन के लिए पक्ष–विपक्ष पर जोरदार बहस होती थी। उसके बाद ही सर्वसम्मति से निर्णय का प्रतिपादन किया जाता था। सबकी सहमति न होने पर बहुमत प्रक्रिया अपनायी जाती थी। कई जगह तो सर्वसम्मति होना अनिवार्य होता था। बहुमत से लिये गये निर्णय को 'भूयिसिक्किम' कहा जाता था। इसके लिए मतदान का सहारा लेना पड़ता था। तत्कालीन समय में वोट को 'छन्द' कहा जाता था। निर्वाचन आयुक्त की भांति इस चुनाव की देख–रेख करने वाला भी एक अधिकारी होता था, जिसे शलाकाग्राहक कहते थे। मत देने के लिए तीन प्रणालियां थीं।

प्रशासन के कई विभाग थे। इतना ही नहीं वर्तमान काल की तरह ही पंचायती व्यवस्था भी हमें अपने देश में देखने को मिलती है। शासन की मूल इकाई गांवों को ही माना गया था। प्रत्येक गांव में एक ग्रामसभा होती थी, जो गांव की प्रशासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था से लेकर गांव के प्रत्येक कल्याणकारी काम को अंजाम देती थी। इनका कार्य गांव की प्रत्येक समस्या का निपटारा करना, आर्थिक उन्नति, रक्षा कार्य, समुन्नत शासन व्यवस्था की स्थापना कर एक आदर्श गांव तैयार करना था। ग्रामसभा के प्रमुख को ग्रामणी कहा जाता था।

सारा राज्य छोटी–छोटी शासन इकाइयों में बंटा था और प्रत्येक इकाई अपने में एक छोटे राज्य सी थी और स्थानिक शासन के निमित्त अपने में पूर्ण थी। समस्त राज्य की शासन सत्ता एक सभा के अधीन थी, जिसके सदस्य उन शासन–इकाइयों के प्रधान होते थे।

एक निश्चित काल के लिए हर सभा का एक मुख्य अथवा अध्यक्ष निर्वाचित होता था। यदि सभा बड़ी होती तो उसके सदस्यों में से कुछ लोगों को मिलाकर एक कार्यकारी समिति निर्वाचित होती थी। यह शासन व्यवस्था एथेन्स में क्लाइस्थेनीज के संविधान से मिलती–जुलती थी। सभा में युवा एवं वृद्ध हर उम्र के लोग होते थे। उनकी बैठक एक भवन में होती थी, जो सभागार कहलाता था।

एक प्राचीन उल्लेख के अनुसार, अपराधी पहले विचारार्थ विनिच्चयमहामात्र नामक अधिकारी के पास उपस्थित किया जाता था। निरपराध होने पर वह अभियुक्त को मुक्त कर सकता था पर दंड नहीं दे सकता था। वह उसे अपने से ऊंचे न्यायालय भेज देता था। केवल राजा को दंड देने का अधिकार था। धर्मशास्त्र और पूर्व की नजीरों के आधार पर ही दंड होता था।

देश में कई गणराज्य विद्यमान थे। मौर्य साम्राज्य का उदय इन गणराज्यों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। परंतु मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात कुछ नये लोकतांत्रिक राज्यों ने जन्म लिया, यथा–यौधेय, मानव और आर्जुनीयन इत्यादि।

राजस्व

राजस्व एकत्र करना, आय–व्यय का ब्योरा रखना तथा वार्षिक बजट तैयार करना, समाहर्ता के कार्य थे। देहाती क्षेत्र की शासन व्यवस्था भी उसी के अधीन थी। शासन की दृष्टि से देश को छोटी–छोटी इकाइयों में विभक्त किया जाता था और अधिकारियों की सहायता से शासन कार्य चलाया जाता था। इन्हीं अधिकारियों की सहायता से वह जनगणना, गांवों की कृषि योग्य भूमि, लोगों के व्यवसाय, आय–व्यय तथा प्रत्येक परिवार से मिलने वाले कर की मात्रा की जानकारी रखता था। यह जानकारी वार्षिक आय–व्यय का बजट तैयार करने के लिए आवश्यक थी। गुप्तचरों के द्वारा वह देशी व विदेशी लोगों की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखता था, जो कि सुरक्षा के लिए काफी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी थी। प्रादेशिकों, स्थानिकों और गोप की सहायता से वह चोरी, डकैती करने वाले अपराधियों को दंडित करता था। इस प्रकार समाहर्ता एक प्रकार से आधुनिक वित्त मंत्री और गृहमंत्री के कर्तव्यों को पूरा करता था।

सन्निधातृ एक प्रकार से कोषाध्यक्ष था। उसका काम था साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में कोषागृह और कोष्ठागार बनवाना और नकद तथा अन्न के रूप में प्राप्त होने वाले राजस्व की रक्षा करना। अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रचार अध्याय में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है। ये विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और मंत्रियों के निरीक्षण में काम करते थे। कतिपय अध्यक्ष इस प्रकार थे–कोषाध्यक्ष, सीताध्यक्ष, पंयाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, बंधनागाराध्यक्ष आदि। इन अध्यक्षों के कार्य–विस्तार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि

राज्य देश के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन और कार्यविधि पर पूरा नियंत्रण रखता था। शासन के कई विभागों के अध्यक्ष, मंडल की सहायता से कार्य करते थे, जिनकी ओर मेगस्थनीज का ध्यान आकृष्ट हुआ। केंद्रीय महामात्य (महामात्र) तथा अध्यक्षों के अधीन अनेक निम्न स्तर के कर्मचारी होते थे, जिन्हें युक्त और उपयुक्त की संज्ञा दी गई है। अशोक के शिलालेखों में युक्त का उल्लेख है। इन कर्मचारियों के माध्यम से केंद्र और स्थानीय शासन के बीच संपक्र बना रहता था।

केंद्रीय शासन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग सेना विभाग था। यूनानी लेखकों के अनुसार चंद्रगुप्त के सेना विभाग में 60,000 पैदल, 50,000 अश्व, 9,000 हाथी व 400 रथ की एक स्थायी सेना थी। इसकी देखदेख के लिए पृथक सैन्य विभाग था। इस विभाग का संगठन 6 समितियों के हाथ में था। प्रत्येक समिति में पांच सदस्य होते थे। समितियां सेना के पांच विभागों की देखदेख करती थीं–पैदल, अश्व, हाथी, रथ तथा नौसेना। सेना के यातायात तथा युद्ध सामग्री की व्यवस्था एक समिति करती थी। सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सीमांतों की रक्षा के लिए मजबूत दुर्ग थे, जहां पर सेना अंतपाल की देखरेख में सीमाओं की रक्षा में तत्पर रहती थी।

सम्राट न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिए अनेक न्यायालय थे। सबसे नीचे ग्राम स्तर पर न्यायालय थे। जहां ग्रामणी तथा ग्रामवृद्ध कतिपय मामलों में अपना निर्णय देते थे तथा अपराधियों से जुर्माना वसूल करते थे। ग्राम न्यायालय से ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय और जनपद स्तर के न्यायालय होते थे। इन सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का केंद्रीय न्यायालय था। यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायधीशों की चर्चा की है जो भारत में रहने वाले विदेशियों के मामलों पर विचार करते थे। ग्रामसंघ और राजा के न्यायलय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायलय दो प्रकार के थे–धर्मस्थीय और कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालयों का न्याय–निर्णय, धर्मशास्त्र में निपुण तीन धर्मस्थ या व्यावहारिक तथा तीन अमात्य करते थे। इन्हें एक प्रकार से दीवानी अदालतें कह सकते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, धर्मस्थ न्यायालय वे न्यायालय थे, जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद के संबंध में निर्णय देते थे। कंटकशोधन न्यायालय के न्यायधीश तीन प्रदेष्ट्रि तथा तीन अमात्य होते थे और राज्य तथा व्यक्ति के बीच विवाद इनके न्याय के विषय थे। इन्हें हम एक तरह से फौजदारी अदालत कह सकते हैं। किंतु इन दोनों के बीच भेद इतना स्पष्ट नहीं था। अवश्य ही धर्मस्थीय अदालतों में अधिकांश वाद–विषय विवाह, स्त्रीधन, तलाक, घर, खेत, सेतुबंध, जलाशय–संबंधी, ऋण–संबंधी विवाद, कर्मकर और स्वामी के बीच विवाद, क्रय–विक्रय संबंधी झगड़े से संबंधित थे। किंतु चोरी, डाके और लूट के मामले भी धर्मस्थीय अदालत के सामने पेश किए जाते थे, जिसे 'साहस' कहा गया है। इसी प्रकार कुवचन बोलना, मानहानि और मारपीट के मामले भी धर्मस्थीय अदालत के सामने प्रस्तुत किए जाते थे। इन्हें 'वाक् पारुष्य' तथा 'दंड पारुष्य' कहा गया है। किंतु समाज विरोधी तत्वों को समुचित दंड देने का कार्य मुख्यतः कंटकशोधन न्यायालयों का था। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, कंटकशोधन न्यायालय एक नए प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए गए थे ताकि एक अत्यंत संगठित शासन तंत्र के विविध विषयों से संबद्ध

निर्णयों को कार्यान्वित किया जा सके। वे एक प्रकार के विशेष न्यायालय थे, जहां अभियोगों पर तुरंत विचार किया जाता था।

मौर्य शासन प्रबंध में गूढ़पुरुषों (गुप्तचरों) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इतने विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिए यह आवश्यक था कि उनके अमात्यों, मंत्रियों, राजकर्मचारियों और पौरजनपदों पर दृष्टि रखी जाए, उनकी गतिविधियों और मनोभावनाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाए और पड़ोसी राज्यों के विषय में भी सारी जानकारी प्राप्त होती रहे। दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख है—संस्था और संचार। संस्था वे गुप्तचर थे, जो एक ही स्थान पर संस्थाओं में संगठित होकर कापटिकक्षात्र, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक (व्यापारी), तापस (सिर मुंडाये या जटाधारी साधु) के वेश में काम करते थे। इन संस्थाओं में संगठित होकर ये राजकर्मचारियों के शौक या भ्रष्टाचार का पता लगाते थे। संचार ऐसे गुप्तचर थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। ये अनेक वेशों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर सूचना एकत्रित कर राजाओं तक पहुंचाते थे।

राज्य को कई प्रशासनिक इकाइयों में बांटा गया था। सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई प्रांत थी। चंद्रगुप्त के समय इन प्रांतों की संख्या क्या थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। किन्तु अशोक के समय के पांच प्रांतों का उल्लेख मिलता है— (1) उत्तरापथ—इसकी राजधानी तक्षशिला थी, (2) अवंति राष्ट्र—जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, (3) कलिंग प्रांत—जिसकी राजधानी तोसली थी, (4) दक्षिणपथ—जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी और (5) प्राशी (प्राची, अर्थात् पूर्वी प्रदेश)—इसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी। प्राशी अथवा मगध तथा समस्त उत्तरी भारत का शासन पाटलिपुत्र से सम्राट स्वंय करता था। सौराष्ट्र भी चंद्रगुप्त के साम्राज्य का एक प्रांत था।

प्रांतों का शासन वाइसराय रूपी अधिकारी द्वारा किया जाता था। ये अधिकारी राजवंश के होते थे। अशोक के अभिलेखों में उन्हें 'कुमार या आर्यपुत्र' कहा गया है। केंद्रीय शासन की ही भांति प्रांतीय शासन में मंत्रिपरिषद होती थी। रोमिला थापर का कहना है कि प्रांतीय मंत्रिपरिषद, केंद्रीय मंत्रिपरिषद की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थी। दिव्यावदान में कुछ उद्धरणों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रांतीय मंत्रिपरिषद का सम्राट से सीधा संपक्र था। अशोक के शिलालेखों से भी यह स्पष्ट है कि समय—समय पर केंद्र से सम्राट प्रांतों की राजधानियों में महामात्रों को निरीक्षण करने के लिए भेजता था। साम्राज्य के अंतर्गत कुछ अर्धस्वशासित प्रदेश थे। यहां स्थानीय राजाओं को मान्यता दी जाती थी किंतु अंतपालों द्वारा उनकी गतिविधि पर पूरा नियंत्रण रहता था। अशोक के अन्य महामात्र इन अर्धस्वशासित राज्यों में धम्म महामात्रों द्वारा धर्म प्रचार करवाते थे। इसका मुख्य उद्देश्य उनके उद्दंड क्रिया—कलापों को नियंत्रित करना था। प्रांत जिलों में विभक्त थे, जिन्हें 'आहार' या 'विषय' कहते थे और जो संभवतः विषयपति के अधीन थे। जिले का शासक स्थानिक होता था और स्थानिक के अधीन गोप होते थे, जो पूरे 10 गांवों पर शासन करते थे। स्थानिक समाहर्ता के अधीन भी थे। समाहर्ता के अधीन एक और अधिकारी शासन कार्य चलाता था, जिसे 'प्रदेष्ट्र' कहा गया है। वह स्थानिक गोप और ग्राम अधिकारियों के कार्यो की जांच करता था। इन प्रदेष्ट्रियों को अशोक के प्रादेशिकों के समरूप माना गया है।

टिप्पणी

मेगस्थनीज ने नगर शासन का विस्तृत वर्णन दिया है। नगर का शासन प्रबंध 30 सदस्यों का एक मंडल करता था। मंडल समितियों में विभक्त था। प्रत्येक समिति के पांच सदस्य होते थे। पहली समिति उद्योग–शिल्पों का निरीक्षण करती थी। दूसरी समिति विदेशियों की देखरेख करती थी। इसका कर्तव्य था, विदेशियों के आवास का उचित प्रबंध करना तथा बीमार पड़ने पर उनकी चिकित्सा का उचित प्रबंध करना। उनकी सुरक्षा का भार भी इसी समिति पर था। विदेशियों की मृत्यु होने पर उनकी अंत्येष्टि क्रियाओं तथा उनकी सम्पत्ति उचित उत्तराधिकारियों के सुपुर्द करने का कार्य भी यही समिति करती थी। यह देखरेख के माध्यम से विदेशियों की गतिविधियों पर नजर भी रखती थी। तीसरी समिति जन्म–मरण का हिसाब रखती थी। जन्म–मरण का ब्यौरा केवल करों का अनुमान लगाने के लिए ही नहीं बल्कि इसलिए भी रखा जाता था कि सरकार को पता रहे कि मृत्यु क्यों और किस प्रकार हुई। राज्य की दृष्टि से यह जानकारी आवश्यक थी। चौथी समिति व्यापार और वाणिज्य की देखरेख करती थी। उसके कार्य थे– माप–तोल की जांच करना, वस्तु विक्रय की व्यवस्था करना और यह देखना कि प्रत्येक व्यापारी एक से अधिक वस्तु का विक्रय न करे। एक से अधिक वस्तु का विक्रय करने वाले को अतिरिक्त शुल्क देना पड़ता था। पांचवीं समिति निर्मित वस्तुओं के विक्रय का निरीक्षण करती थी और इस बात का ध्यान रखती थी कि नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचा जा रहा। इस नियम का उल्लघंन करने वालों को सजा दी जाती थी। नई–पुरानी वस्तुओं को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था। छठी समिति का कार्य बिक्रीकर वसूल करना था। विक्रय मूल्य का दसवां भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था। इस कर से बचने वाले को मृत्युदंड दिया जाता था।

मौर्य साम्राज्य जैसे विस्तृत साम्राज्य के संचालन के लिए धन की आवश्यकता रही होगी, इसमें तो संदेह नहीं हो सकता। वास्तव में इस युग में पहली बार राजस्व प्रणाली की रूपरेखा तैयार की गई और उसके पर्याप्त विवरण कौटिल्य ने भी दिए हैं। राज्य की आय के प्रमुख स्रोतों के कुछ विवरण ऊपर भी दिए जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त अनेक व्यवसाय ऐसे थे, जिन पर राज्य का पूर्ण आधिपत्य था और जिनका संचालन राज्य के द्वारा किया जाता था। इनमें खनन, जंगल, नमक और अस्त्र–शस्त्र के व्यवसाय प्रमुख थे। राजा का यह दायित्व था कि वह कुशल कर्मकारों का प्रबंध कर खानों का पता लगए, और खानों से खनिज पदार्थ निकालकर उन्हें कर्मांतों या कारखानों में भिजवाए और जब वस्तुएं तैयार हो जाएं तो उनकी बिक्री का प्रबंध करे। कौटिल्य ने दो प्रकार की खानों का उल्लेख किया है – स्थल खानें और जल खानें। स्थल खानों से सोना, चांदी, लोहा, तांबा, नमक आदि प्राप्त किए जाते थे और जल खानों से मुक्ता, शुक्ति, शंख आदि। इन खानों से राज्य को पर्याप्त आय होती थी। जंगल राज्य की सम्पत्ति होते थे। जंगल के पदार्थों को कारखानों में भेजकर उनसे विविध प्रकार की पण्य वस्तुएं तैयार कराई जाती थीं। राज्य को कोष्ठागारों में संचित अन्न से, खानों और जंगलों से प्राप्त द्रव्य से और कर्मांतों में बनी हुई पण्य वस्तुओं के विक्रय से भी काफी आय होती थी। मुद्रा–पद्धति से भी आय होती थी। मुद्रा संचालन का अधिकार राज्य को था। विविध प्रकार के दंडों से तथा संपत्ति की जब्ती से भी राज्य

टिप्पणी

की आमदनी होती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक ऐसी परिस्थितियों का निरूपण किया गया है, जिनसे राज्य सम्पत्ति जब्त कर लेता था। संकट के काल में राज्य अनेक अनुचित उपायों से भी धन संचय करता था, जैसे–अदभुत प्रदर्शन और मेलों को संगठित करना। पतंजलि के अनुसार, मौर्य काल में धन के लिए देवताओं की प्रतिमाएं बनाकर बेची जाती थीं। इस प्रकार मौर्य शासन काल में राज्य की आय के सभी साधनों को जुटाया गया।

राजकीय व्यय को विभिन्न वर्गों में रखा जा सकता है, जैसे–1. राजा और राज्य परिवार का भरण–पोषण, 2. राज्य कर्मचारियों के वेतन। राज्य की आय का बड़ा भाग वेतन देने पर खर्च होता था। सबसे अधिक वेतन 48,000 पण मंत्रियों का था और सबसे कम वेतन 60 पण था। आचार्यों, पुरोहितों और क्षत्रियों को वह देह भूमि दान में दी जाती थी जो कर मुक्त होती थी। राजकीय भूमि पर कृषि आदि के विकास के लिए राज्य की ओर से धन व्यय किया जाता था। सेना पर काफी धन व्यय किया जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार, प्रशिक्षित पदाति का वेतन 500 पण, रथिक का 200 पण और आरोहिक (हाथी और घोड़े पर चढ़कर युद्ध करने वाले) का वेतन 500 से 1000 पण वार्षिक रखा गया था। इससे अनुमान लग सकता है कि सेना पर कितना खर्च होता था। उच्च सेनाधिकारियों का वेतन 48,000 पण से लेकर 12,000 पण वार्षिक तक था। यद्यपि मौर्य साम्राज्य में सैनिकों पर अत्यधिक खर्च किया जाता था तथापि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस शासन–व्यवस्था में कल्याणकारी राज्य की कई विशेषताएं पाई जाती हैं, जैसे–राजमार्गों के निर्माण, सिंचाई का प्रबंध, पेयजल की व्यवस्था, सड़कों के किनारे छायादार वृक्षों का लगाना, मनुष्य और पशुओं के लिए चिकित्सालय, मृत सैनिकों तथा राज कर्मचारियों के परिवारों के भरण–पोषण, दीन–अनाथों का भरण–पोषण आदि। इन सब कार्यों पर भी राज्य का व्यय होता था। अशोक के समय इन परोपकारी कार्यों की संख्या में सबसे ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई।

1.2.2 मुग़ल काल

मुगलकालीन शासन प्रणाली बहुत ही केंद्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था थी। इसमें भारतीय तथा विदेशी (फारस व अरब) तत्वों का सम्मिश्रण था। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों से अलग 'बादशाह' की उपाधि ग्रहण की। बादशाह शब्द के 'बाद' का शाब्दिक अर्थ है– स्थायित्व एवं स्वामित्व तथा शाह का अर्थ है–मूल एवं स्वामी। इस तरह पूरे शब्द 'बादशाह' का शाब्दिक अर्थ है–'ऐसा स्वामी या शक्तिशाली राजा, जिसे उपदस्थ न किया जा सके। मुगल साम्राज्य चूंकि पूर्ण रूप से केंद्रीकृत था, इसलिए 'बादशाह' की शक्ति असीम थी। नियम बनाना, उसको लागू करना, न्याय करना आदि उसके सर्वोच्च अधिकार थे। मुगल बादशाहों ने नाममात्र के लिए भी खलीफा का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। हुमायूं बादशाह को पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि मानता था। मुगलकालीन शासकों में बाबर, हुमायूं, औरंगजेब ने अपना शासन आधार कुरान को बनाया, परंतु इस परंपरा का विरोध करते हुए अकबर ने अपने को साम्राज्य की समस्त जनता का शासक बताया। मुगल बादशाह शासन की संपूर्ण

शक्तियों को अपने में समेटे हुए पूर्णरूप से निरकुंश थे, परंतु स्वेच्छाचारी नहीं थे। इन्हें 'उदार निरंकुश' शासक भी कहा जाता था।

मुगलों द्वारा बनाई गई मंत्रिपरिषद

टिप्पणी

सम्राट को प्रशासन की गतिविधियों को भली–भांति संचालित करने के लिए एक मंत्रिपरिषद की आवश्यकता होती थी। बाबर के शासन काल में वजीर का पद काफी महत्वपूर्ण था, परन्तु कालांतर में यह पद महत्वहीन हो गया। वजीर राज्य का प्रधानमंत्री होता था। अकबर के समय प्रधानमंत्री को 'वकील' और वित्तमंत्री को 'वजीर' कहते थे। आरंभ में वजीर मुगलकालीन राजस्व प्रणाली का सर्वोच्च अधिकारी था, किन्तु कालांतर में अन्य विभागों पर भी उसका अधिकार हो गया।

वकील

सम्राट के बाद शासन के कार्यों को संचालित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी वकील था। अकबर का वकील बैरम खां चूंकि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगा था, इसलिए अकबर ने इस पद के महत्व को कम करने के लिए अपने शासनकाल के आठवें वर्ष में एक नया पद 'दीवान–ए–वजीरात–ए–कुल' की स्थापना की, जिसका मुख्य कार्य था– 'राजस्व एवं वित्तीय' मामलों का प्रबंध देखना। बैरम खां के पतन के बाद अकबर ने मुनअम खां को वकील के पद पर नियुक्त किया; परंतु वह नाम मात्र का ही वकील था।

दीवान या वजीर

फारसी मूल के शब्द दीवान का नियंत्रण राजस्व एवं वित्तीय विभाग पर होता था। अकबर के समय में उसका वित्त विभाग दीवान मुजफ्फर खान, राजा टोडरमल एवं ख्वाजा शाह मंसूर के अधीन 23 वर्षों तक रहा। जहांगीर अफजल खां, इस्लाम खां एवं सादुल्ला खां के अधीन राजस्व विभाग लगभग 32 वर्षों तक रहा। औरंगजेब के समय में असद खां सर्वाधिक 31 वर्षों तक दीवान या वजीर के निरीक्षण में कार्य करने वाले मुख्य विभागों 'दीवान–ए–खालसा' (खालसा भूमि के लिए), 'दीवान–ए–तन' (नकद तनख्वाहों के लिए), 'दीवान–ए–तबजिह' (सैन्य लेखा–जोखा के लिए), 'दीवान–ए–जागीर' (राजस्व के कार्यों के लिए दिया जाने वाला वेतन), 'दीवान–ए–बयूतात' (मीर समान विभाग के लिए), 'दीवान–ए–सादात' (धार्मिक मामलों का लेखा–जोखा) आदि के सर्वेसर्वा थे।

मीर बख्शी

इसके पास 'दीवान आजिर' के समस्त अधिकार होते थे। मुगलों की मनसबदारी व्यवस्था के कारण यह पद और भी महत्त्वपूर्ण हो गया था। मीर बख्शी द्वारा 'सरखत' नाम के पत्र पर हस्ताक्षर के बाद ही सेना को हर महीने का वेतन मिला पाता था। मीर बख्शी के दो अन्य सहायक 'बख्शी–ए–हुजूर' व बख्शी–ए–शाहगिर्द थे। मनसबदारों की नियुक्ति, सैनिकों की नियुक्ति, उनके वेतन, प्रशिक्षण एवं अनुशासन की जिम्मेदारी व घोड़ों को दागने एवं मनसबदारों के नियंत्रण में रहने वाले सैनिकों की संख्या का

निरीक्षण आदि जिम्मेदारी का निर्वाह मीर बख्शी को करना होता था। प्रांतों में नियुक्त 'वकियानवीस' मीर बख्शी को सीधे संदेश देता था।

टिप्पणी

सुदूर

यह धार्मिक मामलों, धार्मिक धन–संपति एवं दान विभाग का प्रधान होता था। 'शरीअत' की रक्षा करना इसका मुख्य कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त उलेमा की कड़ी निगरानी, शिक्षा, दान एवं न्याय विभाग का निरीक्षण करना भी उसके कर्तव्यों में शामिल था। साम्राज्य के प्रमुख सद्र को सद्र–उस–सुदूर, शेख–उल–इस्लाम एवं सद्र–ए–कुल कहा जाता था। जब कभी सद्र न्याय विभाग के प्रमुख का कार्य करता था तब उसे 'काजी' (काजी–उल–कुजात) कहा जाता था। सद्र दान में दी जाने वाली लगानहीन भूमि का भी निरीक्षण करता था। इस भूमि को 'सयूरगल' या 'मदद–ए–माश' कहा जाता था।

मीर–ए–समां

यह सम्राट के घरेलू विभागों का प्रधान होता था। यह सम्राट के दैनिक व्यय, भोजन एवं भंडार का निरीक्षण करता था। मुगल साम्राज्य के अंतर्गत आने वाले कारखानों (बयूतात) का भी संगठन एवं प्रबंधन मीर समां को करना पड़ता था। मीर समां के अधीन 'दीवान–ए–बयूतात', मुशरिफ, दारोगा एवं तहसीलदार (कारखानों के लिए आवश्यक नकदी एवं माल का प्रभारी) आदि कार्य करते थे। इस प्रकार वकील या वजीर की शक्तियां इन चार मंत्रियों के मध्य विभाजित थीं।

बयूतात

यह उपाधि उस मनुष्य को दी जाती थी, जिसका कार्य मृत पुरुषों के धन और संपत्ति को रखना, राज्य का हिस्सा काटकर उस संपत्ति को उसके उत्तराधिकारी को सौंपना, वस्तुओं के दाम निर्धारित करना, शाही कारखानों के लिए माल लाना तथा इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं और खर्चे का हिसाब रखना था।

प्रधान काजी

इसे 'काजी–उल–कुज्जात' भी कहा जाता था। यह प्रांत, जिला एवं नगरों में काजियों की नियुक्ति करता था। वैसे तो सम्राट न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था और प्रत्येक बुधवार को अपनी कचहरी लगाता था, किंतु समयाभाव और उसके राजधानी में न रहने पर सम्राट की जगह प्रधान काजी कार्य करता था। प्रधान काजी की सहायता के लिए प्रधान 'मुफ्ती' होता था। मुफ्ती अरबी न्यायशास्त्र के विद्वान होते थे।

मुहतसिब

'शरीअत' के प्रतिकूल कार्य करने वालों को रोकना, आम जनता को दुश्चरित्रता से बचाना, सार्वजनिक सदाचार की देखभाल करना, शराब, भांग के उपयोग पर रोक लगाना, जुए के खेल को प्रतिबंधित करना, मंदिरों को तुड़वाना (औरंगजेब के समय में) आदि इसके महत्त्वपूर्ण कार्य थे। इस पद की स्थापना औरंगजेब ने की थी।

टिप्पणी

दारोगा–ए–तोपखाना

यह बंदूकचियों एवं शाही तोपखाने का प्रधान होता था। युद्ध के समय तोपखाने के महत्व के कारण इसे मंत्री का स्थान मिलता था।

दारोगा–ए–डाक चौकी

यह सूचना एवं गुप्तचर विभाग का प्रधान होता था। यह राज्य की हर सूचना बादशाह तक पहुंचाता था।

प्रांतीय मुगल प्रशासन

अकबर के राज काल में सर्वप्रथम प्रांतीय प्रशासन के लिए नया आधार प्रस्तुत किया गया। सर्वप्रथम 1580 ई. में अकबर ने अपने साम्राज्य को 12 सूबों यानी प्रांतों में बांटा था। बाद में सूबों की संख्या 15 हो गई, जिनमें इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, बंगाल, बिहार, अहमदाबाद, दिल्ली, मुल्तान, लाहौर, काबुल, मालवा, खानदेश एवं अहमदनगर शामिल थे। जहांगीर ने कांगड़ा को जीत कर लाहौर में मिलाया, शाहजहां ने कश्मीर, थट्टा एवं उड़ीसा को जीत कर सूबों की संख्या 18 की। औरंगजेब ने शाहजहां के 18 सूबों में गोलकुंडा एवं बीजापुर को जोड़कर इनकी संख्या 20 कर ली। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के समय मुगल साम्राज्य में कुल 21 प्रांत थे। इनमें से 14 उत्तरी भारत में, 6 दक्षिणी भारत में थे और एक प्रांत भारत के बाहर अफगानिस्तान था। इन प्रांतों के नाम हैं–आगरा, अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बंगाल, बिहार, दिल्ली, गुजरात, कश्मीर, लाहौर, मालवा, मुल्तान, उड़ीसा, थट्टा, काबुल (अफगानिस्तान), औरंगाबाद, महाराष्ट्र, बरार, बीदर, बीजापुर, हैदराबाद (गोलकुंडा) और खानदेश। प्रशासन की दृष्टि से मुगल साम्राज्य सूबों में, सूबे सरकार में, सरकार परगना या महाल में बंटे थे। परगने से जिले या दस्तूर बने थे, जिनके अंतर्गत ग्राम होते थे, जो प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। गांवों को 'मवदा' या 'दीह' भी कहते थे। मवदा के अंतर्गत स्थित छोटी–छोटी बस्तियों को 'नागला' कहा जाता था। शाहजहां ने अपने शासनकाल में सरकार एवं परगना के मध्य 'चकला' नाम की एक नई इकाई की स्थापना की थी।

सूबेदार

मुगल काल में इस पद पर कार्य करने वाला व्यक्ति गर्वनर, सिपहसलार (अकबर के समय में), साहिब सूबा या सूबेदार कहा जाता था। सूबेदार की सरकारी उपाधि 'नाजिम' थी। इसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। इसका प्रमुख कार्य होता था– प्रांतों में शांति स्थापित करना, सम्राट की आज्ञाओं का पालन करवाना, राज्य करों की वसूली में सहायता करना आदि। इस तरह कहा जा सकता है कि सूबेदार प्रांतों में सैनिक एवं असैनिक दोनों तरह के कार्यों का संचालन करता था। मुगल काल में सूबेदारों को किसी राज्य से संधि करना या सरदारों को मनसब प्रदान करने का अधिकार नहीं था। अपवादस्वरूप गुजरात के सूबेदार टोडरमल को अकबर ने ये सुविधाएं दे रखी थीं। उसके प्रमुख सहायक दीवान, बख्शी, फौजदार, कोतवाल, काजी, सद्र, आमिल वितिक्ची, पोतदार, वाकियानवीस आदि होते थे।

दीवान

यह गर्वनर के अधीन न होकर सीधे शाही दीवान के प्रति जवाबदेह होता था। शाही दीवान की सिफारिश पर ही प्रांतीय दीवान की नियुक्ति की जाती थी। प्रांत का कर विभाग इसके एकाधिकार में होता था। दीवान प्रायः सूबेदार का प्रतिद्वंद्वी होता था। प्रत्येक को यह आशा रहती थी कि वह दूसरे पर कड़ी नजर रखे, ताकि दोनों में कोई शक्तिशाली न बन सके। वस्तुतः सूबे में विद्रोह की आशंका को समाप्त करने के लिए ऐसा इंतजाम किया गया था। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस व्यवस्था को स्थापित न कर सके, बल्कि कुछ अवसरों पर निजाम (सूबेदार) और दीवान के पद एक ही व्यक्ति को दे दिये गये। बहादुरशाह के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबेदार मुर्शिद कुली खां को दीवान के अधिकार भी दिये गये थे।

बख्शी

प्रांतीय बख्शी की तैनाती शाही मीर बख्शी के अनुरोध पर की जाती थी। इसका मुख्य काम सैनिकों की भर्ती करना, सैनिक टुकड़ी को अनुशासित रखना, घोड़ों को दागने की प्रथा के नियमों को लागू करवाना आदि होता था। इसके अतिरिक्त बख्शी 'वाकियानिगार' के रूप में प्रांत में घटने वाली सभी घटनाओं की जानकारी बादशाह को देता था।

सद्र–ए–काजी

प्रांतीय स्तर के विवादों में न्याय करने वाले 'सद्र–ए–काजी' की नियुक्ति शाही काजी के अनुरोध पर की जाती थी। संवाददाताओं के समूह को 'सवानी नवीस' या 'खुफिया नवीस' कहा जाता था। इसकी नियुक्ति 'दारोगा–ए–डाक' करता था।

मुगल काल में जिले का प्रशासन

प्रशासन की सहूलियत के लिए सूबों को जिलों व सरकारों में विभाजित किया गया था। जिला स्तर पर कार्य करने वाले मुख्य अधिकारी निम्नलिखित थे–

फौजदार

जिले के प्रधान सैनिक अधिकारी के रूप में कार्य करने वाले फौजदार के पास सेना की एक टुकड़ी रहती थी। इसका मुख्य कार्य कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखना होता था।

आमिल या अमलगुजार

जिले के प्रमुख राजस्व अधिकारी के रूप में कार्य करने वाला आमिल 'खालसा भूमि' से लगान इकट्ठा करता था। अमलगुजार को आय–व्यय की वार्षिक रिपोर्ट शाही दरबार में भेजनी पड़ती थी। कोतवाल की अनुपस्थिति पर इसे न्यायिक कर्तव्यों का भी निर्वाह करना पड़ता था। वितिकची इसके सहयोगी के रूप में कार्य करता था, जिसका प्रमुख कार्य था–कृषि से जुड़े हुए कागजात एवं आंकड़े इकट्ठा करना।

खजानदार

यह सरकार का कोषाध्यक्ष था, जो अमलगुजार की अधीनता में कार्य करता था। सरकारी खजाने की सुरक्षा इसका मुख्य उत्तरादायित्व था।

टिप्पणी

वितिकची

यह सरकार में कर प्रणाली का दूसरा अधिकारी होता था। यह भूमि की पैमाइश, उपज का निर्धारण, उसकी श्रेणी आदि तय करने में अमलगुजार की सहायता करता था।

कोतवाल

कोतवाल की नियुक्ति मीर आतिश के अनुरोध पर केंद्रीय सरकार करती थी। यह नगर में घटने वाली समस्त घटनाओं के प्रति उत्तरादायी होता था। अपराधियों को दंड देने में असमर्थ होने पर कोतवाल को हर्जाना भरना पड़ता था।

मुगल काल में परगना का प्रशासन

मुगल काल में परगने अथवा महाल के अंतर्गत प्रशासन में निम्नलिखित अधिकारी शामिल थे–

शिकदार

यह परगने का प्रमुख अधिकारी होता था। परगने में शांति व्यवस्था के साथ अपराधियों को दंडित करना इसका प्रमुख कार्य था। राजस्व की वसूली में यह आमिल को सहयोग करता था।

आमिल

इसका मुख्य कार्य राजस्व को निर्धारित करना एवं वसूलना होता था। इसके लिए इसे गांव के कृषकों से प्रत्यक्ष संबंध बनाना होता था। इसे 'मुंसिफ' के नाम से भी जाना जाता था।

कानूनगो

यह परगने के पटवारियों का अधिकारी होता था। इसका मुख्य कार्य भूमि का सर्वेक्षण एवं राजस्व वसूली करना था।

फोतदार

परगने के खजांची को फोतदार कहते थे।

कारकून

यह क्लर्क (लिपिक) के रूप में कार्य करता था।

मुगलकालीन गांवों को प्रशासन में काफी स्वयत्ता प्राप्त थी। गांव का मुख्य अधिकारी प्रधान होता था। इसे 'खुत', 'मुकद्दम', 'चौधरी' आदि कहा जाता था। इसके प्रमुख सहयोगी के रूप में पटवारी कार्य करता था।

1.2.3 ब्रिटिश काल

ब्रिटिश साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य था जो इतिहास में सबसे बड़ा माना जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य एक वैश्विक ताकत था, जिसके अंतर्गत वे क्षेत्र थे, जिन पर संयुक्त राजशाही का अधिकार था। यह साम्राज्य इतिहास का सबसे बड़ा साम्राज्य था और अपने चरम पर तो विश्व के कुल भू–भाग और जनसंख्या का एक–चौथाई भाग इसके अधीन था। उस समय लगभग 50 करोड़ लोग ब्रिटिश ताज के नियंत्रण में थे। आज इसके अधिकांश सदस्य राष्ट्रमंडल के सदस्य हैं और इस प्रकार आज भी ब्रिटिश साम्राज्य का ही एक अंग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण भाग था, ईस्ट इंडिया ट्रेडिंग कंपनी, जो एक छोटे व्यापार के साथ आरंभ की गई थी और बाद में एक बहुत बड़ी कंपनी बन गई, जिस पर बहुत से लोग निर्भर थे। ब्रिटिश राज का इतिहास 1858 और 1947 के बीच भारतीय उपमहाद्वीप पर ब्रिटिश शासन की अवधि को संदर्भित करता है। शासन प्रणाली को 1858 में स्थापित किया गया था, जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता को महारानी विक्टोरिया के हाथों में सौंपते हुए राजशाही के अधीन कर दिया गया (और विक्टोरिया को 1876 में भारत की महारानी घोषित किया गया)। यह 1947 तक चला, जब ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य को संपूर्ण–प्रभुत्व–सम्पन्न दो देशों में विभाजित कर दिया गया – भारतीय संघ (बाद में भारतीय गणराज्य) और पाकिस्तान रियासत (बाद में पाकिस्तानी इस्लामी गणतंत्र, जिसका पूर्वी भाग बाद में बांग्लादेश गणराज्य बना)। भारतीय साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र में बर्मा प्रांत को 1937 में एक अलग उपनिवेश बनाया गया और वह 1948 में स्वतंत्र हुआ। 19वीं शताब्दी के दूसरे भाग में ब्रिटिश राजशाही द्वारा भारत का प्रत्यक्ष प्रशासन और औद्योगिक क्रांति से शुरु हुआ प्रौद्योगिकी परिवर्तन, दोनों ने ग्रेट ब्रिटेन और भारत की अर्थव्यवस्थाओं को नजदीकी रूप से मिला दिया।

परिवहन और संचार (जो आमतौर पर भारत के राजशाही शासन से जुड़े हैं) के कई बड़े बदलाव में गदर से पहले ही शुरू हो गए थे। डलहौजी ने प्रौद्योगिकीय परिवर्तन को अपनाया, जो उस वक्त ग्रेट ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर चल रहा था, भारत ने भी उन सभी का तेजी से विकास देखा। रेलवे, सड़क, नहर और पुल को भारत में तेजी से बनाया गया और साथ ही टेलीग्राफ लिंकों को भी स्थापित किया गया ताकि कच्चे माल, जैसे–कपास को भारत के सुदूर क्षेत्रों से बंबई जैसे बंदरगाहों के लिए प्रभावी रूप से भेजा जा सके और फिर उसे इंग्लैंड निर्यात किया जा सके। इसी तरह इंग्लैंड में तैयार माल को तेजी से बढ़ते भारतीय बाजार में बिक्री के लिए वापस उसी कुशलतापूर्वक भेजा जाता था। प्रौद्योगिकी की बाढ़ भारत में कृषि अर्थव्यवस्था को बदल रही थी। 19वीं सदी के आखिरी दशक में न केवल कपास, बल्कि कुछ खाद्यान्न को सुदूर बाजारों में निर्यात किया गया। नतीजतन, कई छोटे किसानों ने, जो उन बाजारों के उतार–चढ़ाव पर निर्भर थे, सूदखोरों के हाथों अपनी भूमि, पशुधन और उपकरणों को गंवा दिया। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में अकाल पड़े, जो बड़े पैमाने पर गंभीर थे। हालांकि अकाल इस उपमहाद्वीप के लिए नए नहीं थे, लेकिन ये गंभीर थे, जिसके

चलते लाखों लोग मारे गए और कई ब्रिटिश और भारतीय आलोचकों ने इसके लिए भीमकाय औपनिवेशिक प्रशासन को जिम्मेदार ठहराया।

स्वशासन की पहल

ब्रिटिश भारत में स्व–शासन की ओर पहला कदम 19वीं सदी में उठाया गया, जब ब्रिटिश वाइसराय को सलाह देने के लिए भारतीय सलाहकारों की नियुक्ति की गई और भारतीय सदस्यों वाली प्रांतीय परिषदों का गठन किया गया। ब्रिटिश सरकार ने बाद में भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के साथ विधायी परिषदों में भागीदारी को और विस्तृत किया। नगर–निगम और जिला बोर्ड को स्थानीय प्रशासन के लिए बनाया गया, उनमें चुने हुए भारतीय सदस्य शामिल थे। 1909 का भारत सरकार अधिनियम–जिसे मॉर्ले–मिंटो सुधार के रूप में भी जाना जाता है (जॉन मॉर्ले भारत के लिए राज्य सचिव था, और गिल्बर्ट इलियट, मिंटो का चौथा अर्ल, वाइसराय था)– ने केंद्रीय और प्रांतीय विधानसभाओं में, जिन्हें विधान परिषद के रूप में जाना जाता था, भारतीयों को सीमित भूमिकाएं सौंपी। भारतीयों को इससे पहले विधान परिषदों में नियुक्त किया गया था, लेकिन सुधार के बाद उन्हें इसके लिए चुना जाने लगा। केंद्र में परिषद के ज्यादातर सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी ही थे और वाइसराय किसी भी रूप में विधायिका के प्रति जिम्मेदार नहीं था। प्रांतीय स्तर पर अनौपचारिक रूप से नियुक्त सदस्यों के साथ निर्वाचित सदस्यों की संख्या नियुक्त अधिकारियों से अधिक थी, लेकिन विधायिका के प्रति राज्यपाल के दायित्वों पर विचार नहीं किया गया था। मॉर्ले ने ब्रिटिश संसद में इस नियम को पेश करते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि संसदीय स्वशासन ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य नहीं था।

मॉर्ले–मिंटो सुधार मील का पत्थर थे। कदम दर कदम, भारतीय विधान परिषद में सदस्यता के लिए ऐच्छिक सिद्धांत को शुरू किया गया। निर्वाचन क्षेत्र उच्च वर्ग के भारतीयों के एक छोटे समूह के लिए सीमित था। ये निर्वाचित सदस्य आधिकारिक सरकार के विरोधी बन गए। जातीय निर्वाचन क्षेत्र को बाद में अन्य समुदायों में विस्तारित किया गया और धर्म के माध्यम से समूह की पहचान करने की भारतीय प्रवृत्ति का एक राजनीतिक पहलू बन गया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में एक छोटे से व्यापार के तौर पर कार्य शुरू किया था, लेकिन धीरे–धीरे इस कंपनी ने पूरे भारत में शासन स्थापित कर लिया। सन् 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम से चार्टर अर्थात् स्वीकृति हासिल कर ली, जिससे कंपनी को पूरब से व्यापार करने का एकाधिकार मिल गया। इस स्वीकृति का मतलब यह था कि इंग्लैंड की कोई व्यापारिक कंपनी इस इलाके में ईस्ट इंडिया कंपनी से होड़ नहीं कर सकती थी। इस चार्टर के सहारे कंपनी समुद्र पार जाकर नये इलाकों को खंगाल सकती थी और वहां से सस्ती चीजें खरीद कर उन्हें यूरोप में ऊंची कीमत पर बेच सकती थी। कंपनी को दूसरी अंग्रेजी व्यापारिक कंपनियों

से प्रतिस्पर्धा का कोई भय नहीं था। उस जमाने में वाणिज्यिक कंपनियां मोटे तौर पर प्रतिस्पर्धा से बचकर ही मुनाफा कमा सकती थीं। अगर कोई प्रतिस्पर्धी न हो तभी वे सस्ती चीजें खरीदकर उन्हें ज्यादा कीमत पर बेच सकती थीं। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 31 दिसंबर 1600 में हुई थी। इसे यदाकदा 'जॉन कंपनी' के नाम से भी जाना जाता था। इसे ब्रिटेन की महारानी ने भारत के साथ व्यापार करने के लिये 21 सालों तक की छूट दे दी। बाद में कंपनी ने भारत के लगभग सभी क्षेत्रों पर अपना सैनिक तथा प्रशासनिक आधिपत्य जमा लिया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम यानी सिपाही विद्रोह के बाद सन् 1858 में इसका विलय हो गया।

जब 1498 ई. में वास्को दी गामा ने उत्तमाशा द्वीप यानी केप ऑफ गुड होप द्वारा भारत यात्रा के लिए नया समुद्री रास्ता खोज निकाला, तब संसार के इतिहास में एक क्रांतिकारी मार्ग खुला। अब यूरोपीय देशों का भारत तथा पूर्वी द्वीपों से प्रत्यक्ष संपक्र हो गया। सुदृढ़ नाविक ताकत के कारण इस मार्ग पर सर्वप्रथम पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हुआ, लेकिन जल्दी ही पहले हालैंड और बाद में इंग्लैंड ने पुर्तगाल की राह में अड़चनें पैदा कर दीं।

इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना, स्पेनी आर्मादा की पराजय के बाद, महारानी एलिजाबेथ के अनुमति–पत्र द्वारा (31 दिसंबर, 1600) 'गवर्नर एंड मर्चेट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' के नाम से हुई। इसी आज्ञा–पत्र द्वारा उक्त कंपनी को व्यावसायिक एकाधिकार भी प्राप्त हुआ। कंपनी के विकास के साथ–साथ इंग्लैंड में उसके व्यावसायिक एकाधिकार के खिलाफ असंगठित और सुसंगठित प्रयास हुए। अंततः रानी ऐन तथा लार्ड गोडोल्फिन की मध्यस्थता द्वारा आंतरिक विरोधों का समाधान होकर 'यूनाइटेड कंपनी ऑफ मर्चेट्स ऑफ इंग्लैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' के रूप में नए विधान के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी का दोबारा निर्माण हुआ। एक प्रकार से इसी को कपंनी का यथोचित श्रीगणेश कहना उपयुक्त होगा।

16वीं शताब्दी से अंतर्राष्ट्रीय व्यवधान की अनुपस्थिति में यूरोपीय देशों के पारस्परिक संपक्र व्यावसायिक और औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता के कारण संघर्ष और संधियों से ही परिचालित होते रहे। इनकी व्यापारिक संस्थाओं की समृद्धि इनके व्यापारिक एकाधिकार पर आधारित थी। यह एकाधिकार (क) शाही फरमानों द्वारा हासिल किया जा सकता था, शाही अनुमति से या शक्ति प्रदर्शन द्वारा। जब मुगल साम्राज्य सशक्त था तब ये आज्ञापत्र बादशाह तथा राज्याधिकारी को खुश कर प्राप्त होते रहे। उनकी अवनति पर फिर ये शक्ति प्रदर्शन द्वारा प्राप्त किए जाने लगे। (ख) इसे प्राप्त करने का दूसरा साधन यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों पर अधिकार जमा लेना था। दोनों ही साधन अनिवार्य थे। किंतु स्पष्टतः भारत में व्यावसायिक एकाधिकार की सार्थकता उसे ही उपलब्ध हो सकती थी, जिसकी सामुद्रिक शक्ति सर्वोपरि हो। अस्तु, व्यवसाय के मूल में संघर्ष अनिवार्य था, शक्ति का भी, कूटनीति का भी।

ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन तक भारत में पुर्तगाली सूर्य अस्तांचल की ओर बढ़ चुका था। पहले हालैंड, फिर हालैंड तथा इंग्लैंड की सम्मिलित नाविक शक्ति के

टिप्पणी

सामने उसे झुकना पड़ा। जब भारतीय तट के निकट कंपनी ने पुर्तगाली बेड़े को पराजित किया (1612), तब मुगल दरबार में पुर्तगाली प्रभाव का ह्रास प्रारंभ हो गया और कंपनी के मानव धन के साथ उसे सूरत में व्यावसायिक केंद्र खोलने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। 1654 में पुर्तगाल को कंपनी के अधिकारों को स्वीकार करना पड़ा। 1661 में उसने डचों के विरुद्ध सहायता देना भी अंगीकार कर लिया।

कंपनी को अब डचों के विरुद्ध लोहा लेना था। सर्वप्रथम कंपनी का मुख्य ध्येय हिंदेशिया में ही अपना व्यवसाय केंद्रित करना था, जहां डच पहले से ही सशक्त थे। एंबीयना के हत्याकांड (1623) के बाद यह विचार त्याग कर उसने भारत की ओर रुख किया, जहां डच शक्ति क्षीण थी। यूरोप में क्रामवेल कालीन ऐंग्लो–डच युद्ध तथा लुई 14 वें के हालैंड पर आक्रमण से हालैंड की सामुद्रिक शक्ति का ह्रास प्रारंभ हो गया। 1759 में क्लाइव ने डच बेड़े को पूर्णतया पराजित कर दिया।

अब कंपनी के अंतिम प्रतिद्वंद्वी फ्रांसीसी ही शेष रहे। डूप्ले के नेतृत्व में उनके सशक्त और महत्वाकांक्षी होने के अतिरिक्त, एक मुख्य कारण यह भी था कि औरंगजेब की मृत्यु के पूर्व ही गृहयुद्धों और शिवाजी के उत्कर्ष ने मुगल साम्राज्य को लड़खड़ा दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तीव्र गति से पतनोन्मुख हो चला था। भारतव्यापी अव्यवस्था ने दोनों प्रतिद्वंद्वियों के कार्यक्षेत्र को सुलभ और विस्तृत हो जाने दिया। आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध के सिलसिले में भारत में प्रथम कर्नाटक युद्ध छिड़ गया। यद्यपि इससे दोनों कंपनियों की स्थिति में विशेष फक्र नहीं पड़ा, तथापि कर्नाटक पर फ्रांसीसी विजय से यह अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित हो गया कि, यूरोपीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा की अपेक्षा भारतीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा कमजोर थी और दक्षिण भारतीय राजनीतिक हालात में इतनी खोखली थी कि उस पर बाहरी आधिपत्य संभव था।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का यथोचित विकास टामस रो के आगमन से आरंभ हुआ, जब उसके व्यावसायिक केंद्र सूरत, आगरा, अहमदाबाद तथा भड़ौच में स्थापित हुए। तत्पश्चात् बड़ी योजनापूर्ण विधि से अन्य केंद्रों की स्थापना हुई। मुख्य केंद्र समुद्री तटों पर ही बने, उनकी किलेबंदी भी की गई। इस प्रकार मुगल दखलंदाजी से वे दूर रह सकते थे। संकट के समय उन्हें समुद्री सहयोग सुलभ था। शांति के समय वे वहीं से वांछित दिशाओं में बढ़ सकते थे। इस तरह मछलीपटणनम् (1611), बालासोर (1631), मद्रास (1639), हुगली (1651), बंबई (1669) तथा कलकत्ता (1698) के केंद्रों की स्थापना हुई। बंबई, कलकत्ता, मद्रास विशाल व्यावसायिक केंद्र होने के अतिरिक्त, कंपनी के बड़े महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा शक्ति केंद्र भी बने। इनकी समृद्धि और शक्तिवर्धन में भारतीय व्यवसायियों ने भी, जिनके लिए आयात–निर्यात के बड़े लाभप्रद द्वार खुल गए थे, पूर्ण सहयोग दिया। वस्तुतः अंग्रेजों और भारतीय व्यवसायियों का गठबंधन कंपनी की प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

वैसे तो शाहजहां कालीन गृहयुद्ध तथा शिवाजी के उन्नयन से फैली अनिश्चितता ने कंपनी को स्पष्ट कर दिया था कि व्यापारिक सुरक्षा के लिए शक्तिसंचय आवश्यक

टिप्पणी

है, लेकिन उनकी साम्राज्यवादी धारणा का प्रथम प्रस्फुटन् 1688 में हुआ, जब कंपनी ने प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया कि हमारी लगान बढ़ोत्तरी पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है, जितना कि व्यवसाय पर। वही हमारी सेना का पालन करेगी, जब कई दुर्घटनाएं हमारे व्यवसाय में बाधा डालेंगी। वही भारत में हमें राष्ट्र का रूप देगी। उसके बगैर हम केवल बहुसंख्यक अनाधिकारी प्रवेशक मात्र ही रहेंगे। किंतु उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा तब असामयिक प्रमाणित हुई, जब वे मुगल राज्य से दंडित और अनादृत हुए। उनका संकट तीव्र था। इस परिस्थिति ने उन्हें शांतिप्रिय बना दिया। 1717 में मुगल सम्राट द्वारा कंपनी के सरमन दूतमंडल को बड़े महत्वपूर्ण व्यावसायिक अधिकार प्रदान किए गए।

यद्यपि दक्षिण में डूप्ले की साम्राज्यवादी योजनाओं से कंपनी को दिशा ज्ञान हुआ और फ्रांसीसी पराजय से उनकी सैन्यशक्ति का सिक्का जमा, तथापि उनके साम्राज्य का बीजारोपण बंगाल से ही हुआ। मराठों के आक्रमणों ने पहले ही बंगाल की सेना को क्षीण, खजाने को खोखला और आंतरिक व्यापार को विच्छित कर दिया था। अयोग्य सिराजुद्दौला अपने उद्दंड स्वभाव और दरबारियों के धोखे से मजबूर हो गया। अंततः षड्यंत्र कुशल क्लाइव ने जगत सेठ और अमीचंद के षड्यंत्र में योगदान देकर प्लासी के युद्ध में (1757) सिराज को परास्त कर अंग्रेजी साम्राज्य की नींव में पहली ईंट डाल दी। इसके बाद का बंगाल का कुछ वर्षों का इतिहास कालिख से लिखा गया, जिसमें अनैतिकता का तांडव हुआ। नवाब मीर कासिम ने कंपनी का गतिरोध किया, किंतु बक्सर के युद्ध में मीर कासिम, अवध के नवाब तथा मुगल बादशाह की सम्मिलित ताकत की पराजय हुई। फलस्वरूप बंगाल, बिहार, उड़ीसा, अवध और दिल्ली कंपनी के प्रभुत्व में आ गए। किंतु कूटनीतिज्ञ क्लाइव अभी साम्राज्य का उत्तरदायित्व संभालने को तैयार न था। अस्तु उसने मुगल बादशाह से बंगाल के शासन में हस्तक्षेप करने का कंपनी को वैध अधिकार दिला दिया।

किंतु अंग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और उद्धारक हेस्टिंग्ज ही था। जैसा प्रसिद्ध इतिहासकार पणिक्कर का कथन है, यदि पेशवा बाजीराव ने दक्षिण को अंसगठित न किया होता तो मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी अंग्रेजों की अपेक्षा मराठे ही होते, किंतु, मराठों की पानीपत की पराजय (1761) से मराठा संगठन को मार्मांतक आघात पहुंचा। दूसरी ओर मराठा, निजाम, हैदर अली और नवाब कर्नाटक की व्यक्तिगत स्वार्थपरता और पारस्परिक वैमनस्य ने अंग्रेजों के विरुद्ध उनका संयुक्त मोर्चा नहीं बनने दिया। यही कंपनी का सबसे बड़ा सौभाग्य था। हेस्टिंग्स ने दूरदर्शितापूर्वक पहले तो नवाब अवध को मित्र बनाकर मराठों के विरुद्ध अपनी सीमारेखा सुदृढ़ की, फिर रुहेला युद्ध में अवध को मराठों का दुश्मन बना दिया। तब विकट परिस्थिति में असीम धैर्य और साहस के साथ मराठों की शक्ति पर सफल आघात किया और हैदर अली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू को संधि करने पर मजबूर किया। शासकीय दृष्टिकोण से भी उसने दीवानी के आडंबर को मिटाकर कृषि शासन, न्याय शासन तथा चुंगी शासन को व्यवस्था की रूपरेखा दी।

टिप्पणी

मेधावी न होते हुए भी उसका उत्तराधिकारी कार्नवालिस अनुशासन, ईमानदारी और चारित्रिक दृढ़ता में अछूता था। उसने मनोयोग से शासन का सरंक्षण किया। उसने स्थायी बंदोबस्त की स्थापना कर दुखी बंगाल को समृद्ध बनाया तथा भ्रष्ट ब्रिटिश नौकरशाही को परिष्कृत कर उसे वह प्रतिष्ठा दी, जिसके कारण ब्रिटिश नौकरशाही के इस्पाती ढांचे की नींव पड़ी। उसने टीपू की शक्ति को बहुत कुछ तोड़ दिया। पिट्स इंडिया ऐक्ट द्वारा पार्लियामेंट ने कपंनी की नीति और व्यवधान में हस्तक्षेप करने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

साम्राज्यवादी वेलेजली ने युद्ध और नीति से ब्रिटिश साम्राज्य का खूब प्रसार किया। टीपू नष्ट हो गया। ओवन के कथनानुसार, पेशवा के वेलेजली के संरक्षण में आने से अब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की अपेक्षा, ब्रिटिश साम्राज्य का भारत हो गया। फिर मराठा सरदारों को अलग–अलग हराकर उन्हें सहायक संधि करने के लिए मजबूर किया। अवध का विस्तार घटाकर, उसे अपने प्रभुत्व के अंतर्गत कर लिया। सहायक संधि वेलेजली के साम्राज्यवादी प्रसारण का अद्भुत यंत्र था, जिसमें फ्रांसीसी प्रभाव का भी भारत से समूल उच्छेद हो गया। फिर मराठों की रही–सही शक्ति भी लार्ड हेस्टिंग्स ने तोड़ दी।

अब साम्राज्य प्रसार में कंपनी को पीछे मुड़कर देखने की जरूरत नहीं थी। गुरखों की पराजय से कंपनी की उत्तर सीमांत रेखा हिमालय के चरणों तक जा पहुँची। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद, सिक्खों को पराजित कर पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में संमिलित कर लिया गया। अफगानों के युद्ध से उत्तर पश्चिमी सीमा फिर पहाड़ों से जा टकराई। पूरा बर्मा कंपनी के अधिकृत हुआ और उत्तर–पूर्वी सीमांत रेखा सुदृढ़ हुई।

इधर 1813 के चार्टर ऐक्ट से चीनी व्यापार को छोड़ सभी भारतीय व्यापारिक अधिकार कंपनी से ले लिए गए। अब कंपनी विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक संस्था थी। कंपनी के साम्राज्यवादी प्रसार के इतिहास में लार्ड बेंटिक के काल में राममोहन राय के सहयोग से भारत के सांस्कृतिक जागरण का सूत्रपात ब्रम्ह समाज से शुरू हुआ और अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक सुधार हुए।

कंपनी का अंतिम साम्राज्यवादी स्तंभ था–लार्ड डलहौजी, जिसने अपनी विजयों तथा व्यपगत सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स) के विस्तृत प्रयोग से अनेक राज्यों, राजसी पदवियों तथा पेंशनों का लोप कर दिया। इसके अलावा उसने अनेक महत्वपूर्ण शासकीय सुधारों से भारत के आधुनिकीकरण में योगदान दिया, जैसे–ग्रांड ट्रंक रोड का पुनर्निर्माण, रेल, टेलीग्राफ, पोस्ट आफिस तथा केंद्रीय लेजिस्लेटिव कांउंसिल की स्थापना। उसी के प्रयत्नों से महिला तथा रुड़की इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई।

कंपनी के शासन का 1857 की राज्यक्रांति से अंत हुआ। कंपनी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहले भी अनेक विस्तृत, असंगठित छिटपुट प्रयत्न हो चुके थे, किंतु सन् 1857 के विस्फोट ने अति तीव्र रूप धारण किया। इतिहासकारों में इस विद्रोह की प्रकृति के संबंध में तीव्र मतभेद होते हुए भी, इतना तो निश्चित है कि अंग्रेजी सत्ता को निकालने के लिए भारतीयों का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था, जिसको विशेषतया अवध में विस्तृत

जन–सहयोग प्राप्त था। यह भी एक विचित्र संयोग था कि अन्य भागों में व्याप्त संघर्ष के अग्रणी प्रयास अवधवासी के ही थे। अस्तु, निस्संदेह यह ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ भारतीय संघर्ष का श्रीगणेश था। कंपनी के शासन का अंत 1858 में हुआ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय साम्राज्य की बागडोर अपने हाथों में संभाली।

1756 से 1857 तक के कंपनी के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास में सांस्कृतिक पक्ष छोटा होते हुए भी निस्संदेह महत्वपूर्ण है। जैसा पनिक्कर का कथन है – बक, विलियम जोंस तथा मेकाले सांस्कृतिक चेतना के वे ब्रिटिश प्रतीक हैं, जिनसे प्रेरित होकर राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा दयानंद सरस्वती जैसे भारतीय नवरत्नों के योग से सांस्कृतिक पुनर्जागरण संभव हो सका, राष्ट्रीय आत्म–सम्मान जागा और आधुनिक भारतीयता ने जन्म लिया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की भारत पर प्रमुसत्ता

ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूरे भारत में धीरे–धीरे अपने पैर पसारे। कंपनी ने किसी भी भारतीय रियासत में तुरंत ही कब्जा नहीं किया बल्कि उसकी राजनीतिक, आर्थिक स्थिति को पूरी तरह समझने के बाद ही उसका अधिग्रहण किया। 1757 से 1857 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा भारतीय राज्यों पर कब्जे की प्रक्रिया को देखें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। किसी अनजान इलाके में कंपनी ने सीधे हमला नहीं किया। उसने किसी भी भारतीय रियासत का अधिग्रण करने से पहले विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया। व्यापार में ईस्ट इण्डिया कंपनी के इस एकाधिकार की कई अंग्रेज व्यापारियों ने मुखालफत की और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में 'दि इंडियन कंपनी ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' नामक एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था की स्थापना की। नयी और पुरानी दोनों कंपनियों में कड़ी प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी, जिसमें पुरानी कंपनी के पैर उखड़ने लगे, किन्तु भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही जगह अत्यन्त कटु और अप्रतिष्ठाजनक प्रतिद्वंद्विता के बाद 1708 ई. में समझौता हुआ, जिसके अंतर्गत दोनों को मिलाकर एक कंपनी बना दी गई और उसका नाम रखा गया 'दि यूनाइडेट कंपनी ऑफ दि मर्चेंट्स ऑफ इंग्लैण्ड ट्रेडिंग टू दि ईस्ट इंडीज'। यह संयुक्त कंपनी बाद में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के नाम से ही मशहूर रही और डेढ़ सौ वर्षों में वह मात्र एक व्यापारिक निगम न रहकर एक ऐसी राजनीतिक एवं सैनिक संस्था बन गई, जिसने सम्पूर्ण भारत पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली।

1857 में प्रशासन

ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों से तंग आकर क्रांतिकारियों ने 1857 की क्रांति को अंजाम दिया। 1857 का भारतीय विद्रोह, जिसे प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, सिपाही विद्रोह और भारतीय विद्रोह के नाम से भी जाना जाता है, ब्रितानी शासन के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह था। यह विद्रोह दो वर्षों तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों में चला। इस विद्रोह का आरंभ छावनी क्षेत्रों में छोटी झड़पों तथा आगजनी से हुआ था परंतु शीघ्र ही इसने एक बड़ा रूप ले लिया। विद्रोह का अंत भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की समाप्ति के साथ हुआ और पूरे भारतीय साम्राज्य पर ब्रितानी ताज का प्रत्यक्ष शासन

आरंभ हो गया जो अगले 90 वर्षों तक चला। 1857 ई. में भारतीय सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। कंपनी ने कुछ गद्दार भारतीयों की मदद से विद्रोह को दबा तो दिया, लेकिन भारतीयों के कुछ वर्गों में विरोध और बगावत की आग भड़कती रही। यह बगावत ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए खतरनाक साबित हुई। 1858 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी को खत्म कर दिया गया और भारत की प्रभुसत्ता ब्रिटेन के सम्राट ने स्वयं ग्रहण कर ली। ईस्ट इंडिया कंपनी ने रॉबर्ट क्लाईव के नेतृत्व में सन 1757 में प्लासी का युद्ध जीता। युद्ध के बाद हुई संधि में अंग्रेजों को बंगाल में कर मुक्त व्यापार का अधिकार मिल गया। सन 1764 में बक्सर का युद्ध जीतने के बाद अंग्रेजों का बंगाल पर पूरी तरह से अधिकार हो गया। इन दो युद्धों में हुई जीत ने अंग्रेजों की ताकत को बहुत बढ़ा दिया और उनकी सैन्य क्षमता को परम्परागत भारतीय सैन्य क्षमता से श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया। कंपनी ने इसके बाद सारे भारत पर अपना प्रभाव फैलाना आरंभ कर दिया। सन 1845 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने सिंध क्षेत्र पर रक्तरंजित लड़ाई के बाद अधिकार कर लिया। सन 1839 में महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद कमजोर हुए पंजाब पर अंग्रेजों ने अपना हाथ बढ़ाया और सन 1848 में दूसरा अंग्रेज–सिक्ख युद्ध हुआ। सन् 1849 में कंपनी का पंजाब पर भी अधिकार हो गया। सन् 1853 में आखरी मराठा पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहेब की पदवी छीन ली गयी और उनका वार्षिक खर्चा बंद कर दिया गया। सन 1854 में बरार और सन 1856 में अवध को कंपनी के राज्य में मिला लिया गया।

टिप्पणी

भारत सरकार 1935 अधिनियम के महत्वपूर्ण तथ्य

1935 अधिनियम को गोलमेज के बाद आखिरकार ब्रिटिश संसद ने मंजूरी दे दी। इस अधिनियम से स्वतंत्र भारत के संविधान के लिए काफी कुछ लिया गया है। 1935 में गोलमेज सम्मेलन के बाद, ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम को मंजूरी दे दी, जिसने ब्रिटिश भारत के सभी प्रांतों में स्वतंत्र विधानसभाओं की स्थापना, एक केंद्रीय सरकार का निर्माण, जिसमें ब्रिटिश प्रांत और राजघराने, दोनों शामिल होंगे और मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को अधिकृत कर दिया। आगे चलकर स्वतंत्र भारत के संविधान ने इस अधिनियम से काफी कुछ ग्रहण किया। इस अधिनियम ने एक द्विसदनीय राष्ट्रीय संसद और ब्रिटिश सरकार के दायरे में एक कार्यकारी शाखा का भी प्रावधान प्रस्तुत किया। हालांकि राष्ट्रीय महासंघ कभी अस्तित्व में नहीं आया, फिर भी प्रांतीय विधानसभाओं के लिए देशव्यापी चुनाव 1937 में आयोजित किये गए। प्रारंभिक हिचकिचाहट के बावजूद कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया और ब्रिटिश भारत के ग्यारह में से सात प्रांतों में जीत हासिल की। इन प्रांतों में व्यापक शक्तियों के साथ कांग्रेस की सरकार का गठन किया गया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बाद से भारतीय लोगों ने अपने देश की सरकार में लगातार बड़ी भूमिका की मांग की। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश युद्ध प्रयासों के लिए भारतीयों के योगदान करने का मतलब था कि ब्रिटिश राजनीतिक प्रतिष्ठान के अधिक रूढ़िवादी तत्वों में संवैधानिक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करना। इसी के

परिणामस्वरूप भारत सरकार का 1919 अधिनियम पारित हुआ। इस अधिनियम ने सरकार के लिये एक नव प्रणाली की शुरुआत की, जिसे प्रांतीय द्विशासन के रूप में जाना जाता था। यानी कुछ क्षेत्रों की सरकार (जैसे शिक्षा) को प्रांतीय विधायिका के लिए जिम्मेदार मंत्रियों के हाथों में रखा गया, जबकि अन्य (जैसे–सार्वजनिक व्यवस्था और वित्त) को ब्रिटिश नियुक्त प्रांतीय गवर्नर के लिए जिम्मेदार अधिकारियों के हाथ में बनाए रखा गया, जबकि अधिनियम भारतीयों द्वारा सरकार में एक बड़ी भूमिका निभाने की मांग का एक प्रतिबिंब था। इसके साथ ही भारत की व्यवस्था में उस भूमिका का क्या मतलब हो सकता है, इसके बारे में ब्रिटिश भय का एक प्रतिबिंब (और निश्चित रूप से ब्रिटिश के हितों के लिए) था।

इस व्यवस्था के खिलाफ लंदन में नई कंजरवेटिव प्रभुत्व राष्ट्रीय सरकार ने अपने स्वयं के प्रस्ताव (व्हाइट पेपर) का मसौदा तैयार करने के साथ आगे आने का निर्णय लिया। लॉर्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक संयुक्त संसदीय चयन समिति ने काफी हद तक व्हाइट पेपर की समीक्षा की। इस व्हाइट पेपर के आधार पर भारत सरकार के बिल का निर्माण किया गया था। समिति स्तर पर बाद में कट्टरता को शांत किया गया, सुरक्षा को मजबूत किया गया और केंद्रीय विधानसभा (केंद्रीय विधायक का निचला सदन) के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव का पुनः आयोजन किया गया। बिल को विधिवत अगस्त 1935 में कानून में पारित किया गया।

हालांकि भारतीय मांगों को पूरा करने के लिए भारत सरकार के 1935 के अधिनियम को थोड़ा और आगे जाना चाहिए था। इसकी मसौदा सामग्री में बिल का विस्तार और भारतीय भागीदारी की कमी दोनों का अर्थ था – भारत में सर्वश्रेष्ठ निरुत्साह प्रतिक्रिया के साथ अधिनियम का होना, जबकि ब्रिटेन में एक महत्वपूर्ण तत्व के लिए यह कट्टरपंथी साबित हुई। हालांकि स्वायत्तता की मात्रा और प्रांतीय स्तर की शुरुआत महत्वपूर्ण सीमाओं के अधीन थी। प्रांतीय गवर्नर की महत्वपूर्ण आरक्षित शक्तियों को बरकरार रखा गया और ब्रिटिश अधिकारियों ने भी एक जिम्मेदार सरकार के अधिकार बनाए रखे। अधिनियम के कुछ हिस्सों की मांग भारत संघ को स्थापित करना था लेकिन राजसी राज्यों के शासकों के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो पाया। जब अधिनियम के अंतर्गत पहले चुनाव का आयोजन हुआ तब अधिनियम का शेष भाग 1937 में लागू हुआ।

1935 अधिनियम की विशेषताएं

भारत सरकार के अधिनियम 1935 से एक की कमी 1919 के अधिनियम के साथ विरोधाभास हो गई, जिसके चलते भारतीय राजनीतिक विकास के लिए उससे संबंधित उस अधिनियम का उद्देश्य के व्यापक दर्शन को स्थापित किया गया। 20 अगस्त, 1917 को हाउस ऑफ कॉमंस के लिए भारत के मंत्री एडविन मोंटेग्यू (17 जुलाई, 1917–19 मार्च, 1922) के वक्तव्य पर आधारित 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना उद्धृत है, जो वादा करती है –

''ब्रिटिश साम्राज्य के एक अभिन्न हिस्से के रूप में भारत में जिम्मेदार सरकार की प्रगतिशील प्रस्तुति के लिए एक दर्शन के साथ स्वयंशासी संस्था का धीरे–धीरे विकास होगा।''

टिप्पणी

कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे मौजूदा डोमिनियन के साथ भारतीय मांगों में अब ब्रिटिश भारत में संवैधानिक समता को प्राप्त करना था, जिसका अर्थ था ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में सम्पूर्ण स्वायत्तता। ब्रिटिश राजनीतिक सक्रिल में एक महत्वपूर्ण तत्व के कारण शक किया गया कि भारतीय इस आधार पर उनके देश को चलाने में सक्षम थे और पर्याप्त सुरक्षा के साथ, शायद, क्रमिक संवैधानिक विकास की एक लंबी अवधि के बाद एक उद्देश्य के रूप में डोमिनियन स्थिति को देखा। उनके बीच यह तनाव और भारतीय और ब्रिटिश के भीतर दृष्टि के परिणामस्वरूप 1935 अधिनियम के बेढंगे समझौते को पाया गया जिसमें इसकी कोई अपनी प्रस्तावना नहीं थी, लेकिन 1919 अधिनियम की प्रस्तावना को इसकी जगह रखा गया फिर उस अधिनियम के अवशेष को निरस्त किया गया। सामान्य रूप से इसे ब्रिटिश से अधिक मिश्रित संदेशों के रूप में भारत में देखा गया, जो कि अपनी तरफ से निरुत्साही रवैए को सुझाती थी और भारतीय इच्छाओं को संतुष्ट करने की दिशा में 'न्यूनतम आवश्यक' के निकृष्टतम दृष्टिकोण का सुझाव देती थी। वहीं सबसे आधुनिक संविधानों के विपरीत, लेकिन उस समय के राष्ट्रमंडल संवैधानिक कानून के साथ सामान्य, अधिनियम ने अधिकार के बिल को नई प्रणाली के भीतर शामिल नहीं किया।

1935 के अधिनियम में सरकार की वास्तविकता

1935 का अधिनियम ब्रिटिश सरकार ने अपनी सहूलियत के हिसाब बनाया था। वे जब भी चाहते उसमें कोई भी बदलाव या उस पर पूरा कानूनी नियंत्रण कर सकते थे। अधिनियम को ठीक से पढ़ने से पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार ने इसे अपने लिए तैयार किया है, जब भी उन्हें महसूस होगा तब वे किसी भी समय कानूनी उपकरण के साथ इस पर पूरा नियंत्रण कर सकते थे। हालांकि बिना किसी सटीक कारण के ऐसा करने से भारत के समूह के साथ उनकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाती, जिनका उद्देश्य अधिनियम को प्राप्त करना था। जिम्मेदार सरकार की एक झलक प्रस्तुत की है लेकिन वास्तविकता का अभाव है, मामले के अनुसार रक्षा और विदेशी मामलों में जरूरी शक्तियों की कमी है, राज्यपाल जनरल को आवश्यक तौर पर मंत्री गतिविधि के लिए सीमा प्रदान की गई है और भारतीय राज्यों के प्रतिनिधित्व के उपाय को नकारात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है और यहां तक कि लोकतांत्रिक नियंत्रण की शुरुआत की कोई संभावना नहीं है। एक अत्यंत विशिष्ट सरकार के निर्माण के विकास को देखने के लिए यह अत्यंत रुचि का विषय होगा। निश्चित रूप से, अगर यह सफलतापूर्वक संचालित होता है, तो सबसे अधिक श्रेय भारतीय नेताओं की राजनीतिक क्षमता को जाएगा, जिन्होंने औपनिवेशिक राजनेता की तुलना में अधिक गंभीर कठिनाइयों का सामना किया है और स्वयं–सरकार की प्रणाली को विकसित किया, जो कि अब डोमिनियन स्तर में पराकाष्ठा पर है। लॉर्ड लोथियन ने लंबी बातचीत में इस बिल के बारे में अपने विचार रखे थे। मैं आत्मसमर्पण किए हुए कट्टरों के साथ सहमत हूं। वे जिन्हें किसी भी संविधान की आदत नहीं है, उन्हें कौन–सी महान शक्तियों का उपयोग करना है, महसूस नहीं कर सकते हैं। यदि आप इस संविधान को देखेंगे तो ऐसा लगेगा

टिप्पणी

कि सभी शक्तियां गवर्नर जनरल और राज्यपाल में निहित हैं। लेकिन यहां पूरी शक्ति राजा में निहित नहीं है। राजा के नाम पर सब कुछ किया जाता है, लेकिन क्या राजा उसमें कभी हस्तक्षेप करता है? एक बार सत्ता विधायिका के हाथों में आ जाती है, राज्यपाल या गवर्नर जनरल कभी हस्तक्षेप नहीं करते हैं. ... सिविल सेवा मदद करती है। आप भी इसे महसूस करेंगे। एक बार एक नीति निर्धारित हो जाती है तो वे इसे वफादारी और ईमानदारी से आगे ले जाएंगे। हमें यहां कट्टरों से लड़ना था। आपको कभी एहसास नहीं होगा कि श्री बाल्डविन और सर सैमुएल होरे द्वारा कितने महान साहस को दिखाया गया है। हम कट्टरों को छोड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि हमें एक अलग भाषा में बातचीत करनी थी ।

1946 में प्रशासनिक व्यवस्था

1857 में सैनिकों द्वारा की गई बगावत ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ देश की आजादी के लिए पहली बगावत है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य सैनिकों ने भी ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों, सैनिकों से दुर्व्यवहार, चर्बी लगे कारतूसों का इस्तेमाल करने जैसी अनेक ऐसी नीतियों का विरोध किया, जो उनके अनुरूप नहीं थीं। जनवरी, 1946 में, सशस्त्र सेवाओं में कई विद्रोह भड़क उठे, जिनकी शुरुआत आरएएफ सैनिकों से हुई, जो ब्रिटेन के लिए अपनी स्वदेश वापसी की धीमी गति से व्यथित थे। फरवरी, 1946 में ये विद्रोह मुंबई में हुए रॉयल इंडियन नेवी के विद्रोह के साथ ही अपने चरम पर पहुंच गए, जिसके बाद कलकत्ता, मद्रास और करांची में अन्य विद्रोह हुए। हालांकि इन विद्रोहों को तेजी से दबा दिया गया। इन्हें भारत में काफी सार्वजनिक समर्थन हासिल हुआ और इसने ब्रिटेन में नई लेबर सरकार की गतिविधियों को प्रोत्साहित किया, जिसके परिणामस्वरूप कैबिनेट मिशन को भारत भेजा गया, जिसकी अध्यक्षता भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, लॉर्ड पैथिक लॉरेंस कर रहे थे और उनके साथ थे–सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, जो यहां पूर्व में चार साल पहले आ चुके थे। इसके अलावा 1946 के शुरू में, भारत में नए चुनाव आयोजित किये गए, जिसमें कांग्रेस को ग्यारह प्रांतों में से आठ में जीत हासिल हुई। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच वार्ता, विभाजन के मुद्दे पर लड़खड़ा गई। जिन्ना ने 16 अगस्त 1946 को डाइरेक्ट एक्शन डे (सीधी कार्रवाई दिवस) घोषित किया और ब्रिटिश भारत में शांतिपूर्वक एक मुस्लिम राष्ट्र की मांग को लक्ष्य बनाया। अगले ही दिन कलकत्ता में हिन्दू–मुस्लिम दंगे भड़क उठे और जल्दी ही इसकी आग पूरे भारत में फैल गई। हालांकि, भारत सरकार और कांग्रेस, दोनों ही तेजी से बदलते घटनाक्रम से अवाक थे।

सितंबर में, कांग्रेस के नेतृत्व वाली एक अंतरिम सरकार को स्थापित किया गया, जहां जवाहर लाल नेहरू एकजुट भारत के प्रधानमंत्री बने। बाद में उस वर्ष ब्रिटेन में लेबर सरकार ने, जिसका राजकोष हाल ही में समाप्त हुए द्वितीय विश्व युद्ध से खाली हो चुका था, भारत के ब्रिटिश शासन को समाप्त करने का फैसला किया और 1947 के आरंभ में ब्रिटेन ने जून, 1948 तक सत्ता के हस्तांतरण के अपने इरादे की घोषणा की। जैसे–जैसे स्वतंत्रता नजदीक आती गई, पंजाब और बंगाल के प्रांतों में हिंदुओं

टिप्पणी

और मुसलमानों के बीच हिंसा बेरोकटोक जारी रही। बढ़ती हुई हिंसा को रोक पाने में ब्रिटिश सेना की अक्षमता को देखते हुए, नये वाइसराय, लुईस माउंटबेटन ने सत्ता हस्तांतरण की तारीख को आगे बढ़ा दिया, जिसके चलते स्वतंत्रता के लिए एक सर्वसम्मत योजना तैयार करने को छह महीने से कम बचे थे। जून 1947 में, राष्ट्रवादी नेताओं ने, जिनमें कांग्रेस की ओर से नेहरू और अबुल कलाम आजाद, मुस्लिम लीग की तरफ से जिन्ना, अछूतों की तरफ से बी.आर. अम्बेडकर और सिक्खों की तरफ से मास्टर तारा सिंह शामिल थे, धार्मिक आधार पर देश के विभाजन के लिए सहमती जताई। हिंदू और सिक्ख के वर्चस्व वाले क्षेत्रों को नए भारत में शामिल किया गया और मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को पाकिस्तान में। योजना के अंतर्गत पंजाब और बंगाल के मुस्लिम बहुल प्रांतों का विभाजन शामिल था। लाखों मुसलमान, सिक्ख और हिंदू शरणार्थी इस नई खिंची सीमा को पैदल ही पार कर गए। पंजाब में, जहां इस नई विभाजन रेखा ने सिक्ख क्षेत्रों को दो हिस्सों में बांटा, वहां इसके बाद भारी रक्तपात हुआ। बंगाल और बिहार में, जहां गांधी की उपस्थिति ने सांप्रदायिक गुस्से को शांत किया, वहां हिंसा काफी हद तक कम थी। कुल मिलाकर, नई सीमा के दोनों ओर के 250000 से 500000 लोग इस हिंसा में मारे गए। 14 अगस्त, 1947 को, पकिस्तान की नई सत्ता अस्तित्व में आयी, जहां मोहम्मद अली जिन्ना ने गवर्नर जनरल के रूप में कराची में शपथ ग्रहण की। उसके अगले दिन, 15 अगस्त 1947 को, भारत जो एक लघु भारतीय संघ था, अब एक स्वतंत्र देश बन चुका था और नई दिल्ली में इसके सरकारी समारोह शुरू हो चुके थे और जिसमें जवाहरलाल नेहरु ने प्रधान मंत्री का पद सम्भाला और वाइसरॉय लुई माउंटबेटन, इसके गवर्नर जनरल बने रहे।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किसके शासनकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की?
   (क) आर्यों के (ख) मौर्यों के
   (ग) अंग्रेजों के (घ) मुगलों के
2. मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों से अलग किसकी उपाधि ग्रहण की?
   (क) बादशाह की (ख) वजीर की
   (ग) मंत्री की (घ) लुटेरे की

1.3 स्वतंत्रता के बाद का भारतीय प्रशासन

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय प्रशासन की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके कारण हमारा भारतीय प्रशासन अन्य देशों के प्रशासनों से अलग है। तभी तो हमारे देश को विश्व की सबसे बड़ी प्रशासनिक व्यवस्था का दर्जा प्राप्त है। भारतीय संविधान की तर्ज पर ही भारतीय प्रशासन का आकार निर्धारित होता है। स्वतंत्रता के बाद के भारतीय प्रशासन की विशेषताएं निम्न हैं–

1. **समन्वित प्रशासनिक व्यवस्था**—भारतीय संघात्मक व्यवस्था के केंद्रोन्मुख होने और साथ ही एकात्मक तत्वों के समावेश ने भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के समन्वित स्वरूप को निर्धारित किया है। प्रशासनिक व्यवस्था पर केंद्र का वर्चस्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।
2. **प्रशासनिक सेवाओं में स्वतंत्र और निष्पक्ष चयन प्रणाली**—भारत में प्रशासनिक अधिकारियों के चयन का आधार केवल योग्यता को ही माना गया है और इस योग्यता के समुचित मूल्यांकन व परीक्षण हेतु निश्चित प्रणाली की व्यवस्था की जाती है। प्रशासनिक सेवा में भर्ती हेतु भारत में योग्यता व उपयुक्तता के अतिरिक्त कोई अन्य आधार विधिवत मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती हुये सर्वसाधारण के लिए खुली चयन व्यवस्था को अपनाया गया है। प्रशासन पर विशिष्ट वर्गों का एकाधिकार समाप्त हो गया है और इसमें जन साधारण का प्रतिनिधित्व बढ़ता जा रहा है। प्रशासन के प्रजातांत्रिक स्वरूप व चयन में योग्यता के निष्पक्ष आकलन की इन विशेषताओं को संविधान ने स्पष्टतः निर्धारित किया है। अब सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए लिंग, धर्म, जाति और नस्ल के भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है। संविधान ने राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबंध में समस्त नागरिकों के लिए अवसर की समानता की घोषणा की है। इन प्रावधानों के माध्यम से संविधान ने प्रशासन—तंत्र में सर्वसाधारण के प्रवेश द्वारा उसके जनतांत्रिक स्वरूप का मार्ग प्रशस्त किया है। अब प्रशासन का अभिजात्य स्वरूप नहीं रहा है। जन साधारण वर्ग के योग्य अधिकारी प्रशासनिक पदों पर आसीन हैं।

   प्रशासनिक सेवा में भर्ती चयन निष्पक्ष हो तथा चयन की प्रक्रिया बाहरी दबावों से मुक्त हो, इस प्रयोजन से संविधान द्वारा 'संघीय लोक सेवा आयोग' और राज्यों के लोक सेवा आयोगों की व्यवस्था की गई। प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती हेतु लोक सेवा आयोग योग्यता के निष्पक्ष मूल्यांकन हेतु निश्चित प्रणाली के आधार पर व्यक्तियों का चयन करता है। सामान्यता सरकार इस संदर्भ में आयोग के परामर्श को स्वीकार करती है तथा यदि सरकार किसी विशेष स्थिति में संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श को अस्वीकार करती है तो सरकार को ऐसी अस्वीकृति का कारण सहित ज्ञापन संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना होता है। राज्य के लोक सेवा आयोग द्वारा की गई सिफारिशों की अस्वीकृति की स्थिति में राज्य सरकार को यह ज्ञापन राज्य के विधान मंडल के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है। इन आयोगों के कार्यों पर राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार का दबाव न पड़े इस हेतु संविधान में उचित व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुसार लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य को उनके पद से राष्ट्रपति के आदेश द्वारा केवल कदाचार के आरोप पर ही हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति भी ऐसा आदेश तभी जारी कर सकता है जब कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय की निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार जांच के बाद ऐसे किसी आरोप को

सही पाकर संबंधित व्यक्ति को पदमुक्त करने की सिफारिश की गई हो। इस व्यवस्था का उद्देश्य लोक सेवा आयोग को स्वतंत्र और निष्पक्ष होकर कार्य करने की परिस्थितियां उत्पन्न करना है। यह साफ है कि संविधान ने ऐसी व्यवस्थाएं की हैं कि प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्ति के लिए चयन की प्रणाली को अधिकतम निष्पक्ष बनाया जा सके तथा यथा संभव चयन का योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई आधार न हो।

3. **आरक्षण व्यवस्था**–समाज के कमजोर व पिछड़े वर्ग प्रशासनिक सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व से वंचित न रहें, इसके लिए भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्ति के लिए अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन–जातियों व पिछड़े वर्ग हेतु आरक्षण का प्रावधान भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की विशेषता है। मंडल आयोग की सिफारिशें लागू होने के बाद प्रशासन में पिछड़े वर्गों के लिए भी स्थान आरक्षित किए गए हैं। संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि, राजकीय सेवाओं में व पदों पर नियुक्ति हेतु इन वर्गों के सदस्यों के दावों पर समुचित ध्यान दिया जाएगा। संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इन वर्गों के दावों पर समुचित ध्यान देने तथा सेवाओं में इन वर्गों के सदस्यों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के क्रम में यदि सरकार उनके लिए सेवाओं में आरक्षण का कोई विशेष उपबंध करती है तो उसका यह कार्य नागरिकों को दी गई अवसर की समता की गारंटी के प्रतिकूल नहीं समझा जाएगा।

4. **संविधान की प्रस्तावना के अनुसार प्रशासन के पांच उद्देश्य**–संविधान की प्रस्तावना में देश के प्रशासन के समक्ष पांच स्पष्ट उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं–

   1. न्याय
   2. स्वतंत्रता
   3. समानता
   4. बंधुत्व
   5. राष्ट्रीय एकता की स्थापना

   प्रशासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह इन उद्देश्यों को साकार करे। इन उद्देश्यों को व्यवहार में साकार करके ही वह अपना औचित्यता सिद्ध कर सकता है।

5. **संसदीय शासन व्यवस्था और उत्तरदायी कार्यपालिका**–भारतीय प्रशासन प्रणाली का स्वरूप संसदीय है, जिसमें वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद के हाथों में है। मंत्रिपरिषद संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। अगर संसद का मंत्रिपरिषद में विश्वास न रहे तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। केंद्र और राज्यों में समान रूप से संसदीय शासन व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार किया गया है।

6. **कार्यपालिका और न्याय पालिका का पृथक्करण और प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण**—देश में कार्यपालिका और न्यायपालिका के पृथक्करण और प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की व्यवस्था है ताकि वे अपनी शक्तियों का दुरुपयोग और सीमाओं का अतिक्रमण न करें।
7. **पृथक प्रशासनिक विधि का अभाव**—भारत में प्रशासन देश की विधि के अन्तर्गत ही कार्य करता है। यहां फ्रांस की तरह पृथक प्रश्यासकीय कानून और न्यायालयों की व्यवस्था नहीं की गई है।
8. **प्रशासन की राजनीतिक तटस्थता**—प्रशासनिक सेवाओं के सदस्यों की तटस्थता भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है। फलस्वरूप प्रशासन तंत्र के सदस्य सरकार की नीतियों को बिना किसी दलीय निष्ठा या स्वंय के आग्रह के पूर्ण निष्ठा से क्रियान्वित करते हैं तथा सरकार की नीतियों के पालन में उनकी निष्ठा पर सरकार के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रशासन की यह राजनीतिक तटस्थता भारत की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा ही निर्धारित की गई है।
9. **जनता के प्रति उत्तरदायित्व**—भारत में प्रशासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है। प्रशासन का जनता के प्रति उत्तरदायित्व परोक्ष रूप से स्थापित किया गया है। सबसे पहला ये कि हर प्रशासनिक विभाग के शीर्ष पर मंत्री होता है जो मंत्रिमंडल का सदस्य होने के नाते सामूहिक रूप से संसद की लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रशासन पर जनता का यह परोक्ष नियंत्रण भारतीय संविधान के संसदीय प्रजातंत्र की विशेषता से निर्धारित हुआ है। इस विशेषता के कारण जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं होते हुए भी मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के कारण प्रशासन जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व के प्रति सदैव जागरूक रहता है। दूसरा, संसद के सदस्य प्रशासन की कार्यप्रणाली व भूमिका के संबंध में विभिन्न प्रकार के प्रश्नों, काम रोको प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्तावों के माध्यम से प्रशासन पर नियंत्रण रखते हैं तथा उसे जनता के हितों के प्रति सजग बनाये रखते हैं। संसद और राज्य विधानमंडलों की विभिन्न संसदीय समितियां भी प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करती हैं। प्रशासन पर संसद या विधान मंडलों के सदस्यों द्वारा किया गया नियंत्रण, वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से प्रशासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाता है। तीसरा, विभिन्न प्रशासनिक उद्देश्यों व कार्य संचालन हेतु बनाई गई विभागीय समितियों में जनप्रतिनिधियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इस प्रकार की समितियों में जनप्रतिनिधियों की उपस्थिति प्रशासन को जनता के हितों के प्रति सचेत रखती है।
10. **प्रशासन सामाजिक न्याय एवं लोक कल्याण के लिए**—भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों ने प्रशासन पर सामाजिक न्याय व लोक कल्याण के जटिल उद्देश्यों के लिए निर्मित विविध प्रकार की नीतियों का क्रियान्वयन करने जैसे

महान उत्तरदायित्व आरोपित किये हैं। भारत जैसे देश में, जहां के सामाजिक न्याय व लोक कल्याण को राज्य का आधार स्वीकारा गया है, सामाजिक व आर्थिक क्रांति व पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से ही संपन्न किया जा सकता है। इस दायित्व ने प्रशासन के कार्य को जहां एक ओर कठिन बनाया है, वहीं उसके कार्य क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत भी किया है, जिससे प्रशासनिक व्यवस्था की कार्य परिधि अत्यंत विस्तृत व व्यापक हो गई है। इस तरह से राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया में भारतीय प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका बन गई है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. किसकी तर्ज पर भारतीय प्रशासन का आकार निर्धारित होता है?
   - (क) अर्थव्यवस्था की
   - (ख) सैन्य क्षमता की
   - (ग) भारतीय संविधान की
   - (घ) क्षेत्रफल
4. प्रशासनिक व्यवस्था पर किसका वर्चस्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है?
   - (क) राज्य का
   - (ख) जिलों का
   - (ग) दुनिया का
   - (घ) केंद्र का

1.4 केंद्र प्रशासन की संरचना

भारत में राष्ट्रपति, कार्यपालिका का सैद्धांतिक प्रधान होता है। वह कार्यपालिका का प्रमुख ही नहीं है बल्कि वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करता है। लेकिन उस पर शासन नहीं करता है। केंद्र प्रशासन का मुख्य कार्यकारी प्रधानमंत्री ही है क्योंकि शासन की वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री में ही निहित है। प्रधानमंत्री एक ऐसा राजनेता होता है, जो कि सरकार की कार्यकारिणी शाखा का संचालन करता है। प्रधानमंत्री अपने देश की संसद का सदस्य होता है। प्रधानमंत्री या अन्य कोई मंत्री छः माह तक बिना संसद का सदस्य रहते हुए भी पद पर बने रह सकते हैं लेकिन उन्हें छः महीने के अंदर किसी भी सदन का सदस्य बनना पड़ेगा। अगर मंत्री इस अवधि में सदस्य बनने में विफल रहते हैं तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हर बार छः माह के लिए आप सदन के सदस्य न रहते हुए भी मंत्री पद पर आसीन रहें। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण होता है।

शक्ति

राष्ट्र का असली शासक प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता करता है। वह लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है। प्रधानमंत्री सरकार के अंदर सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व होता है। प्रधानमंत्री की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के पश्चात प्रधानमंत्री अन्य मंत्रियों का चयन करता है, जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति

की व्यवहार में सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता होता है, जो अपने मंत्रिमंडल से सलाह करके राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण करता है तथा उन्हें संसद द्वारा पारित कराता है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. भारत में कौन कार्यपालिका का सैद्धांतिक प्रधान होता है?

(क) राष्ट्रपति	(ख) सम्राट
(ग) वित्त मंत्री	(घ) मुख्यमंत्री

6. सरकार के अंदर कौन सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व होता है?

(क) राष्ट्रपति	(ख) मुख्यमंत्री
(ग) विदेश मंत्री	(घ) प्रधानमंत्री

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (घ)

1.6 सारांश

शब्दकोष के अनुसार 'प्रशासन' शब्द अंग्रेजी शब्द 'एडमिनिस्टर' का रूपांतर है, जो लैटिन भाषा के दो शब्द 'एड + मिनिस्ट्रेर' से बना है, जिसका अर्थ कार्यों की व्यवस्था या व्यक्तियों की देखभाल करना है। प्रशासन के पूर्व 'लोक' शब्द प्रशासनिक क्रियाओं को सरकार तक सीमित कर देता है। अर्थात प्रशासन एक सामूहिक प्रक्रिया है। प्राचीन प्रशासन से लेकर अब तक भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, जिनका इस पुस्तक में विस्तार से विवरण दिया गया है। भारतीय नौकरशाही व्यवस्था, जो भारतीय प्रशासन की रीढ़ कही जा सकती है, उसका भी स्पष्ट विवरण दिया गया है। राजनीतिक नौकरशाही मतलब मंत्रिपरिषद, जो संसद सदस्यों और विधायकों अर्थात विधानमंडलों के माध्यम से जनता के सामने जवाबदेह हो और एक कार्यकारी नौकरशाही अर्थात 'सिविल' सेवा जो मंत्रियों की सहायता करती और उन्हें सलाह देती है तथा निर्णयों को लागू करती है। सरकार (कार्यपालिका) तथा विधायिका के कार्यों

पर निगरानी के लिए तथा न्याय करने के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका भी होती है। शासन के इन तीनों अंगों–विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का गठन भारतीय संविधान के बनाये गये ढांचे के दायरे में किया जाता है, जिसे 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया।

प्राचीन प्रशासन की बात करें तो प्राचीन काल का प्रशासन पूरी तरह सुव्यवस्थित था क्योंकि राजा और किसी भी मंत्री को हटाने की शक्ति जनता में थी और वे धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले मंत्री और राजा को हटा सकते थे। प्राचीन कालीन प्रशासनिक प्रणाली में समानता की कमी पाई जाती है। अलग–अलग युगों एवं कालों में प्रशासनिक व्यवस्था अलग–अलग रूपों में आगे बढ़ती गई। भारत की प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता काल के प्रशासन के मामले में हमारी जानकारी ज्यादा से ज्यादा अंदाजों और आकांक्षाओं पर आधारित है। दूसरी ओर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में खुदाई से जो अवशेष प्राप्त हुए उनकी बुनियाद पर यह जरूरी कहा जा सकता है कि यहां प्रशासनिक प्रणाली का सुव्यवस्थित स्वरूप विकसित था। पुरोहित लोग शासन करते थे, जो सुमेंर और अकात के पुरोहित राजाओं के समान थे। राज्य का स्वरूप केंद्रीकृत था। ऋग्वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का रूप राजाओं पर आधारित था। राज्य और राजा को जनता का उद्धार करने वाला माना जाता था। राजा अपने अलग–अलग मंत्रियों की सलाह पर शासन चलाता था। मंत्रियों में सबसे ऊंचा स्थान पुरोहितों का था।

मौर्यों के शासनकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की। चक्रवर्ती सम्राट का आदर्श चरितार्थ हुआ। कौटिल्य ने चक्रवर्ती क्षेत्र को साकार रूप दिया। उसके अनुसार चक्रवर्ती क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय से हिन्द महासागर तक सारा भारतवर्ष है। मौर्य युग में राजतंत्र के सिद्धांत की विजय हुई। इस युग में गण–राज्यों का ह्रास होने लगा और शासन सत्ता अत्यधिक केंद्रित हो गई। साम्राज्य की सीमा पर तथा साम्राज्य के अंदर कुछ अर्धकृस्वतंत्र राज्य थे, जैसे–कंबोज, भोज, पैत्तनिक तथा आटविक राज्य। साम्राज्य को प्रशासन के लिए चार और प्रांतों में बांटा गया था। पूर्वी भाग की राजधानी तोसली थी, तो दक्षिणी भाग की सुवर्णगिरि। इसी प्रकार उत्तरी तथा पश्चिमी भागों की राजधानियां क्रमशः तक्षशिला तथा उज्जैन (उज्जयिनी) थीं।

मुगलकालीन शासन प्रणाली बहुत ही केंद्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था थी। इसमें भारतीय तथा विदेशी (फारस व अरब) तत्वों का सम्मिश्रण था। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों से अलग 'बादशाह' की उपाधि ग्रहण की। बादशाह शब्द के 'बाद' का शाब्दिक अर्थ है– स्थायित्व एवं स्वामित्व तथा शाह का अर्थ है–मूल एवं स्वामी। इस तरह पूरे शब्द 'बादशाह' का शाब्दिक अर्थ है–'ऐसा स्वामी या शक्तिशाली राजा, जिसे उपदस्थ न किया जा सके। मुगल साम्राज्य चूंकि पूर्ण रूप से केंद्रीकृत था, इसलिए 'बादशाह' की शक्ति असीम थी।

ब्रिटिश साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य था जो इतिहास में सबसे बड़ा माना जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य एक वैश्विक ताकत था, जिसके अंतर्गत वे क्षेत्र थे, जिन पर संयुक्त

टिप्पणी

राजशाही का अधिकार था। यह साम्राज्य इतिहास का सबसे बड़ा साम्राज्य था और अपने चरम पर तो विश्व के कुल भू–भाग और जनसंख्या का एक–चौथाई भाग इसके अधीन था। उस समय लगभग 50 करोड़ लोग ब्रिटिश ताज के नियंत्रण में थे। आज इसके अधिकांश सदस्य राष्ट्रमंडल के सदस्य हैं और इस प्रकार आज भी ब्रिटिश साम्राज्य का ही एक अंग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण भाग था, ईस्ट इंडिया ट्रेडिंग कंपनी, जो एक छोटे व्यापार के साथ आरंभ की गई थी और बाद में एक बहुत बड़ी कंपनी बन गई, जिस पर बहुत से लोग निर्भर थे। ब्रिटिश राज का इतिहास 1858 और 1947 के बीच भारतीय उपमहाद्वीप पर ब्रिटिश शासन की अवधि को संदर्भित करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय प्रशासन की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके कारण हमारा भारतीय प्रशासन अन्य देशों के प्रशासनों से अलग है। तभी तो हमारे देश को विश्व की सबसे बड़ी प्रशासनिक व्यवस्था का दर्जा प्राप्त है। भारतीय संविधान की तर्ज पर ही भारतीय प्रशासन का आकार निर्धारित होता है।

भारतीय संघात्मक व्यवस्था के केंद्रोन्मुख होने और साथ ही एकात्मक तत्वों के समावेश ने भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के समन्वित स्वरूप को निर्धारित किया है। प्रशासनिक व्यवस्था पर केंद्र का वर्चस्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

भारत में राष्ट्रपति, कार्यपालिका का सैद्धांतिक प्रधान होता है। वह कार्यपालिका का प्रमुख ही नहीं है बल्कि वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करता है। लेकिन उस पर शासन नहीं करता है। केंद्र प्रशासन का मुख्य कार्यकारी प्रधानमंत्री ही है क्योंकि शासन की वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री में ही निहित है। प्रधानमंत्री एक ऐसा राजनेता होता है, जो कि सरकार की कार्यकारिणी शाखा का संचालन करता है। प्रधानमंत्री अपने देश की संसद का सदस्य होता है। प्रधानमंत्री या अन्य कोई मंत्री छः माह तक बिना संसद का सदस्य रहते हुए भी पद पर बने रह सकते हैं लेकिन उन्हें छः महीने के अंदर किसी भी सदन का सदस्य बनना पड़ेगा। अगर मंत्री इस अवधि में सदस्य बनने में विफल रहते हैं तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हर बार छः माह के लिए आप सदन के सदस्य न रहते हुए भी मंत्री पद पर आसीन रहें। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण होता है।

राष्ट्र का असली शासक प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता करता है। वह लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है। प्रधानमंत्री सरकार के अंदर सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व होता है। प्रधानमंत्री की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के पश्चात प्रधानमंत्री अन्य मंत्रियों का चयन करता है, जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति की व्यवहार में सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता होता है, जो अपने मंत्रिमंडल से सलाह करके राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण करता है तथा उन्हें संसद द्वारा पारित कराता है।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **पण्य** : व्यापार के योग्य।
- **कर्मांत** : कारखाना।
- **पण** : 11 या 20 माशे के बराबर एक पुराना सिक्का, तांबे का एक पुराना सिक्का जो अस्सी कौड़ियों के बराबर होता था।
- **पदाति** : पैदल सिपाही।
- **रथिक** : रथ का सवार।
- **दीवान** : प्रधानमंत्री, शाही दरबार या अदालत।
- **मनसबदार** : अधिकारी।
- **सरखत** : आज्ञापत्र, परवाना।
- **शरीअत** : खुदा के बनाए हुए कानून, न्याय, मजहबी कानून।
- **सद्र** : सर्वोच्च स्थान, सदर मुकाम, सभापति।
- **मुफ्ती** : फतवा देने वाला, इस्लामी कानून के मुताबिक दंडाज्ञा करने वाला।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. शब्दकोष के अनुसार 'प्रशासन' शब्द किस अंग्रेजी शब्द का रूपांतर है?
2. किस काल से भारत में सुदृढ़ लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था विद्यमान थी?
3. मुगल साम्राज्य का संस्थापक कौन था?
4. ब्रिटिश साम्राज्य को इतिहास का कैसा साम्राज्य माना जाता है?
5. प्रशासनिक अधिकारियों के चयन का आधार किसे माना जाता है?
6. शासन की वास्तविक शक्ति किसमें निहित होती है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के प्रशासन के स्वरूप और विकास की व्याख्या कीजिए।
2. मौर्यों के शासनकाल में भारत की राजनीतिक स्थितियों की समीक्षा कीजिए।
3. मुगलकालीन शासन प्रणाली की खास–खास बातों पर प्रकाश डालिए।
4. ब्रिटिश शासनकाल की खूबियों और खराबियों की विवेचना कीजिए।
5. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय प्रशासन की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
6. केंद्र के प्रशासन की संरचना व शक्ति की समीक्षा कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

1. डॉ. एस. आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
2. डॉ. एस. सी. सिंघल, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय शासन एवं गजनीलि लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
4. मोहित भट्घ्टाचार्य, लोक प्रशासन के नये आयाम जवाहर बुक सेंटर।
5. भारत 2015, पब्लिकेशन डिवीजन।

इकाई 2 केंद्रीय कार्यपालिका

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 राष्ट्रपति
  2.2.1 राष्ट्रपति का निर्वाचन
  2.2.2 राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति
2.3 प्रधानमंत्री
  2.3.1 प्रधानमंत्री का चयन या नियुक्ति
  2.3.2 प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति
2.4 मंत्रिपरिषद
2.5 कैबिनेट समितियां
2.6 प्रधानमंत्री कार्यालय
2.7 कैबिनेट सचिवालय और कैबिनेट सचिव की भूमिका
2.8 केंद्रीय सचिवालय
2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.10 सारांश
2.11 मुख्य शब्दावली
2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

भारत संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष तथा प्रजातांत्रिक गणतंत्र है। यह संसार का सबसे बड़ा प्रजातंत्र भी है। भारत की केंद्रीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद से मिलकर बनती है। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष तथा सलाहकार होता है। राष्ट्रपति राष्ट्र का अध्यक्ष होता है और औपचारिक कार्यपालक होता है। केंद्र के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम से ही होते हैं। भारतीय संविधान ने औपचारिक रूप से बहुत–सी शक्तियां राष्ट्रपति को प्रदान की हैं, लेकिन वह स्वयं कोई निर्णय नहीं ले सकता। वह अपने मंत्रियों की सलाह पर कार्य करता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद ही वास्तविक कार्यपालिका का निर्माण करते हैं।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। मंत्रिमंडल का प्रधान तथा राजनीतिक व्यवस्था का केंद्र बिंदु होने के नाते वह भारत का असली कार्यकारी होता है। प्रधानमंत्री मंत्रिमंडल या केंद्रीय मंत्रिपरिषद से सलाह लेता है, जो कि भारत सरकार का सामूहिक निर्णय निर्मात्री निकाय है।

प्रस्तुत इकाई में भारत की केंद्रीय कार्यपालिका का विस्तृत अध्ययन किया गया है तथा राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद के कार्यों की विवेचना की गई है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारत के राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रक्रिया तथा शक्तियों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- भारत के प्रधानमंत्री की शक्तियों से परिचित हो पाएंगे;
- भारतीय मंत्रिपरिषद और उसके कार्यों को समझ पाएंगे;
- प्रधानमंत्री कार्यालय की गतिविधियों से परिचित हो पाएंगे;
- कैबिनेट सचिवालय और कैबिनेट सचिव की भूमिका को समझ पाएंगे;
- केंद्रीय सचिवालय के बारे में जान पाएंगे।

2.2 राष्ट्रपति

भारतीय संघ में कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा गया है। भारत में ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका का एक वैधानिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उसकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के बजाय ब्रिटिश सम्राट जैसी होती है। राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रथम नागरिक होता है। हमारी संवैधानिक व्यवस्था में यह एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था तथा वैधानिक आवश्यकता है।

2.2.1 राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं–अनुच्छेद 58 के अनुसार राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित होने वाले व्यक्ति के लिए निम्नलिखित योग्यताएं निश्चित की गई हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो;
2. वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो;
3. उसे भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए नहीं होना चाहिए।

अनुच्छेद 52 (2) के अनुसार किसी राज्य का राज्यपाल, संघ एवं राज्यों के मंत्रियों के पदों को लाभ का पद न मानते हुए उन्हें राष्ट्रपति के निर्वाचन में उम्मीदवार के लिए योग्य माना गया है।

अनुच्छेद 59 के अनुसार यदि राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार संसद के किसी सदन या किसी राज्य का सदस्य निर्वाचित हो गया है तो यह समझा जाएगा कि उसने अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपना पद ग्रहण करने की तिथि से रिक्त कर दिया है।

कार्यकाल

भारतीय संघ के राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के

भीतर रिक्त हो जाए तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का चुनाव पुनः 5 वर्ष के लिए ही होगा। राष्ट्रपति का पद रिक्त होने की तिथि से किसी भी दशा में छः माह पूरे होने से पहले भरा जाना चाहिए। पदावधि समाप्त हो जाने के उपरान्त भी राष्ट्रपति अपने उत्तराधिकारी के पदारूढ़ होने तक पदासीन रहेंगे।

वेतन एवं भत्ते

राष्ट्रपति बिना किराया दिए अपने शासकीय आवास के उपयोग का अधिकारी होगा तथा ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी अधिकारी होगा जो विधि द्वारा निर्धारित की गई हैं। जब तक संसद कोई ऐसी विधि पारित नहीं करती ये भत्ते व उपलब्धियां वही रहेंगी जो संविधान की दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं। 2008 में संसद ने राष्ट्रपत्ति के भत्ते 1,50,000 कर दिए तथा पेंशन वेतन व भत्तों को 50 प्रतिशत प्रति माह निश्चित कर दिया। राष्ट्रपति के वेतन व भत्तों में उसके कार्यकाल में कटौती नहीं की जा सकती है। राष्ट्रपति के कार्यकाल में तथा उसके उपरान्त भी उसे निःशुल्क चिकित्सा सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं।

उन्मुक्तियां

राष्ट्रपति को कुछ उन्मुक्तियां भी प्रदान की गई हैं। अपने पद के अधिकारों तथा शक्तियों का प्रयोग करते हुए वह जो कोई भी कार्य करे। उसके संबंध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। भारतीय शासन व्यवस्था में सभी काम राष्ट्रपति के नाम पर ही होते हैं परन्तु वह व्यक्तिगत रूप से इनके लिए उत्तरदायी नहीं होगा। जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर आसीन है, तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, न उसकी गिरफ्तारी के लिए वारण्ट जारी किया जा सकता है, न उसे कैद किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति उस पर कोई दावा करे तो उसे दो महीने का नोटिस देने के बाद ही किसी प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

महाभियोग

भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष का है किन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति के द्वारा संविधान का उल्लंघन किये जाने पर संविधान में दी गई पद्धति के अनुसार उस पर महाभियोग लगाकर उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार प्रत्येक सदन को प्राप्त है। महाभियोग पर उसे लगाने वाले सदन की समस्त संख्या के 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। अभियोग लगाने के 14 दिन बाद अभियोग लगाने वाले सदन में उस पर विचार किया जाएगा और यदि वह सदन की समस्त संख्या के 2/3 सदस्यों द्वारा स्वीकृत हो जाये तो उसे संसद के दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरा सदन इस अभियोग की या तो स्वयं जांच करेगा या जांच के लिए समिति नियुक्त करेगा। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सदन में स्वयं उपस्थित होकर या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा महाभियोग की जांच में भाग ले सकता है। सदन में महाभियोग के

आरोप सिद्ध होने की स्थिति में यदि दूसरा सदन भी कुल सदस्यों के कम से कम 2/3 बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव स्वीकार कर ले तो वह प्रस्ताव स्वीकार माना जाएगा और प्रस्ताव के स्वीकृत होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत समझा जाएगा। जब तक राष्ट्रपति का उत्तराधिकारी पद ग्रहण नहीं कर लेता है तब तक वह अपने पद पर आसीन रहते हुए अपना कार्य करता रहेगा।

संविधान के अनुच्छेद 70 में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि भारत का राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति अपने कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ हों तो भारतीय संसद को उनके कार्यों के सम्पादन की व्यवस्था करनी होगी। इसी प्रसंग में 1969 में अनुच्छेद 70 के अन्तर्गत 'Presidents of Functions Bill' पारित किया गया। इसमें व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों ही पद रिक्त होने पर सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय का उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश राष्ट्रपति पद के कर्त्तव्यों को सम्पन्न करेगा।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति

भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति को अपनाया गया है। भारत में राष्ट्रपति को आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत पद्धति के माध्यम से निर्वाचक मण्डल द्वारा चुना जाता है।

निर्वाचक मण्डल

अनुच्छेद 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन जिस निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जायेगा उसमें–

1. संसद के दोनों संदनों के निर्वाचित सदस्य,
2. राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य तथा
3. 70वें संवैधानिक संशोधन (1992) के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे।

संविधान यह अपेक्षा करता है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होने में समतुल्यता बनी रहे इसलिए उपर्युक्त व्यवस्था में संशोधन किया गया। राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संसद तथा राज्य की विधानसभाओं में यदि कोई स्थान राष्ट्रपति चुनाव के समय रिक्त हो तो इससे निर्वाचक मण्डल अपूर्ण नहीं माना जाता है तथा ऐसी रिक्तता के आधार पर राष्ट्रपति के चुनाव के संबंध कोई आपत्ति नहीं व्यक्त की जा सकती है।

नामांकन

राष्ट्रपति पद के लिए जो व्यक्ति उम्मीदवार होता है उसे 15,000 रुपये जमानत के रूप में जमा कराने होते हैं तथा उसका नामांकन कम से कम 50–50 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित तथा अनुमोदित किया जाना आवश्यक होता है। यह व्यवस्था इसलिए की गई

है ताकि केवल वे व्यक्ति ही राष्ट्रपति के चुनाव में उम्मीदवार बन सकें जिनका वास्तविक जनाधार है। यदि किसी उम्मीदवार को कुल मतों के छठे भाग के बराबर मत प्राप्त नहीं होते हैं तो उसकी जमानत की राशि जब्त हो जाती है।

एकल संक्रमणीय मत पद्धति

संसद तथा राज्यो और संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित संदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार 'एकल संक्रमणीय मत' (Single Transferable Vote) द्वारा होगा। यह चुनाव गुप्त मतदान पत्र द्वारा होगा तथा चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना आवश्यक होगा। न्यूनतम कोटा निर्धारित करने के लिए निम्न सूत्र अपनाया जाता है–

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या}} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए अपनाई गई है जिससे बहुमत प्राप्त होने पर एक व्यक्ति को राष्ट्रपति का पद प्राप्त हो सके। इस व्यवस्था से ही वह पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकेगा। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता के द्वारा अपने मतपत्र में उतनी ही पसन्द व्यक्त की जा सकती है जितनी संख्या में राष्ट्रपति के पद के लिए उम्मीदवार होते हैं। सर्वप्रथम, पहली पसन्द या प्रथम वरीयता के लिए गणना की जाती है यदि प्रथम वरीयता या पहली पसन्द के मतों की गणना से ही किसी उम्मीदवार को 'चुनाव कोटा' या 'न्यूनतम कोटा' प्राप्त हो जाए तो दूसरी वरीयता के मतों की गणना नहीं की जाती है। यदि प्रथम वरीयता के मतों की गणना से किसी भी उम्मीदवार को चुनाव कोटा प्राप्त नहीं होता है तो फिर क्रमशः दूसरी और तीसरी वरीयता के मतों की गणना की जाती है।

जनप्रतिनिधित्व के आधार पर मतदाता के मत का मूल्य निर्धारण

भारत के राष्ट्रपति को जिस 'निर्वाचक मण्डल' द्वारा निर्वाचित किया जाता है, उस निर्वाचक मण्डल के सदस्य होते हैं– (1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, (2) राज्यों की विधानसभाओं और संघ शासित प्रदेशों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य। निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य समान नहीं होता है क्योंकि व्यावहारिक रूप से भारतवर्ष में जनसंख्या का घनत्व कहीं सघन है तो कहीं विरल। यह स्थिति मत के मूल्यों पर प्रभाव डालती है। देश में व्यावहारिक स्थिति यह है कि लोकसभा का एक निर्वाचित सदस्य लगभग 10 लाख निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व करता है। उत्तर प्रदेश का विधायक लगभग ढाई लाख निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व करता है लेकिन सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश जैसे क्षेत्रों में यह आँकड़ा बहुत कम है क्योंकि वहां कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में निर्वाचकों की संख्या बहुत कम है। यह असमानता मतों के मूल्यों पर व्यापक प्रभाव डालती है। इसी कारण प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य या मतों की संख्या निम्नलिखित सिद्धांतों के आधार पर निश्चित की जाती है–

1. प्रथम, भारतीय संघ के कुछ राज्यों (बड़े राज्यों) की विधानसभा के सदस्य अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा कुछ राज्यों (छोटे राज्यों) या संघ शासित

प्रदेशों की विधानसभाओं के सदस्य कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रपति के चुनाव में विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य उस अनुपात में निश्चित होता है जितनी जनसंख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है।

टिप्पणी

2. द्वितीय, दूसरा सिद्धांत यह अपनाया गया कि राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र तथा राज्यों का बराबर का हिस्सा होना चाहिए, इसीलिए राज्यों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों के जितने मत हों, उतने ही मत संसद सदस्यों द्वारा दिये जाने चाहिए।

   निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य या मतों की संख्या निश्चित करने के सूत्र निम्न हैं–

   (i) किसी भी राज्य या संघीय क्षेत्र की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों के मतों की संख्या,
   (ii) राज्य या संघीय क्षेत्र की जनसंख्या,
   (iii) समस्त राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों को प्राप्त मतों की संख्याओं का कुल योग तथा
   (iv) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या।

मतों की गणना के संबंध में उपर्युक्त सूत्र तथा प्रक्रिया को इसलिए अपनाया गया ताकि राष्ट्रपति के चुनाव में समस्त राज्यों में जनसंख्या के आधार पर एकरूपता रहे तथा समस्त राज्यों की विधानसभाओं को सामूहिक रूप से संघीय संसद के बराबर प्रभाव मिल सके।

इस प्रकार मतों के मूल्यों के आधार पर मतों की गणना की जाती है और प्रथम वरीयता के मतों की गणना में किसी उम्मीदवार को जीतने के लिए आवश्यक 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं होते तो द्वितीय वरीयता के मतों की गणना के आधार पर चुनाव का निर्णय किया जाता है। अब तक के इतिहास में ऐसा एक बार हुआ 1969 में जब भारतीय राष्ट्रपति चुनाव सम्पन्न होने के बाद द्वितीय वरीयता की गणना आवश्यक हो गई थी। द्वितीय वरीयता की गणना को निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है–

तालिका 2.1 1969 में सम्पन्न हुए राष्ट्रपति के चुनाव के परिणाम में द्वितीय वरीयता

प्रथम वरीयता								द्वितीय वरीयता में श्री देखमुख के मतों का हस्तांरण			
श्री गिरि		श्री रेड्डी		श्री देशमुख		अन्य		श्री गिरि		श्री रेड्डी	
कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य
1,910	4,71,515	1,503	3,13,418	509	1,12,759	45	8,487	103	18,291	391	91,449

इस चुनाव में श्री वी.वी. गिरि निर्वाचित हुए थे। छठे चुनाव में श्री फखरुद्दीन अली अहमद 80 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त करके निर्वाचित हुए। 1977 में सातवें चुनाव में श्री नीलम संजीव रेड्डी निर्विरोध चुने गए।

निर्वाचन पद्धति की समीक्षा

संसदात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष होता है यहां अमेरिका की भांति राष्ट्रपति प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचित नहीं होता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों की विधानसभाओं और संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं, संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा मतदान होता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल का विशेष महत्व है। यह बहुमत दल के वर्चस्व को सन्तुलित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि संसद में किसी दल को बहुमत प्राप्त है तो वह अपने प्रत्याशी को सरलता से निर्वाचित करा सकता है परन्तु राज्यों की विधानसभाओं में उसे बहुमत प्राप्त नहीं है तो निर्वाचन आसान साबित नहीं होगा। इससे व्यवस्था में सन्तुलन बना रहता है तथा जनप्रतिनिधित्व भी उचित प्रकार से बना रहता है।

कई विद्वानों का यह मानना है कि राष्ट्रपति के चुनाव के लिए 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व पर आधारित एकल संक्रमणीय मत प्रणाली' के सदस्य, राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य तथा संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्य तथा संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्य भाग लेते हैं। संसदात्मक लोकतंत्र में जहां पंचायती स्तर से लेकर लोकसभा तक प्रत्यक्ष मतदान का प्रावधान है वहीं राष्ट्रपति के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव का प्रावधान क्यों रखा गया है? यह प्रश्न स्वतः ही मानस पटल पर उभर आता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था के पीछे जो कारण रहे हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1. यह संविधान निर्मात्री सभा का बुद्धिमत्ता पूर्ण निर्णय था कि उन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव को अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत रखा। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में लगभग 20 करोड़ मतदाता थे और आज भारत में 100 करोड़ से ज्यादा मतदाता हैं। इस बड़ी संख्या के साथ देश को बार—बार निर्वाचन की व्यवस्था में लगाना उचित नहीं है।
2. राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान हैं तथा वास्तविक कार्यपालिका के हाथ में होती है। अतः इस शासन व्यवस्था में जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति की स्थिति बेमेल हो जाती है।
3. राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों को भी इसीलिए सम्मिलित किया जाता है ताकि राष्ट्रपति के चुनाव में पूरे देश का तथा सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हो सके। इस संबंध में जवाहरलाल नेहरू के विचार इस प्रकार हैं, ''राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय चुनाव का रूप प्राप्त हो सके।''
4. प्रो. एम. वी. पायली ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन का समर्थन इस प्रकार किया है, ''संसद सदस्यों के साथ राज्य विधानसभाओं के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित करने का उद्देश्य राजनीतिक सन्तुलन बनाए रखना था। राष्ट्राध्यक्ष के चुनाव में यदि केवल संसद के दोनों सदन ही भाग लें तो बहुसंख्यक दल अपने

प्रत्याक्षी का सरलता से निर्वाचन करवा सकता है किन्तु राज्य विधानसभाओं के इस निर्वाचन में भाग लेने से यह स्थिति बदल जाती है। संभव है संसद में जो बहुसंख्यक दल है उसे अधिकांश राज्यों में बहुमत प्राप्त न हुआ हो। ऐसी परिस्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य की विधानसभाओं के समर्थन के बिना, अकेला ही राष्ट्रपति के पद पर अपना प्रत्याशी निर्वाचित नहीं कर सकता।''

5. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाने का उद्देश्य यह था कि राष्ट्र का प्रधान बहुमत मतों के बजाय स्पष्ट बहुमत से निर्वाचित हो। इस पद्धति से छोटे–छोटे राजनीतिक दलों की शक्ति का भी चुनाव में महत्व साबित हो जाता है और राष्ट्रपति का चुनाव बहुमत दल की स्वेच्छाचारिता से बचाया जा सकता है।

प्रो. एम.वी. पायली ने इस व्यवस्था के लिए उपयुक्त शब्दों में समर्थन किया है, "'राष्ट्रपति राष्ट्र का मुखिया है, राष्ट्र में सभी दल या गुट सम्मिलित हैं तथा राष्ट्रपति एवं व्यवस्था से ऊपर हैं' शब्दावली का प्रयोग उचित नहीं है क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से इसका प्रयोग वहीं किया जा सकता है जहां एक से अधिक व्यक्तियों का निर्वाचन होता है। इस व्यवस्था में मतों का हस्तान्तरण होता है परन्तु इसे आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली नहीं कहा जा सकता है। इसे 'वैकल्पिक मत प्रणाली' या 'वरीयता मत प्रणाली' कहा जा सकता है क्योंकि उद्देश्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना नहीं है वरन् यह सुनिश्चित करना है राष्ट्रपति को निर्धारित मतों का समर्थन मिलता है या नहीं।"

वर्तमान पद्धति की आलोचना का एक अन्य आधार यह भी है कि इसमें एक से अधिक प्रत्याशी होने पर भी यदि मतदाता अपनी ओर से मतपत्र पर केवल एक ही विकल्प चिन्हित करते हैं और यदि इस प्रक्रिया में किसी प्रत्याशी को निर्धारित मत प्राप्त नहीं होते, तो ऐसी दशा में निर्वाचन का कोई परिणाम नहीं निकलेगा। अतः इस प्रणाली के इस दोष को दूर करने के लिए आवश्यक है कि जितने प्रत्याशी हों, मतदाताओं द्वारा उतने विकल्पों को चिन्हित किया जाना आवश्यक कर दिया जाए।

उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी कुछ कारणों से इस पद्धति को अपनाया गया है। इस प्रणाली का एक लाभ यह है कि इसके अन्तर्गत वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकता है जिसे कुल मतों का पूर्ण बहुमत मिलता है। दूसरा लाभ यह है कि संसद से लेकर राज्यों के छोटे–बड़े सभी राजनीतिक दल राष्ट्रपति के चुनाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना

अनुच्छेद 60 के अनुसार – ''प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में काम कर रहा है अथवा उसके दायित्वों का निर्वाह करता है, अपना पद पर ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष निम्न रूप से शपथ या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा''–

''मैं......अमुक......ईश्वर की शपथ लेता हूं (अथवा सत्यनिष्ठा से) राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करूंगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूंगा।''

पूर्व में केवल ईश्वर की शपथ का प्रावधान था, परन्तु बाद में संविधान निर्मात्री सभा ने सत्यनिष्ठा शब्द इस विचार के साथ जोड़ दिया कि यदि कोई व्यक्ति अन्य धर्म का नागरिक हुआ तो ईश्वर के नाम की शपथ कैसे लेगा।

राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष क्यों?

भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचन में जनता सीधे भाग नहीं लेती है बल्कि जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि भाग लेते हैं। संसद के दोनों सदनों के लिए यह आवश्यक है कि उसका चुनाव भारी से भारी बहुमत द्वारा हो। यदि साधारण बहुमत प्रणाली इस निर्वाचन के लिए अपनायी जाती तो इस बात का कोई आश्वासन नहीं था, किन्तु वर्तमान निर्वाचन प्रणाली में यह निश्चित है कि राष्ट्रपति का चुनाव पूर्ण बहुमत प्राप्त करने पर ही हो सकता है।

राष्ट्रपति की शक्तियां

भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति इंग्लैंड के सम्राट और अमरीकी राष्ट्रपति से नितान्त भिन्न हैं। वह संविधान का प्रतिरक्षक, संरक्षक तथा भारतीय जनमानस का प्रतीक है। यद्यपि वह नाममात्र का प्रधान है और संविधान में उसकी स्थिति प्रधानमंत्री से कमजोर है तथापि वह संवैधानिक रूप से देश का प्रधान होता है। वह राष्ट्र का प्रथम नागरिक तथा सर्वोच्च शासक है अतः संविधान का संरक्षक है। देश–विदेश की महत्वपूर्ण बातें उसके संज्ञान में रहनी चाहिए, उसे सतत् रूप से जागरूक रहना चाहिए जिससे कि सत्ता पक्ष उसे दिग्भ्रमित करके उससे अनुचित कार्य सम्पादित न करा पाये। भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्ति का सार तत्व राष्ट्रपति में निहित है। राष्ट्रपति की स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है किन्तु वह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक धुरी के समान है जो इस राजनीतिक व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करता है। संविधान में राष्ट्रपति को यथोचित शक्तियां प्रदान की गई हैं, उसके अधिकार में शान्तिकालीन के अतिरिक्त आपातकालीन शक्तियां भी हैं परन्तु इसके बावजूद भारतीय राष्ट्रपति का पद, उसके दायित्व तथा एक राजनीतिक संस्था के रूप में उसकी भूमिका अभी स्थापित नहीं हो पाई है। वैधानिक दृष्टिकोण से भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है जबकि व्यावहारिक रूप से वह केवल संवैधानिक अध्यक्ष है जो अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार, ''संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।'' संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारतीय संघ के राष्ट्रपति को दो प्रकार की शक्तियां प्राप्त हैं–

1. सामान्य परिस्थितियों में प्रयुक्त शान्तिकालीन शक्तियां एवं
2. असामान्य परिस्थितियों में प्रयुक्त संकटकालीन शक्तियां।

टिप्पणी

1. सामान्य परिस्थितियों में प्रयुक्त शान्तिकालीन शक्तियां

सामान्य परिस्थितियों में राष्ट्रपति अपनी जिन शान्तिकालीन शक्तियों के आधार पर कार्यों का सम्पादन करता है उन्हें हम अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं—

(i) कार्यपालिका शक्तियां

भारतीय संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। संविधान के अनुच्छेद 77 के अनुसार भारत सरकार के कार्यपालिका संबंधी समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से सम्पादित किए जाएंगे। शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होगा और सरकार के सभी महत्वपूर्ण निर्णय राष्ट्रपति के ही माने जाएंगे। अनुच्छेद 74 के अनुसार संघीय मन्त्रिमण्डल, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा तथा राष्ट्रपति को उसकी कार्यपालिका शक्तियों को उपयोग में लाने के लिए सलाह तथा सहायता देगा। अनुच्छेद 78 के अनुसार प्रधानमन्त्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के संघ प्रशासन एवं व्यवस्थापन संबंधी प्रस्ताव की सूचना दे। राष्ट्रपति की इच्छानुसार प्रधानमन्त्री द्वारा ऐसे मामलों को, जिन पर केवल किसी मन्त्री ने निर्णय लिया हो, मन्त्रिमण्डल के विचार के लिए रखा जा सकता है।

केन्द्रीय सरकार की कार्यविधि के बारे में नियम बनाने का अधिकार भी राष्ट्रपति को है। जिन विषयों पर संसद कानून बना सकती है उनके संबंध में कार्यपालिका संबंधी अपने अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति कर सकता है। राष्ट्रपति मन्त्रियों के मध्य कार्य विभाजन कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 75 (1) के अनुसार वह आम चुनाव में बहुमत प्राप्त करने वाले राजनीतिक दल के नेता की नियुक्ति प्रधानमन्त्री के पद पर कर सकता है। यदि लोकसभा चुनाव में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ है तो ऐसी स्थिति में वह अपनी पसन्द के व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बना सकता है। राष्ट्रपति ही मन्त्रियों को उनके पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलवाता है।

समस्त महत्वपूर्ण नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद के अलावा महान्यायाधिवक्ता और भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की भी नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 124 तथा 217 के अन्तर्गत वह सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी करता है। भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है। वह संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, व अन्य सदस्यों की नियुक्ति भी करता है। वह आफिशियल कमीशन के सदस्यों, राज्यों के राज्यपालों, संघ शासित प्रदेशों के लिए मुख्य आयुक्तों, अनुसूचित जाति, जनजाति व पिछड़ी जाति आयोगों के अध्यक्षों व विशेष अधिकारियों, अल्पसंख्यक आयोग के विशेष अधिकारियों, वित्त आयोग, भाषा आयोग तथा निर्वाचन आयोग के सदस्यों की नियुक्ति भी करता है। वह विदेशों में भारत के राजदूतों तथा कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति भी करता है।

राष्ट्रपति को संघ के अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त है तो वह इन पदाधिकारियों को पदच्युत भी कर सकता है किन्तु ऐसा उसे विहित प्रक्रिया के अनुसार

ही करना होगा। उपर्युक्त शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के साथ मन्त्रणा करके ही करता है। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियां अत्यन्त विस्तृत हैं। संसदात्मक शासन व्यवस्था में अब यह परम्परा बन चुकी है कि राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका संबंधी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री और उसके मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही करेगा।

(ii) विधायी शक्तियां

राष्ट्रपति केन्द्रीय विधानमण्डल का एक आवश्यक अंग है। सैद्धान्तिक रूप से उसके पास विस्तृत शक्तियां हैं लेकिन व्यावहारिक रूप में वह इनका प्रयोग मन्त्रिपरिषद के परामर्श से ही करता है।

राष्ट्राध्यक्ष होने के कारण राष्ट्रपति को व्यवस्थापन में अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने होते हैं। अनुच्छेद 50(1) (2) के अनुसार राष्ट्रपति संसद के सत्र को बुलाता है और सत्रावसान करता है। वह लोकसभा का विघटन कर सकता है, किन्तु अनुच्छेद 85(1) के अनुसार संसद के एक सत्र की बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। यदि किसी साधारण विधेयक पर संसद के सदनों में मतभेद हो तो वह उसे दूर करने के लिए दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित कर सकता है। प्रत्येक अधिवेशन का आरंभ संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन से होता है जिसे राष्ट्रपति सम्बोधित करता है। वह राज्यसभा एवं लोकसभा के स्थानापन्न अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति को राज्यसभा के बारह सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है तथा वह लोकसभा में दो आंग्ल भारतीय सदस्यों को भी मनोनीत कर सकता है।

राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता है, उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। धन विधेयकों पर वह अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं कर सकता है परन्तु साधारण विधेयक को वह पुनर्विचार करने के लिए संसद के पास भेज सकता है। यदि संसद उसे बहुमत से दोबारा पारित कर दे तो उसे उस पर हस्ताक्षर करने होते हैं। राष्ट्रपति के इस अधिकार को निलम्बन का निषेधाधिकार (Delaying or Suspensive Veto) कहते हैं। राष्ट्रपति के पास निलम्बन के निषेधाधिकार का भारतीय संसदात्मक व्यवस्था में विशेष महत्व है, संविधान में इस व्यवस्था को संवैधानिक अवरोध के रूप में अपनाया गया है। राष्ट्रपति संसद के समक्ष बजट पेश कर सकता है। वह ऑडिटर–जनरल, वित्त आयोग, संघ लोग सेवा आयोग, अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़ी जाति तथा अल्पसंख्यक व भाषा आयोग के विशेष अधिकारी की रिर्पोटों को भी संसद के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है।

अध्यादेश जारी करने की शक्ति (अनुच्छेद 123)

राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों में उसके अध्यादेश जारी करने की शक्ति सबसे महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 123 के अनुसार जब संसद के दोनों सदन सत्र में न हों और राष्ट्रपति को किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर ऐसा प्रतीत हो कि कार्यवाही अत्यन्त आवश्यक है तो वह ऐसी किसी स्थिति में अध्यादेश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश का वही बल और महत्व होता है जो संसद द्वारा पारित अधिनियम का होता

है। अध्यादेश को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है तथा संसद के पुनः सत्र प्रारंभ होने की तारीख से छः सप्ताह की समाप्ति पर यह समाप्त हो जायेगा जब तक कि छः सप्ताह पूर्व दोनों सदन उसके अनुमोदन के संकल्प को पारित न कर दें।

राष्ट्रपति किसी भी समय अपना अध्यादेश वापस ले सकता है। राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति संसद की विधायी शक्ति का विस्तार है अर्थात् उन–उन विषयों पर अध्यादेश जारी किए जा सकते हैं जिन पर संसद कानून बना सकती है। अध्यादेश द्वारा मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। यदि अध्यादेश में कोई ऐसा उपबन्ध होता है जो संसद के अधिकार क्षेत्र से बाहर होता है तो वह शून्य होगा। अनुच्छेद 13 के अधीन 'विधि' शब्द के अन्तर्गत अध्यादेश भी आते हैं। अध्यादेश जारी करने की शर्तें निम्न हैं–

(1) अध्यादेश तभी जारी किए जा सकते हैं जब संसद के दोनों सदन सत्र में न हों तथा देश में ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हों जिनका तत्काल विधि बनाकर समाधान करना आवश्यक हो। संसद का यदि एक सदन भी सत्र में होता है तो भी अध्यादेश ही एक मात्र उपाय रह जाता है क्योंकि एक सदन विधि बनाने में सक्षम नहीं है।

(2) राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश का बल और प्रभाव संसद द्वारा निर्मित विधि के समान ही होगा।

(3) प्रत्येक अध्यादेश को संसद के दोनों सदनों के समक्ष अनुमोदन के लिए रखा जाता है तथा संसद के पुनः सत्र में आने के छः सप्ताह के उपरान्त यह समाप्त मान लिया जाता है।

(4) राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश किसी समय वापस लिया जा सकता है।

(5) अध्यादेश की सीमाएं संसदीय विधि के समान ही होती हैं। अध्यादेश मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता है।

(6) अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति के व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर आधारित है अर्थात् वह अध्यादेश के पीछे के कारणों को न्यायालय में प्रमाणित करने के लिए बाध्य नहीं है। न्यायलय उसके जारी करने कारणों की जांच नहीं कर सकता।

अध्यादेश जारी करने की शक्ति के कारण कार्यपालिका आकस्मिक तथा गंभीर परिस्थितियों का सामना कर सकती है। अध्यादेश द्वारा कर विधियों में भी संशोधन या परिवर्तन किए जा सकते हैं। अध्यादेश की न्यायोचितता को नैतिकता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है वरन् इसे अस्पष्टता, मनमाना प्रयोग और जनहित के आधार पर चुनौती दी जा सकती है।

विश्व की किसी भी लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में किसी भी कार्यपालिका को ऐसी शक्ति प्रदान नहीं की गई है। कार्यपालिका की इस शक्ति को इस आधार पर न्यायोचित बताया गया है कि गंभीर परिस्थितियों से आकस्मिक तौर पर निपटने के

लिए राष्ट्रपति के पास ऐसी शक्ति का होना आवश्यक है। शीघ्रातिशीघ्र कार्यवाही न करने से देश को क्षति पहुंच सकती है। राष्ट्रपति अपनी अध्यादेश जारी करने की शक्ति का प्रयोग मन्त्रिपरिषद की सलाह पर ही करता है उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी मन्त्रिपरिषद का दृष्टिकोण होता है। इन सबके बावजूद इस बात की पूरी–पूरी संभावना होती है कि वह अध्यादेश जारी करने की शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है। इसे रोकने का एक ही उपाय है जनता में जागरूकता।

(iii) न्यायिक शक्तियां

राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के संबंध में नियुक्ति संबंधी नियमों का निर्धारण भी राष्ट्रपति करता है। अनुच्छेद 72 के अनुसार राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार के द्वारा राष्ट्रपति दण्ड को पूर्ण रूप से क्षमा कर सकता है। अनुच्छेद 72 राष्ट्रपति को किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम, या परिहार करने की अथवा दण्डावेश के विलम्बन, परिहार, या लघुकरण करने की शक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति निम्नलिखित मामलों में क्षमादान कर सकता है–

(1) यदि दण्ड सेना न्यायालय द्वारा दिया गया हो,

(2) यदि दण्ड किसी ऐसे विषय से संबंधित विधि के विरुद्ध अपराध है जिस विषय पर कार्यपालिका को विधि बनाने का अधिकार है अर्थात् केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में आते हों,

(3) यदि अपराधी को मृत्युदण्ड दिया गया हो,

राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग भी मन्त्रिपरिषद की सलाह से करता है। क्षमादान एक अनुग्रह है जिसकी मांग अधिकार की तरह नहीं की जा सकती है। क्षमादान केवल दण्ड को समाप्त ही नहीं करता है बल्कि व्यक्ति को पूरी तरह निर्दोष साबित कर देता है।

क्षमादान में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है उसके अर्थ इस प्रकार हैं–लघुकरण (Commute) यानी एक के बदले दूसरा अर्थात बड़े दण्ड को कम करना, परिहार (Remission) यानी दण्ड की मात्रा को उसकी प्रकृति में परिवर्तन किए बिना कम करना, विराम (Respite) यानी किन्हीं विशेष कारणों से दण्ड कम करना या उसकी प्रकृति को बदल देना और प्रविलम्ब (Reprieve) अर्थात मृत्युदण्ड का अस्थायी विलम्बन करना।

क्षमादान का प्रयोग परीक्षण के पूर्व, उसके दौरान तथा उसके पश्चात सभी परिस्थितियों में किया जा सकता है।

(iv) वित्तीय शक्तियां

भारत में प्रतिवर्ष प्रस्तुत किया जाने वाला बजट वित्त मंत्री राष्ट्रपति के नाम से ही संसद में पेश करता है। उसकी अनुमति के बिना कोई भी वित्त विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति ही प्रतिवर्ष लेखा परीक्षक की रिपोर्ट, वित्त आयोग

टिप्पणी

की सिफारिशें आदि संसद के समक्ष रखता है। भारत की आकस्मिक विधि पर राष्ट्रपति का पूरा नियन्त्रण रहता है। वह संसद की स्वीकृति के बिना आकस्मिक पड़ने वाली आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकार को धन उपलब्ध करा सकता है। वह संसद से पूरक, अतिरिक्त और अपवादभूत अनुदानों की मांग कर सकता है। राष्ट्रपति कुछ राज्यों के लिए केन्द्रीय अनुदान दिलाने के आज्ञा जारी कर सकता है। करों के विभाजन के संबंध में सलाह देने के लिए वित्त आयोग की नियुक्ति का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है।

(v) सैन्य शक्तियां

राष्ट्रपति तीनों सेनाओं का प्रधान होता है। तीनों सेनाओं की सर्वोच्च कमान उसी के हाथ में होती है परन्तु अपनी इस शक्ति का प्रयोग वह विधि के अनुसार ही कर सकता है। उसे युद्ध घोषित करने तथा शान्ति स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति के प्रयोग को संसद विधि द्वारा विनियमित करती है। वस्तुतः राष्ट्रपति की सैन्य शक्ति भी मंत्रिपरिषद की मन्त्रणा से ही क्रियान्वित होती है।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियां

अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर भारत का राष्ट्राध्यक्ष तथा प्रतिनिधि राष्ट्रपति होता है। वह राजदूतों, राजनायिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्य दूतों की नियुक्ति करता है। साथ ही साथ वह विदेशों के राजनायिक प्रतिनिधियों और वाणिज्य दूतों के प्रमाणपत्रों को स्वीकार करता है। सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, संधियां तथा वार्ताएं राष्ट्रपति के नाम से ही की जाती हैं। बाद में जब संसद की स्वीकृति मिल जाती है तब विधि के अनुसार उन्हें लागू किया जाता है।

(vii) राज्यों के संबंध में शक्तियां

राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्यों को करों से होने वाली आय के निर्धारण के लिए वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्य यदि अग्रलिखित विषयों पर अधिनियम बनाना चाहे तो उसे राष्ट्रपति से स्वीकृति लेना अनिवार्य है–

(1) राज्य द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए बनाए गए अधिनियम,

(2) किसी राज्य के अन्दर या दूसरों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाने वाले विधेयकों को राज्य विधानसभा में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

(viii) सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार

अनुच्छेद 143 के अनुसार किसी भी सार्वजनिक महत्व के विषय पर राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से विधिक परामर्श ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए परामर्श को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उस परामर्श को माने या न माने।

संविधान सभा में हरिविष्णु कामथ ने बिल्कुल सटीक वक्तव्य दिया था, ''हम अपने राष्ट्रपति को एक संवैधानिक रूप दे देना चाहते हैं। हमारी वस्तुतः उसकी समस्त

शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल करेगा, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होगा। राष्ट्रपति की शान्तिकालीन शक्तियों को इतना विस्तार संभवतः इसी कारण दिया गया है कि शान्तिकाल में यह अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेगा, जिसमें वह अपनी के शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री और उसके मन्त्रिपरिषद की सलाह से करेगा।

टिप्पणी

2. असामान्य परिस्थितियों में प्रयुक्त संकटकालीन शक्तियां

यह किसी भी राष्ट्र में संभव नहीं कि उसमें संकटकाल के लिए प्रावधान न हों। प्रत्येक राज्य में संकटकाल में उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किसी ऐसे शक्ति सम्पन्न अधिकारी का होना आवश्यक है जो आपातकाल में अपनी विशिष्ट शक्तियों के बल पर आपात स्थिति का सामना करने में सक्षम हो। संघात्मक व्यवस्था में शक्ति केन्द्र सरकार में निहित होती है अतः आपातकाल में संकट का सामना करने का मुख्य दायित्व राष्ट्रीय कार्यपालिका का होता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय कार्यपालिका को और अधिक सक्षम बनाने के लिए उसमें और अधिक शक्तियां निहित कर दी जाती हैं। जर्मनी के संविधान की भांति भारत में भी राष्ट्रपति को तीन प्रकार की आपातकालीन शक्तियां दी गई हैं–

(i) युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति से संबंधित संकटकालीन व्यवस्था

संविधान के अनुच्छेद 352 में व्यवस्था की गई थी कि यदि राष्ट्रपति को अनुभव हो कि युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की शान्ति या व्यवस्था के नष्ट होने की आशंका है तो वह आपातकाल की घोषणा कर सकता है। यथार्थ रूप में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर आपातकाल की घोषणा का अस्तित्व दो माह तक रह सकता है तथा संसद में स्वीकृत हो जाने के पश्चात जब तक शासन इसे लागू रखना चाहे रख सकता है। 44वें संविधान संशोधन के पश्चात वर्तमान में इन आपातकालीन शक्तियों की व्यवस्था इस प्रकार है–

(1) राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल तभी घोषित किया जा सकता है जब कि मन्त्रिपरिषद लिखित रूप में राष्ट्रपति को यह परामर्श दे।

(2) आपातकाल केवल युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने की आशंका पर ही घोषित किया जा सकता है, केवल आन्तरिक उपद्रव के नाम पर आपातकाल की घोषण नहीं की जा सकती है।

(3) ऐसी घोषणा को एक माह के अन्दर–अन्दर संसद के दोनों सदनों के समक्ष पृथक–पृथक रखना आवश्यक है। ऐसी घोषणा यदि उस समय की गई है जब लोकसभा का विघटन हो चुका है या एक माह के भीतर उसका विघटन हो जाता है तथा उदघोषणा को राज्यसभा ने अनुमोदित कर दिया है, ऐसी स्थिति में नवगठित लोकसभा की पहली बैठक से 30 दिनों के अन्दर–अन्दर इस प्रकार की उद्घोषणा की स्वीकृति आवश्यक है। उद्घोषणा के अनुमोदन का प्रस्ताव

सदन के विशेष बहुमत से पारित होना चाहिए अर्थात कुल सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से पारित होना चाहिए।

(4) लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है। आपातकाल को समाप्त करने के लिए लोकसभा के 1/10 सदस्यों द्वारा लिखित प्रतिवेदन–(क) यदि सदन चल रहा हो तो स्पीकर को, (ख) यदि सदन का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति को देना होगा। उस पर विचार करने के लिए राष्ट्रपति या स्पीकर को 14 दिन के अन्दर–अन्दर विशेष सत्र बुलाना होगा। आपात स्थिति के प्रश्न पर राष्ट्रपति का विचार ही अपने आप में पर्याप्त है। न्यायालय इसके पीछे के कारणों की जांच नहीं कर सकता है।

44वें संविधान संशोधन के द्वारा 38वें संविधान संशोधन को रद्द कर दिया गया, जिसमें यह व्यवस्था की गई थी। अब स्थिति यह है कि आपात घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

मूल संविधान में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत व्यवस्था की गई थी कि आपातकाल की घोषणा पूरे देश के लिए जा सकती थी, देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए नहीं। 42वें संविधान संशोधन के द्वारा पूर्व की व्यवस्था को परिवर्तित करके यह व्यवस्था की गई कि अनुच्छेद 352 द्वारा राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा पूरे देश के लिए भी तथा देश के एक भाग के साथ–साथ देश के कुछ भागों के लिए भी कर सकता है। वर्तमान समय में भी यही व्यवस्था कायम है।

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा के प्रभाव

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की उद्घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव होते हैं–

(1) **केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश**–संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यों को निर्देश होने तक विस्तृत हो जाती है कि राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति के अधीन किस प्रकार से करें।

(2) **संसद राज्य सूची पर कानून बना सकती है**–आपातकाल में संसद राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। आपातकाल में केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का विभाजन नाममात्र का निलम्बित कर दिया जाता है। राज्य सूची पर संसद द्वारा बनाये गए कानून आपातकाल समाप्त होने के छः माह बाद अप्रभावी हो जाते हैं।

(3) **वित्तीय संबंधों में परिवर्तन**–राष्ट्रपति यह आदेश जारी कर सकता है कि संघ और राज्यों के बीच सभी आय वितरण निर्देशानुसार संशोधित रहेंगे। ऐसे प्रत्येक आदेश को यथासंभव शीघ्रता के साथ संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना होता है।

(4) **लोकसभा के कार्यकाल में वृद्धि**—संसद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। यह अवधि अधिकतम एक वर्ष बढ़ाई जा सकती है जो आपातकाल समाप्त होने के छः माह बाद स्वतः समाप्त हो जाती है।

(5) **मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन कराने का अधिकार निलंबित**—मूल संविधान में व्यवस्था थी कि आपातकाल में नागरिक अपने मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण नहीं ले सकेंगे परन्तु 44वें संविधान संशोधन में यह व्यवस्था कर दी गई कि जीवन और दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार को सीमित नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकेंगे। एम. ए. पाठक बनाम भारतीय संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि आपातकाल में अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार निलंबित नहीं होते हैं बल्कि उनका प्रवर्तन निलंबित होता है। उनके संबंध में विधिक दावे रद्द नहीं हो जाते हैं। उनको केवल 358 और 359(1) के समय में ही विधि बनाकर निलंबित किया जा सकता है।

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत अभी तक तीन बार आपातकाल की घोषणा की जा चुकी है—1962, 1971 तथा जून 1975 में। 1962 में ही 'भारत प्रतिरक्षा अध्यादेश' जारी किया गया था। भारत प्रतिरक्षा नियम, नागरिक प्रतिरक्षा सेवा नियम आदि इसी अधिनियम के आधार पर बनाए गए। 1971 में घोषित आपातकाल तो लागू था ही तभी जून 1975 में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत ही एक नवीन आपतकाल की घोषणा और कर दी गई। 1975 में इसके कारण बताए गए कि भारतवर्ष में आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका है। इस दौरान राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अनुच्छेद 14, 21 और 22 के अन्तर्गत न्यायालय में अपील करने का अधिकार आपातकाल की अवधि तक स्थगित किया जाता है। यह आज्ञा जम्मू—कश्मीर पर लागू नहीं थी।

(ii) अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में संवैधानिक तन्त्र विफल होने पर

संविधान के अनुसार संघीय सरकार का यह कर्तव्य है कि वह राज्यों की बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करेगी तथा यह भी सुनिश्चित करेगी कि प्रत्येक राज्य सरकार संविधान द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अनुसार चलती रहे। यदि राष्ट्रपति को किसी राज्यपाल की ओर से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्य किसी भी प्रकार से ज्ञात हो कि इस राज्य का शासन संविधान के अनुरूप नहीं चलाया जा रहा है या चलाया नहीं जा सकता है, तो वह राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत आपातकाल घोषित करने की रीति भी वही है जो 352 के अन्तर्गत है। मूल संविधान के अनुसार संसद के द्वारा एक बार प्रस्ताव पास कर राज्य में 6 माह के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता था। 42वें संवैधानिक संशोधन से इस अवधि को एक वर्ष कर दिया गया था परन्तु 44वें संशोधन द्वारा इसे पुनः 6 माह कर दिया गया है। राज्य में राष्ट्रपति शासन एक वर्ष की अवधि से आगे जारी रखने

के लिए संसद द्वारा प्रस्ताव तभी पारित किया जा सकेगा जबकि प्रस्ताव पारित करते समय 352 के अनुसार चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव नहीं करवाया जा सकता है।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा के संवैधानिक प्रभाव

(1) राष्ट्रपति, उस राज्य की कार्यपालिका के या किसी अन्य प्राधिकारी के सभी कृत्य अपने हाथ में ले सकता है।

(2) राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि किसी राज्य के विधानमण्डल की शक्तियों का प्रयोग संसद के द्वारा या उसके अधीन होगा। संसद ऐसे व्यवस्थापन की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान कर सकती है या उसको यह अधिकार दे सकती है कि वह इस शक्ति को किसी अन्य अधिकारी को प्रदान कर दे।

(3) राष्ट्रपति उच्च न्यायालय की शक्तियों के अतिरिक्त समस्त शक्तियां अपने हाथ में ले सकता है।

(4) जब लोकसभा की बैठकें नहीं हो रही होतीं, उस समय राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि से व्यय की अनुमति प्रदान कर सकता है।

(5) आपातकाल में राष्ट्रपति अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं पर रोक लगा सकता है, प्राण तथा दैहिक स्वतन्त्रता के अतिरिक्त संवैधानिक उपचारों के अधिकार का भी अन्त कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 356 के उपबन्धों का सबसे अधिक बार प्रयोग किया जा चुका है। पहली बार 1951 में पंजाब में भार्गव मन्त्रिमण्डल, 1952 में पेप्सू राज्य में, 1954 में आन्ध्र में, 1956 में ट्रावनकोर में, 1959 में केरल में, 1961 में उड़ीसा में, 1966 में पंजाब में, 1967 में राजस्थान में प्रारंभिक तौर पर इन उपबन्धों का प्रयोग किया गया। इसके बाद पश्चिम बंगाल, बिहार, पंजाब, कर्नाटक, उत्तर–प्रदेश, मध्य–प्रदेश और गुजरात राज्यों में संकटकालीन उपबन्ध का प्रयोग किया गया। उपर्युक्त घोषणाएं इन राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई थीं तथा राष्ट्रपति द्वारा इन घोषणाओं को करने का मुख्य आधार राज्यपाल द्वारा दिया गया प्रतिवेदन ही था। समय–समय पर इस प्रकार घोषणाएं होती रही लेकिन 1977 में तत्कालीन जनता पार्टी सरकार ने 9 राज्यों की विधानसभाएं भंग करके उनमें राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया, इस स्थिति की पुनरावृत्ति 1980 में फिर से हुई जब कांग्रेस सरकार ने फिर से 9 विधानसभाएं भंग करके उन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था। सबसे लम्बी अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन पंजाब में लागू किया गया था। कई बार राष्ट्रपति शासन लागू करने की तीव्र आलोचना भी हुई है। अब तक अनुच्छेद 356 जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रावधान है, बहुत अधिक बार प्रयोग किया गया है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार, ''यह अनुच्छेद देश की राजनीतिक और प्रशासनिक प्रक्रिया का एक अंतरंग भाग या संभवतया इसका मानस बन गया है।'' निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 356 का इतना अधिक प्रयोग उचित नहीं है।

(iii) वित्तीय संकट

टिप्पणी

अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत में अथवा उसके किसी भाग में वित्तीय स्थिरता या साख को खतरा है, तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह किसी भी राज्य को आवश्यक निर्देश दे सकता है। वह राज्य के कर्मचारियों के वेतन–भत्तों में कटौती करने, सभी धन और अन्य वित्तीय विधेयक मंजूरी के लिए अपने पास भेजने के निर्देश दे सकता है। वह उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन–भतों में, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के वेतन–भत्तों में कमी करने के आदेश दे सकता है। अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत की गई वित्तीय आपात की घोषणा की अवधि 2 माह होगी। यदि 2 माह की समाप्ति के पहले संसद द्वारा पारित संकल्प से उसे अनुमोदित नहीं किया जाता है तो 2 माह की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में नहीं रहेगी।

आर्थिक संकट की घोषणा के संवैधानिक प्रभाव

आर्थिक संकट की घोषणा के निम्नलिखित संवैधानिक प्रभाव हो सकते हैं–

(1) संकटकाल में राष्ट्रपति राज्यों को उचित आदेश दे सकता है।

(2) वह केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कर्मचारियों, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन–भत्तों में आवश्यक कटौती कर सकता है।

(3) संघीय कार्यपालिका राज्य कार्यपालिका को आदेश दे सकती है।

(4) राष्ट्रपति राज्य सरकारों से समस्त वित्त विधेयक स्वीकृति हेतु मांग सकता है।

(5) वह केन्द्र तथा राज्यों के बीच धन के वितरण संबंधी प्रावधानों में संशोधन कर सकता है।

(6) संकटकालीन अवधि के दौरान अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताओं पर रोक लगा सकता है तथा संवैधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित कर सकता है।

भारत में अभी तक वित्तीय आपातकाल की स्थिति नहीं आयी है। विशेषज्ञों का मानना है कि वित्त किसी भी देश के लिए एक नाजुक मामला होता है यदि कभी ऐसी स्थिति आती भी है तो देश की साख के लिए हानिकारक साबित होगी।

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान के संकटकालीन प्रावधान संविधान निर्माण के दौरान तथा बाद में भी पर्याप्त वाद–विवाद का विषय रहे हैं। संविधान सभा के सदस्य और संविधान वेत्ता दोनों ही इन उपबन्धों को लेकर आशंकित थे। जिस दिन संविधान सभा में इन उपबन्धों को स्वीकार किया गया, हरिविष्णु कामथ ने घोर निराशा के साथ कहा था कि, ''यह शर्मनाक दिन है। ईश्वर भारतीयों की रक्षा करे।'' संविधान के इन उपबन्धों की अग्रलिखित आधारों पर आलोचना की जा सकती है–

1. **शासन के संघात्मक स्वरूप का अन्त**–संविधान द्वारा भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है लेकिन जैसे ही ये उपबन्ध लागू किए

जाते हैं राज्यों की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका वाले उपबन्ध में तो राज्य सरकार पूरी तरह से समाप्त हो जाती है। बाहरी आक्रमण तथा वित्तीय संकट की स्थिति में राज्य एक कठपुतली की भांति हो जाता है जिसकी डोर केन्द्र के हाथ में हो। श्री टी. टी. कृष्णामाचारी का कथन बिल्कुल सटीक है कि, ''भारतीय संविधान साधारण काल में संघात्मक तथा युद्ध एवं संकटकालीन परिस्थितियों में एकात्मक रूप धारण कर लेता है।

2. **राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है**—जर्मनी के वीमर गणतन्त्र के संविधान में भी संकटकालीन शक्तियों का प्रावधान था। उसमें भी तीन प्रकार की आपातकालीन शक्तियां प्रदान की गई थीं। संविधानविदों का मानना है कि संविधान के अनुसार संकटकाल में एकमात्र निर्णायक राष्ट्रपति होता है। राष्ट्रपति उस अवधि में मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर सकता है तथा लोकसभा को भंग करके लगभग 6 से 7 महीने तक मनमानी कर सकता है।

3. **शक्तियों का दुरुपयोग संभव**—अनुच्छेद 356 में राज्यों के संवैधानिक तन्त्र की विफलता के समय जो संकटकालीन घोषणा का प्रावधान है उसमें यह संभावना होती है कि शक्तिशाली केन्द्र राष्ट्रपति के माध्यम से राज्य में अपने विरोधियों का दमन कर सकता है।

4. **राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त हो जाती है**—आपातकाल की घोषणा के बाद केन्द्रीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के वित्तीय अधिकार व्यापक हो जाते हैं। राज्यों में स्थायित्व बनाए रखने के लिए राष्ट्रपति राज्यों को स्पष्ट आदेश दे सकता है कि राज्य अपने सभी वित्त विधेयक उसके सामने प्रस्तुत करें। केन्द्र और राज्यों के बीच कर विभाजन से राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त हो जाती है।

5. **मूल अधिकार निलंबित हो जाते हैं**—ये उपबन्ध जब तक लागू रहते हैं, संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को उस समय सीमा के लिए निलंबित कर देते हैं। विश्व के किसी भी लोकतंत्र में नागरिकों के मूल अधिकारों और स्वतंत्रताओं को प्रतिबन्धित करने की शक्तियां इतने बड़े पैमाने पर प्रदान नहीं की गई हैं। यही कारण है कि संविधान सभा में इन उपबन्धों के विषय में व्यापक मतभेद बने रहे। हरिविष्णु कामथ ने इस विषय में कहा है, "मौलिक अधिकारों की गौरवपूर्ण स्वीकृति पर यह महान नकारात्मकता की मेहराब चढ़ी हुई है।"

इन सबके अतिरिक्त राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों या संविधान के आपातकालीन प्रावधानों के संबंध में एक आलोचना यह भी की जाती है कि व्यवहार में आपातकालीन प्रावधानों का प्रयोग संविधान निर्माताओं की आशा और इच्छा के अनुकूल नहीं रहा है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने तो आशा व्यक्त की थी कि इन व्यवस्थाओं को कभी भी कार्य में परिणत नहीं किया जाएगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण से शासन का आचरण संविधान निर्माताओं की आशाओं के अनुकूल नहीं रहा है। आपातकालों का

अनावश्यक रूप से लम्बा होना तथा लम्बी अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन लागू करना शासन की स्वेच्छाचारिता को दर्शाता है तथा स्वयं शासन पर भी आक्षेप है।

आपातकालीन शक्तियों का औचित्य

यह सत्य है कि राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की कटु आलोचनाएं हुई है, यह भी सत्य है कि इन शक्तियों के शासन के द्वारा दुरुपयोग की पर्याप्त आशंका बनी रहती है परन्तु यह भी सत्य है कि देश के विशाल आकार, विविधताओं, संघात्मक ढांचे के कारण इस प्रकार के आपातकालीन उपबन्ध अत्यावश्यक है जो संकटकाल में देश को एकात्मक ढांचे में परिवर्तित कर देते हैं। एक शक्तिशाली केन्द्र आपातकाल की व्यावहारिक आवश्यकता होती है। आपातकालीन शक्तियों की जो आलोचनायें की गई हैं उनमें व्यावहारिक दृष्टिकोण की कमी प्रतीत होती है। यदि आपातकालीन शक्तियों का पुनर्मूल्यांकन निम्न बिन्दुओं पर किया जाए तो अवश्य ही इनका औचित्य सिद्ध हो जाएगा—

1. **राष्ट्र की सुरक्षा के दृष्टिकोण से केन्द्र के पास संकटकालीन शक्तियों का होना आवश्यक है**—संविधान में इन संकटकालीन उपबन्धों की व्यवस्था विशेष रूप से संकटकाल के लिए ही की गई है। संकटकाल में व्यक्ति की राजभक्ति देश की ओर होती है और केन्द्र सरकार देश का प्रतिनिधित्व करती है। इस संदर्भ में लन्दन टाइम्स ने बिल्कुल सटीक टिप्पणी की है, "संघीभूत इकाइयों से निबटने के लिए भारतीय संघ को शक्तिशाली होना चाहिए।"

   भारतीय संविधान में उल्लिखित संकटकालीन उपबन्धों के द्वारा भारत का संघात्मक रूप नष्ट नहीं होता है केवल शक्तियों का कुछ विशेष समय के लिए केन्द्रीयकरण हो जाता है जिससे कि संकट का सामना किया जा सके। इस दृष्टि से अमेरिका और कनाडा के संविधान में दुर्बलता पायी जाती है।

2. **संकटकालीन शक्तियों के आधार पर राष्ट्रपति अधिनायक नहीं बन सकता है**—यह निष्कर्ष निकालना बिल्कुल निराधार है कि संकटकालीन शक्तियों के आधार पर राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है। राष्ट्रपति अपनी किसी भी शक्ति का प्रयोग मन्त्रिपरिषद के परामर्श के बिना नहीं कर सकता तथा उसके किसी भी 'समाधान' को जब तक संसद की स्वीकृति न मिल जाए, वह लागू नहीं हो सकता है अतः संसदात्मक व्यवस्था में अधिनायक बनने का प्रश्न ही नहीं उठता है। राष्ट्रपति तो क्या, कोई प्रधानमंत्री या मन्त्रिपरिषद भी अधिनायक नहीं बन सकती है। इस संबंध में टी.टी कृष्णामाचारी का कथन बिल्कुल प्रासंगिक है, "अगर कार्यपालिका अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करती है तो संसद उसे सबक दे सकती है।"

3. **राज्यों में स्थायी सरकारों का निर्माण**—संविधान निर्माता इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता के आधार पर आपातकाल की घोषणा का दलगत रूप से दुरुपयोग होने की पूरी आशंका थी।

आलोचकों ने स्पष्ट रूप से कहा कि केन्द्र के शासक दल ने कई बार अपने संकुचित हितों को साधने तथा अपने विरोधियों को कुचलने के लिए अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग किया है। 1977 और 1980 का उदाहरण उपर्युक्त धारणा को स्पष्ट करता है। यदि इस संबंध में विवेकपूर्ण अध्ययन किया जाए तो निष्कर्ष यही निकलकर आता है कि कुछ मामलों को यदि छोड़ दिया जाए तो अनुच्छेद 356 का अधिकतर प्रयोग राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता दूर करने के लिए किया गया है। इससे राज्यों में स्थायी सरकारों के गठन की प्रवृत्ति को बल मिलता है तथापि इन सभी उपायों पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए जिससे अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति के दुरुपयोग को रोका जा सके।

4. **आर्थिक संकट से निपटने हेतु विशेष वित्तीय उपबन्ध आवश्यक है**—संविधान निर्माता 1930 में आये विश्वव्यापी आर्थिक संकट से परिचित थे, वे जानते थे कि आर्थिक संकट राष्ट्र के अस्तित्व को खतरे में डाल देता है। अतः माना जा सकता है कि वित्तीय उपबन्ध तत्कालीन परिस्थितियों और विश्व के अन्य संघात्मक शासनों में पायी जाने वाली व्यवस्थाओं की देन है। 1930 में 'राष्ट्रीय पुनर्लाभ अधिनियम' (The National Recovery Act 1930) पारित किया था, इसके द्वारा अमेरिकी राष्ट्रपति को व्यापक वित्तीय अधिकार प्रदान किए गए थे। भारतीय संविधान निर्माता ने यह सोचकर कि भविष्य में यदि आर्थिक संकट की स्थिति आ जाए तो उसका सामना करने के लिए हम पहले से ही तैयार रहें, इन प्रावधानों को संविधान में सम्मिलित करके अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

5. **राज्य की सुरक्षा और व्यक्ति की स्वतंत्रता एक–दूसरे के लिए बाधक नहीं बल्कि उनमें सामंजस्य होना चाहिए**—हमेशा आपेक्ष होता है कि आपातकालीन उपबन्धों का सबसे नकारात्मक प्रभाव मूल अधिकारों पर पड़ता है। राज्य की सुरक्षा और व्यक्ति की स्वतंत्रता दो विरोधाभासी अवधारणाएं हैं। संविधान निर्माताओं ने एक संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया, उन्होंने राज्य की सुरक्षा को आपातकाल में प्राथमिकता देते हुए, आपातकालीन व्यवस्था के समय व्यक्ति के स्वतंत्रता संबंधी अधिकारों को स्थगित करने का निर्णय लिया। हालांकि राज्य के दृष्टिकोण से मूल अधिकारों का स्थगन उचित है परन्तु व्यक्ति के दृष्टिकोण से यह अनुचित है। लेकिन जहां सुरक्षा का प्रश्न हो, वहां यह स्थिति अपरिहार्य बन जाती है। व्यावहारिक तौर पर अब तक केवल दो बार ही आपातकाल की घोषणा के दौरान मूल अधिकारों को स्थगित किया गया है। पहली बार 1971 में तथा दूसरी बार 1975 में, दिसम्बर 1971 में आपातकाल की घोषणा की गई थी। उससे नवम्बर 1974 तक मूल अधिकार स्थगित किए गए थे। 26 दिसम्बर 1974 को राष्ट्रपति ने तस्कर विरोधी कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों के मौलिक अधिकार 6 माह की अवधि के लिए और निलम्बित कर दिए तथा उनके द्वारा स्वयं को बन्दी बनाए जाने के विरुद्ध न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकेगी, यह प्रावधान भी स्थापित कर दिया

था। 1971 में जो आपातकाल घोषित किया गया था उसकी अवधि समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि दूसरा आपातकाल 1975 में घोषित कर दिया गया। 1975 के आपातकाल में अनुच्छेद 14, 19, 21 और 22 को स्थगित किया गया था। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में संकटकालीन घोषणाएं हुई हैं पर उनमें कभी भी किसी मूल अधिकार का स्थगन नहीं हुआ।

संविधान में दिए गए इन संकटकालीन उपबन्धों को अरुचिकर माना जा सकता है किन्तु एक नव स्वतंत्र राष्ट्र की एकता, अखण्डता, स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र की रक्षा के लिए इस प्रकार के उपबन्ध अत्यावश्यक हैं। श्री टी.टी. कृष्णामाचारी ने ठीक ही कहा है कि, "संकटकालीन उपबन्ध एक आवश्यक बुराई है।" एक नव स्वतंत्र राष्ट्र की बाध्यता होती है कि वह अपने आपको किस प्रकार संकटकाल के लिए तैयार रखे। संविधान निर्माताओं इन संकटकालीन प्रावधानों के द्वारा भारतीय प्रजातंत्र को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयास किया है।

2.2.2 राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

भारत में राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का निर्धारण एक विवादित प्रश्न रहा है। कुछ विद्वान भारतीय राष्ट्रपति की तुलना ब्रिटिश सम्राट से करते हैं। भारतीय राष्ट्रपति कुछ औपचारिक कार्यों में ब्रिटिश सम्राट के समान है अन्यथा उससे नितान्त भिन्न है। राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के संबंध में दो धारणाओं का प्रतिपादन किया गया है– 1. स्वतंत्र राष्ट्रपति की अवधारणा तथा 2. संवैधानिक प्रधान की धारणा।

1. स्वतंत्र राष्ट्रपति की अवधारणा–कुछ विद्वानों का मानना है कि संविधान के द्वारा जो शक्तियां राष्ट्रपति को प्रदान की गई हैं, व्यावहारिक तौर पर वह उनका प्रयोग अपने विवेक के आधार पर कर सकता हैं अनुच्छेद 51 (1) के अनुसार, "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा।"

इसी प्रकार अनुच्छेद 74 (1) के अनुसार, "राष्ट्रपति को उसके कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा करने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" इस अनुच्छेद के उपबन्ध के संबंध में दो प्रकार के मत सामने आते हैं, प्रथम वर्ग उन विचारों का है जिनका मानना है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है तथा राष्ट्रपति चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है। इस संबंध में डॉ. बी.एम. शर्मा कहते हैं कि, "अनुच्छेद 53 (1) के अनुसार यदि राष्ट्रपति चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है।" ग्लैडहिलज ने कहा कि, "इस बात की पर्याप्त संभावना है कि राष्ट्रपति बिना संविधान का उल्लंघन किए ही तानाशाह बन बैठे।" प्रारूप समिति के वैधानिक सलाहकार सर बी.एन. राव ने अपनी पुस्तक 'Indian Constitution in the Making' में हवाला दिया है कि, "संविधान राष्ट्रपति का ऐसा कोई वैधानिक उत्तरदायित्व निश्चित नहीं करता है कि वह मंत्रियों की मंत्रणा के आधार पर कार्य करेगा। वह किस सीमा तक ऐसा करने के लिए बाध्य होगा, यह परम्परा का

विषय है।" अनुच्छेद 74 (1) यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति को मंत्रियों की मन्त्रणा माननी ही होगी। सुब्बाराव तथा उनके समर्थकों के द्वारा स्वतंत्र राष्ट्रपति की अवधारणा का समर्थन करते हुए कहा गया कि, "राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रधान नहीं है और उस पर संविधान की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने की विशेष जिम्मेदारी है।"

इस अवधारणा के प्रतिपादकों का मानना है कि यदि राष्ट्रपति को केवल संवैधानिक प्रधान ही बनाना था तो उसे अध्यक्षात्मक प्रणाली वाली शक्तियां क्यों प्रदान की गईं। वह साधारण विधेयक को दोबारा संसद को लौटा सकता है तथा किसी मंत्री के व्यक्तिगत निर्णय को पुनः विचार हेतु मंत्रिपरिषद के सामने रखवा सकता है। ब्रिटिश सम्राट की स्थिति देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सम्राट के पद के साथ परम्पराएं जुड़ी हुई हैं जो समय के साथ विकसित हुई हैं। जरूरी नहीं कि भारत में भी उसी स्तर की परम्पराओं का विकास सही दिशा में हो, दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ब्रिटिश सम्राट का पद पूर्णतः उत्तराधिकार के नियमों पर आधारित है जबकि भारतीय राष्ट्रपति पूर्ण रूप से निर्वाचित होता है। अतः इस श्रेणी के विचारकों का यह मत कि भारतीय राष्ट्रपति सभी परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद की मंत्रणा मानने के लिए बाध्य नहीं होगा, काफी हद तक सही है।

2. संवैधानिक प्रधान की धारणा—स्वतंत्र राष्ट्रपति की अवधारणा के विपरीत ऐसे भी विचारक हैं जो राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान मानते हैं। इनका मानना है कि संविधान स्पष्ट रूप से तो राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करने के लिए बाध्य नहीं करता है किन्तु संविधान में प्रयोग किए गए वाक्यांश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे परामर्श मानना ही होगा। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीम राव अम्बेडकर का भी यही मानना था कि, "राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश सम्राट की है। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, शासन उसका नहीं है। वह साधारणतया मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा।"

वास्तविकता यह है कि भारतीय संविधान संसदात्मक व्यवस्था स्थापित करता है, इसके अनुसार एक वास्तविक प्रधान नहीं हो सकता है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है अतः शक्तियों का उपयोग भी वही व्यक्ति करते हैं जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। शक्तियों का वास्तविक रूप से प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा किया जाता है और राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान के रूप में कार्य करता है।

इस संबंध में एक अन्य ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि यदि राष्ट्रपति जानबूझकर मंत्रिपरिषद के परामर्श की अवहेलना करता है, तो मंत्रिपरिषद त्यागपत्र दे सकती है, जिसके फलस्वरूप संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो सकता है। यदि मंत्रिपरिषद संसद के बहुमत दल से निर्मित है तो अपनी नीतियों को लेकर उसे सार्वजनिक समर्थन प्राप्त होता है, तो ऐसी परिस्थिति में दूसरा मंत्रिमण्डल गठित कर पाना निश्चय ही कठिन कार्य होगा। ऐसे में राष्ट्रपति से विवेकपूर्ण आचरण आशा की

जाती है तथा विपरीत परिस्थितियों में यदि महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति के कारण संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न होता है, तो उसके विरुद्ध महाभियोग भी लगाया जा सकता है।

यू.एन.आर. राव की रिट याचिका पर निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने भी इसी अवधारणा का समर्थन किया था कि, "संविधान का 74वां अनुच्छेद आदेशात्मक है और राष्ट्रपति कैबिनेट की सहायता तथा परामर्श के बिना कार्य नहीं कर सकता है।"

राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

राष्ट्रपति की स्थिति मूलतः एक संवैधानिक प्रधान की है जो अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह से करता है। वास्तविक रूप से कार्यपालिका की शक्ति राष्ट्रपति में नहीं वरन मंत्रिपरिषद में निहित होती है जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। संविधान सभा के वाद विवादों का अध्ययन करके भी यही ज्ञात होता है कि संविधान सभा राज्य के प्रधान के संवैधानिक गुणों पर ही बल देना चाहती थी। राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए या यह जानने के लिए कि भारतीय राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति संविधान के अनुरूप क्या है? संविधान के अनुच्छेद 74, 75 और 78 विशेष महत्व रखते हैं, इनसे यह निर्धारित होगा कि–

(i) राष्ट्रपति को अपने कार्यों का निष्पादन करने के लिए सहायता एवं मंत्रणा देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।

(ii) राष्ट्रपति अपने कार्यों का निष्पादन मंत्रिपरिषद के परामर्श से ही करेगा।

(iii) यद्यपि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से किसी भी कार्यवाही पर पुनर्विचार के लिए कह सकता है किन्तु पुनर्विचार के पश्चात जब वह मंत्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाएगी तब उसे अपनी स्वीकृति देनी होगी।

(iv) मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को किन प्रश्नों पर परामर्श देती है और क्या परामर्श देती है, यह न्यायालय की जांच के क्षेत्राधिकार से बाहर है।

(v) प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के परामर्श से करेगा।

(vi) राष्ट्रपति के अनुग्रह पर्यन्त मंत्री अपने–अपने पद पर बने रहेंगे।

(vii) मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।

(viii) प्रधानमंत्री का कर्तव्य इस प्रकार होगा–

  (क) मंत्रिपरिषद के द्वारा संघीय प्रशासन के सभी सम्पादित कार्यों और प्रस्तावित नीतियों की सूचनाएं राष्ट्रपति को दे।

  (ख) संघीय प्रशासन से संबंधित कार्यों तथा व्यवस्थापना संबंधी जो सूचनाएं राष्ट्रपति द्वारा मांगी जाएं, प्रधानमंत्री उन्हें उपलब्ध कराए।

  (ग) किसी ऐसे विषय को जो किसी मंत्री ने निश्चित किया हो परन्तु मंत्रिपरिषद ने उस पर विचार न किया हो, राष्ट्रपति की इच्छा पर मंत्रिपरिषद के समक्ष विचार–विमर्श हेतु रखा जाएगा।

उपर्युक्त उपबंधों से यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान निर्माता राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान बनाना चाहते थे। राष्ट्रपति की शक्तियों और अधिकार के संदर्भ यही कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति 'राष्ट्र का प्रतीक' है राष्ट्र का शासक नहीं। अनुच्छेद 75 (2) यह उपबन्धित करता है कि मंत्रिगण राष्ट्रपति के कार्यकाल के दौरान अपने–अपने पदों पर आसीन रहेंगे परन्तु सत्य यह है कि मंत्रिपरिषद संसद के निचले सदन के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर आसीन रहती है। मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। राष्ट्रपति उसे अपदस्थ नहीं कर सकता है क्योंकि इस प्रकार के असंवैधानिक कार्यों को करने से स्वयं उसका पद भी खतरे में आ सकता है। संसद के लिए भी यह स्थिति अत्यन्त खेदजनक होगी कि उसकी राजनीतिक सत्ता और संवैधानिक सत्ता को चुनौती दी जाए। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के कार्यों पर विचार कर सकता है आलोचक हो सकता है, परामर्शदाता हो सकता है, नियोक्ता हो सकता है। आलोचक के रूप में वह किसी मंत्री द्वारा निश्चित किए विषय पर आपत्ति जता सकता है, परामर्शदाता के रूप में वह अपने विचार मंत्रिपरिषद के समक्ष रख सकता है तथा नियोक्ता के रूप में देश में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियां कर सकता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान होता है, लेकिन वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित होती है।

42वें तथा 44वें संविधान संशोधान के पश्चात यह समझना कि राष्ट्रपति मात्र कठपुतली है एक भ्रमपूर्ण धारणा है। उसके विशेषाधिकारों के क्षेत्र अवश्य ही सीमित हो गए हैं लेकिन 42वें संविधान संशोधन के प्रावधान (13) द्वारा राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति के संबंध में स्पष्ट प्रावधान बना दिए गए हैं–

"राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के सम्पादन में मंत्रिपरिषद से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेगा।"

44वें संवैधानिक संशोधन के पश्चात राष्ट्रपति की स्थिति–42वें संवैधानिक संशोधन के पश्चात जो व्यवस्था की गई उससे राष्ट्रपति के पद के गौरव तथा गरिमा को आघात पहुंचा था। अतः 44वें संशोधन में निम्न शब्दावली को अपनाया गया – "राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से जिस परामर्श पर पुनर्विचार के लिए कहे, उस पर पुनर्विचार के बाद मंत्रिपरिषद से राष्ट्रपति को जो परामर्श प्राप्त होगा, राष्ट्रपति उस परामर्श के अनुसार ही कार्य करेंगे।"

वस्तुतः 42वें तथा 44वें संशोधन से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति अपने कार्य मंत्रिपरिषद के परामर्श से करने के लिए बाध्य है। ऐसी परिस्थितियां भी हैं, जहां इन संशोधनों का राष्ट्रपति की शक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तथा वह विधिक रूप से मंत्रिपरिषद से परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं है। ये परिस्थितियां इस प्रकार हैं–

1. **प्रधानमंत्री की नियुक्ति**–अनुच्छेद 75 (1) उपबन्धित करता है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने विवेक के आधार पर कर सकता है लेकिन मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री के परामर्श से करेगा। भारत में यह परम्परा स्थापित

टिप्पणी

हो चुकी है कि प्रधानमंत्री बहुमत दल का नेता होगा। अनुच्छेद 75 (3) में यह कहा गया है कि मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है इसलिए कोई ऐसा व्यक्ति ही प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त लोकसभा में बहुमत दल का नेता या राज्ससभा का सदस्य भी प्रधानमंत्री नियुक्त किया जा सकता है, शर्त यह है कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो तथा लोकसभा उसे अपना नेता चुने। श्रीमती इंदिरा गांधी को जब पहली बार प्रधानमंत्री चुना गया तब वे राज्यसभा की सदस्या थीं। साधारण परिस्थितियों में जब किसी दल को लोकसभा में बहुमत मिल गया हो तो संशय के लिए कोई स्थान नहीं बचता है विशेष परिस्थितियों जिनमें किसी भी दल को लोकसभा में बहुमत न मिला हो, तब राष्ट्रपति स्वविवेक के आधार पर किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त कर सकता है जो उसके अनुसार लोकसभा का बहुमत प्राप्त करने की स्थिति में हो तथा एक स्थायी सरकार बना सकता हो। भारत जैसे देश में जहां बहुदलीय प्रणाली है ऐसी परिस्थिति का उत्पन्न होना आश्चर्य की बात नहीं है। इन परिस्थितियों में संविधान वेत्ताओं का मानना है कि राष्ट्रपति के पास स्वविवेक के अवसर कम ही होते हैं क्योंकि उसे कुछ मान्य परम्पराओं के अनुसार कार्य करना होता है। अभी तक अस्पष्ट बहुमत के जो मामले सामने आए हैं उनके आधार पर निम्न परिपाटियां अस्तित्व में आयी हैं—

(i) सदन के सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करना चाहिए।

(ii) चुनाव के पहले बने संविद (Coalition) के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाना चाहिए।

संविधानविदों के मतानुसाद यदि लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं है तो राष्ट्रपति को सबसे बड़े दल के नेता को पहले प्रधानमंत्री नियुक्त करना चाहिए। इस परंपरा के अनुसार कार्य करने से राष्ट्रपति का कार्य सरल होगा तथा वह आलोचना का पात्र नहीं बन पाएगा। यदि चुनाव के पूर्व कई दल मिलकर कोई संयुक्त दल बना लेते हैं तो उसके नेता को पहले प्रधानमंत्री नियुक्त करना चाहिए। इसके पश्चात चुनाव के बाद बनाए गए संयुक्त दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करना चाहिए। सबसे बड़े दल के नेता और चुनाव के पश्चात बने संयुक्त दल के नेता के बीच अन्तर कम हो तो सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना चाहिए। यह निर्णय राष्ट्रपति अपने विवेक के आधार पर करे कि लोकसभा में किसे बहुमत का समर्थन प्राप्त है। विपक्ष के नेता का विकल्प उस समय अपनाया जाना चाहिए जब सरकार अविश्वास प्रस्ताव में पराजित हो चुकी हो और दोनों में से कोई विकल्प न बचा हो। यह परंपरा ब्रिटेन में सुस्थापित है। ब्रिटेन में द्वि—दलीय व्यवस्था है एक सरकार बनाता है दूसरा विपक्ष में बैठता है। ऐसी दशा में विपक्ष के नेता को ही आमन्त्रित किया जाएगा किन्तु भारत जैसे देश में जहां बहु—दलीय प्रणाली है यह परंपरा ज्यों की त्यों लागू नहीं हो सकती है।

2. **लोकसभा का विघटन**—अनुच्छेद 85 लोकसभा को विघटित करने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। इसके लिए राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से परामर्श करके उसकी सिफारिश पर ही लोकसभा का विघटन करता है। राष्ट्रपति अपने विवेक के आधार पर लोकसभा का विघटन नहीं कर सकता है। जब तक प्रधानमंत्री को लोकसभा का समर्थन प्राप्त रहता है तब तक राष्ट्रपति उसके परामर्श से ही लोकसभा का विघटन करने के लिए बाध्य है।

प्रधानमंत्री के परामर्श से लोकसभा के विघटन करने की स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि क्या राष्ट्रपति उस प्रधानमंत्री के परामर्श से लोकसभा का विघटन करने के लिए बाध्य है जो लोकसभा में बहुमत खो चुका है (दल—बदल या अन्य कारणों से)? इस प्रश्न के उत्तर में संविधानविद् एक मत नहीं हैं, पहला वर्ग कहता है कि राष्ट्रपति प्रत्येक दशा में परामर्श लेने के लिए बाध्य है, जबकि दूसरा वर्ग कहता है कि राष्ट्रपति ऐसे प्रधानमंत्री से परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं है। प्रथम मत ब्रिटेन में एक सुस्थापित परंपरा है, वहां सम्राट हमेशा कॉमन सभा का विघटन प्रधानमंत्री की सलाह पर ही करता है चाहे वह सदन में अपना बहुमत खो चुका हो या उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो चुका हो। दूसरा मत भारतीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार निम्नलिखित परिस्थितियों में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री से परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं है— 1. जब वह सदन में बहुमत खो देता है या 2. जब वह अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर पाता या 3. जब उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाता है या 4. जब वह लोकसभा के समक्ष जाने से इंकार कर देता है तथा राष्ट्रपति इस तथ्य से अवगत है कि सरकार का बहुमत नहीं है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री से परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं है तथा राष्ट्रपति को वैकल्पिक सरकार बनाने का प्रयास करना चाहिए। भारत एक विशाल, विविधता पूर्ण तथा एक विकासशील देश है। यहां बार—बार चुनाव आयोजित करना अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इस बारे में सटीक विचार व्यक्त किए थे कि "लोकसभा के विघटन का विकल्प अन्तिम होना चाहिए।" अभी तक अध्ययनों से पता चलता है कि लोकसभा का विघटन कभी भी प्रधानमंत्री के परामर्श के बिना नहीं हुआ। यह स्वस्थ परम्परा भारतवर्ष के प्रजातंत्रात्मक शासन में और विकसित होनी चाहिए।

उपराष्ट्रपति

भारतीय संविधान के अनुसार भारत के लिए एक उपराष्ट्रपति की भी व्यवस्था की गई है। भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा, संविधान का अनुच्छेद (63) इसकी व्यवस्था करता है। यद्यपि भारत की शासन व्यवस्था में इसका बहुत महत्व नहीं है लेकिन उपराष्ट्रपति का पद भारत में एक सम्मानित और गरिमापूर्ण पद है। भारत में इस पद में भावी राष्ट्रपति की संभावनाएं छिपी रहती हैं। उपराष्ट्रपति के पद की संकल्पना को संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से लिया गया है। हालांकि वहां की शासन व्यवस्था

भारतीय शासन व्यवस्था से नितान्त भिन्न है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ने कुछ परिवर्तनों के साथ उपराष्ट्रपति के पद को अपनाया है। संविधान निर्माता संभवतया उपराष्ट्रपति के पद को इसलिए शासन व्यवस्था में स्थापित करना चाहते थे क्योंकि यह सर्वमान्य तथ्य है कि उपराष्ट्रपति भी कार्यपालिका का ही भाग है। कार्यपालिका की शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी है तथा कई बार ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उपराष्ट्रपति उसके समस्त कार्यभार को वहन कर सके।

योग्यताएं और कार्यकाल

संविधान के प्रावधानों के अनुसार उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए निम्नलिखित योग्यताएं निश्चित की गई हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 33 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. वह राज्यसभा का सदस्य चुने जाने की योग्यता रखता हो।
4. वह भारत सरकार, राज्य सरकार या किसी स्थानीय सरकार का कर्मचारी न हो।
5. वह संसद के किसी सदन या राज्य विधानसभा का सदस्य न हो। यदि कोई व्यक्ति इनमें से किसी का सदस्य हो तो उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने के पश्चात उसका वह स्थान खाली समझा जाएगा।
6. संविधान के अनुच्छेद 102 में वर्णित अयोग्यताएं भी उसमें न हों।

कार्यकाल

सामान्यतः उपराष्ट्रपति का कार्यकाल शपथ ग्रहण करने की तिथि से पांच वर्ष तक की अवधि के लिए होता है। यथार्थ में उपराष्ट्रपति अपने पद पर उस समय तक बना रहता है जब तक उसका उत्तराधिकारी अपने पद की विधिवत शपथ नहीं ले लेता। यदि किन्हीं कारणोंवश उपराष्ट्रपति का पद कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व रिक्त हो जाता है, तो शीघ्रातिशीघ्र नए चुनाव कराये जाएंगे तथा नवनिर्वाचित उपराष्ट्रपति शपथ ग्रहण करने की तिथि से पूरे पांच वर्ष तक अपने पद पर बना रहेगा। संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो यह निश्चित कर सके कि एक व्यक्ति को अधिकतम कितनी बार उपराष्ट्रपति पद के लिए चुना जाएगा। अभी तक सभी उपराष्ट्रपति 5–5 वर्ष के लिए ही निर्वाचित हुए हैं; केवल डॉ. राधाकृष्णन दस वर्ष की अवधि तक उपराष्ट्रपति रहे।

निर्वाचन

भारत के उपराष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली एवं आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार के चुनाव में गुप्त मतदान होता है। इस प्रकार की चुनाव प्रणाली अपनाने के पीछे उद्देश्य यह था कि इस गरिमापूर्ण पद के लिए ऐसा व्यक्ति चुना जाए जो कम से कम निर्वाचक मण्डल

अर्थात दोनों सदनों के सदस्यों का बहुमत प्राप्त करने की योग्यता तथा सामर्थ्य रखता हो। इस पद्धति में कमी यही है कि कभी–कभी ऐसा व्यक्ति इस पद के लिए निर्वाचित हो जाता है जिसे राज्यसभा का समर्थन प्राप्त नहीं होता है। संविधान सभा में प्रो. के. टी. शाह ने जोर दिया था कि उपराष्ट्रपति पद के चुनाव का तरीका राष्ट्रपति के चुनाव वाला ही होना चाहिए लेकिन डॉ. भीमराव अम्बेडकर उपराष्ट्रपति पद के लिए भिन्न प्रणाली के पक्षधर थे, इस कारण यह संवैधानिक समस्या आज हमारे सामने आती है। संविधान के ग्यारहवें संशोधन (1961) के अनुसार, उपराष्ट्रपति के चुनाव के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आवश्यक नहीं थी। उपराष्ट्रपति को अपना पद ग्रहण करते समय राष्ट्रपति के समक्ष शपथ लेनी होती है।

उपराष्ट्रपति को पदच्युत करने का तरीका

उपराष्ट्रपति की पदावधि 5 वर्ष की होती है परन्तु इस अवधि से पूर्व ही यदि इसका पद रिक्त होता है तो उसके निम्न तरीके होंगे– 1. वह अपने पद को स्वयं राष्ट्रपति को संबोधित करते हुए त्याग सकता है। 2. उसे राज्य सभा के ऐसे प्रस्ताव द्वारा जो सदन के सभी सदस्यों के बहुमत से पारित हो तथा जिसे लोकसभा ने साधारण बहुमत ने पारित किया हो, हटाया जा सकता है, किन्तु ऐसे प्रस्ताव को पारित करने से 14 दिन पूर्व नोटिस दिया जाना आवश्यक है। उपराष्ट्रपति को अपने पद से सामान्य तरीके से हटाया जा सकता है, उसे हटाने के लिए किसी प्रकार के महाभियोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए लोकसभा का साधारण बहुमत ही पर्याप्त होता है तथा आरोपों की जांच भी नहीं की जाती है।

वेतन एवं भत्ते

उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है, वह अपना वेतन उपराष्ट्रपति के रूप में ग्रहण नहीं करता है बल्कि राज्यसभा के सभापति के रूप में ग्रहण करता है। यह बड़ा रोचक तथ्य है कि उपराष्ट्रपति को उसके स्थायी पद जिसके लिए उसका निर्वाचन हुआ है, वेतन नहीं मिलता है बल्कि उस कार्य के लिए मिलता है, जिसे वह पदेन सम्पादित करता है। उपराष्ट्रपति को प्रति माह 1,25,000 रुपये वेतन के रूप में भत्तों सहित भारत की संचित निधि से दिए जाते हैं। उसे भारत सरकार की ओर से सुसज्जित आवास (बिना किराए के) तथा अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं। उसकी कार्यावधि के भीतर उसके वेतन व भत्तों में किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं की जा सकती है।

उपराष्ट्रपति के कार्य व शक्तियां

संविधान में उपराष्ट्रपति के निम्नलिखित कार्यों व शक्तियों का वर्णन मिलता है–

1. **राज्यसभा के पदेन सभापति के रूप में**–उपराष्ट्रपति अपने सम्पूर्ण कार्यकाल के दौरान राज्यसभा के पदेन सभापति के रूप में अपने कार्यों का निर्वहन करता है। इसके राज्यसभा के सभापति के रूप में कार्य लगभग वही होते हैं जो लोकसभा के अध्यक्ष के होते हैं। उपराष्ट्रपति राज्यसभा में अनुशासन

बनाये रखने का काम करता है तथा जो सदस्य आज्ञा को भंग करता है वह उसे सदन से बाहर निकलवा सकता है। उसकी आज्ञा के बिना कोई सदस्य सदन के सम्मुख भाषण नहीं दे सकता है। वह सदन में विधेयकों पर विचार व्यक्त करने के लिए सदस्यों को आमंत्रित करता है तथा वाद–विवाद के पश्चात उस पर मतदान करवाता है तथा मतदान के परिणाम की घोषणा करता है कि विधेयक पारित हो गया है या नहीं। जब किसी विधेयक पर मत बराबर–बराबर पड़ते हैं तब वह निर्णायक के रूप में अपना मत देता है। वह यह भी निश्चित करता है कि कौन–कौन से प्रश्न सदन में पूछने योग्य हैं और कौन से नहीं। वह किसी भी व्यक्ति को सदन में असंसदीय भाषा प्रयोग करने से मना कर सकता है। जब विधेयक राज्य सभा में पारित होते हैं तो उन विधेयकों पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक हैं। वह सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।

टिप्पणी

2. **सामाजिक समारोहों में प्रतिनिधित्व**–अनेक सामाजिक समारोहों में उपराष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। वह अनेक सामाजिक और शैक्षणिक उत्सवों में भाग लेकर जन मानस का उत्साहवर्धन करता है।

3. **कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य**–संविधान के अनुच्छेद 65 (1) के उपबन्ध यह सुनिश्चित करते हैं कि यदि राष्ट्रपति की मृत्यु हो जाए, उसे महाभियोग द्वारा पदच्युत कर दिया जाए, वह बीमार हो जाए, वह त्यागपत्र दे दे या किसी अन्य कारण से देश में अनुपस्थित हो, तो उसके स्थान पर उपराष्ट्रपति कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। ऐसी आपातकालीन परिस्थितियां भी आ सकती हैं कि राष्ट्रपति का अपहरण हो जाए या उच्चतम न्यायालय ने उसे अयोग्य घोषित कर दिया हो तब भी उपराष्ट्रपति उसके स्थान कार्य का संचालन करेगा। राष्ट्रपति की अस्वस्थता या विदेश यात्रा के अवसरों पर भी उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के कार्यभार का वहन करता है। अब तक ऐसा मुख्य रूप से दो बार हुआ है पहली बार जब डॉ. जाकिर हुसैन का निधन हुआ था तब उपराष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि ने कार्यभार संभाला था तथा दूसरी बार राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद के निधन के कारण श्री वी.डी. जत्ती ने कार्यभार संभाला था।

   जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा, तब उसे वे समस्त शक्तियां और उन्मुक्तियां प्राप्त होंगी जो राष्ट्रपति को प्राप्त होती हैं। इस अवधि में वह राज्य सभा के सभापति के रूप में कार्य नहीं करता है और न ही इस हैसियत से वेतन प्राप्त करता है। कार्यवाहक के रूप में उपराष्ट्रपति 6 माह से अधिक कार्य नहीं कर सकता है।

4. **अन्य कार्य**–उपराष्ट्रपति का एक कार्य यह भी है कि जब कभी उसे राष्ट्रपति का त्यागपत्र प्राप्त हो तो उसकी सूचना तत्काल लोकसभा अध्यक्ष को प्रेषित करे। वह विदेशों के साथ मैत्री संबंध बनाने व प्रगाढ़ करने के लिए राजकीय

यात्रा पर जा सकता है। वह सद्भावना यात्रा पर भी जा सकता है। वह देश की अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक संस्थाओं से संबंध रखता है।

उपराष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

भारत में पदानुक्रमणिका में उपराष्ट्रपति का पद दूसरे पायदान पर आता है। उसकी अपनी शान और प्रतिष्ठा है। संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति को कोई औपचारिक कार्यपालिका संबंधी कार्य नहीं सौंपे गए हैं लेकिन उसे मंत्रिपरिषद के समस्त कार्य–कलापों की सूचना दी जाती है। यह पद राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर है। कार्यपालिका निर्बाध रूप से बिना किसी संवैधानिक गतिरोध के कार्य करती रहे इसलिए यह पद हमारी शासन व्यवस्था के लिए आवश्यक व महत्वपूर्ण है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. भारतीय संघ में कार्यपालिका के प्रधान को क्या कहा गया है?

   (क) मंत्री (ख) वजीर

   (ग) प्रधानमंत्री (घ) राष्ट्रपति

2. भारतीय संघ के राष्ट्रपति का कार्यकाल कितने वर्ष निश्चित किया गया है?

   (क) 5 वर्ष (ख) 6 वर्ष

   (ग) 4 वर्ष (घ) 7 वर्ष

2.3 प्रधानमंत्री

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री के पद के बारे में संक्षेप में ही वर्णन मिलता है। अनुच्छेद 74, 75 और 78 में प्रधानमंत्री के बारे में उल्लेख किया गया है। परम्परा के आधार पर भारत में प्रधानमंत्री का पद ब्रिटेन की परम्परा पर आधारित है लेकिन भारत में प्रधानमंत्री के पद को संविधान मान्यता देता है। भारतीय राजनीति में प्रधानमंत्री के पद का राजनीतिक रुतबा तथा कद हमेशा ही ऊंचा रहा है। संविधान के तीनों अनुच्छेद प्रधानमंत्री की नियुक्ति, उसकी कार्य प्रणाली और उसके कर्तव्य निश्चित कर देते हैं। अनुच्छेद 74 के अनुसार, "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता के लिए तथा परामर्श हेतु एक मंत्रिपरिषद की जरूरत होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" अनुच्छेद 75 के अनुसार, "प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और वह प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा।" अनुच्छेद 78 राष्ट्रपति के साथ मिलकर कार्य करने के संबंध में प्रधानमंत्री के कर्तव्यों के बारे में इंगित करता है।

भारतीय राजनीति में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर पाने में यह संक्षिप्त वर्णन पर्याप्त नहीं है। इससे न तो प्रधानमंत्री की नियुक्ति की पद्धति स्पष्ट होती है न उसकी स्थिति। व्यावहारिक स्थिति यह है कि प्रधानमंत्री के पद से संबंधित कई सिद्धान्त व्यवहार पर आधारित हैं।

2.3.1 प्रधानमंत्री का चयन या नियुक्ति

टिप्पणी

प्रधानमंत्री के चयन व नियुक्ति को लेकर 1946 से ही ऐसी परम्परा शुरू हो चुकी है कि हम कह सकते हैं कि ये प्रधानमंत्री पद से जुड़ी परिपाटियां बन चुकी हैं। 1946 में प्रधानमंत्री पद के दो दावेदार थे, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार वल्लभ भाई पटेल। इन दोनों में से महात्मा गांधी ने पंडित जवाहरलाल को प्रधानमंत्री पद के लिए चुना। इस प्रकार शुरुआत में ही पंडित नेहरू को यह पद आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त हुआ, बाद में वे अपने सुदृढ़ व्यक्तित्व, प्रभावशाली नेतृत्व के कारण इस पर बने रहे। सरदार पटेल के निधन के पश्चात कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो नेहरू को चुनौती दे पाता। 1946 की अन्तरिम सरकार तथा प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आम चुनावों में बहुमत दल के नेता के रूप में चयन के बाद पंडित नेहरू की प्रधानमंत्री पद के लिए राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति मात्र औचारिकता ही थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रधानमंत्री का चयन उसके दल द्वारा पहले होता है तथा राष्ट्रपति द्वारा उसकी नियुक्ति बाद में होती है अतः हम यह कह सकते है कि नियुक्ति मात्र एक औपचारिकता होती है जो इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए जरूरी है। प्रधानमंत्री के चयन को लेकर 1950 से वर्तमान तक जो स्थितियां निर्धारित तत्व के रूप में हमारे सामने आयी हैं वे इस प्रकार हैं–

1. **जनता द्वारा प्रधानमंत्री का चयन**–जब किसी एक व्यक्ति के नाम पर कोई राजनीतिक दल या गठबंधन लोकसभा चुनाव में बहुमत प्राप्त करता है, ऐसी स्थिति में यह पूर्व विदित होता है कि जनता ने स्वयं प्रत्यक्ष रूप से प्रधानमंत्री का चयन किया है। इतिहास साक्षी है कि 1951, 57, 62 में नेहरू का चयन, 1971 और 1980 में श्रीमती गांधी का चयन, 1984 में राजीव गांधी का चयन, 1999 का चुनाव तथा 2014 का चुनाव इसी के उदाहरण हैं।
2. **आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन**–कई बार ऐसे अवसर भी आते हैं जब जनता प्रत्यक्ष रूप से प्रधानमंत्री के निर्वाचन में अपनी राय नहीं देती है तथा स्थिति अस्पष्ट रहती है। स्थिति से राजनीतिक और संवैधानिक संकट खड़े होने की आशंका रहती है। ऐसे में राजनीतिक दल आपस में विचार–विमर्श करके आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन करते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– 1964 में श्री लाल बहादुर शास्त्री, 1967 में श्रीमती इंदिरा गांधी, 1977 में मोरारजी देसाई, 1989 में वी.पी.सिंह, 1991 में नरसिम्हा राव, 1996 में देवगौड़ा, 1997 में गुजराल ने प्रधानमंत्री का पद आम सहमति से ही प्राप्त किया।
3. **लोकसभा के बहुमत दल या बहुमत वाले गठबंधन में नेता पद के लिए संघर्ष के उपरान्त प्रधानमंत्री का चयन**–कभी–कभी ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि लोकसभा के बहुमत दल के दो नेताओं या बहुमत वाले गठबंधन के दो नेताओं के बीच प्रधानमंत्री पद के लिए संघर्ष की स्थिति आ जाती है। ऐसी स्थिति में प्रधानमंत्री का चयन बहुत कठिन हो जाता है। विगत समय में 1966

में श्री लाल बहादुर शास्त्री के निधन के बाद कांग्रेस में दो उम्मीदवारों के बीच में यह स्थिति उत्पन्न हुई थी, ये उम्मीदवार थे श्रीमती इंदिरा गांधी और मोरारजी देसाई, जिनमें से अन्ततः श्रीमती गांधी को प्रधानमंत्री पद के लिए चुना गया।

4. **लोकसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट न होने पर या आकस्मिक रूप से प्रधानमंत्री का पद रिक्त हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक से प्रधानमंत्री का चयन**– कई बार लोकसभा चुनावों में किसी एक दल या गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता है या अचानक प्रधानमंत्री का पद रिक्त हो जाने पर राष्ट्रपति अपने विवेक के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन कर सकता है। प्रधानमंत्री का पद किसी राजनीतिक संकट के द्वारा भी रिक्त हो सकता है और प्रधानमंत्री के निधन के कारण भी रिक्त हो सकता है। 1979 में चरणसिंह को तथा 1990 में चन्द्रशेखर को राष्ट्रपति ने अपने विवेक के आधार पर चयनित किया था। इसी प्रकार 1984 में श्रीमती गांधी की मृत्यु के उपरान्त राजीव गांधी का चयन भी राष्ट्रपति ने स्वविवेक के आधार पर किया था।

   प्रधानमंत्री के निर्वाचन में उसकी भूमिका और कार्यपालिका में उसकी स्थिति का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि प्रधानमंत्री पद पर आसीन व्यक्ति अपनी स्वयं की राजनीतिक क्षमता या जनता के समर्थन बल के द्वारा राजनीतिक सत्ता में आया है तो वह पूर्ण आत्मविश्वास से सशक्त प्रधानमंत्री के रूप में शासन करने में सफल होता है। लेकिन जब वह अपना पद सहयोगी दलों के समर्थन से प्राप्त करता है तो वह क्षमतावान होते हुए भी सशक्त भूमिका नहीं निभा सकता है। प्रथम स्थिति से राजनीतिक स्थायित्व का वातावरण बनता है जबकि द्वितीय स्थिति राजनीतिक अस्थिरता की ओर संकेत करती है।

प्रधानमंत्री के कार्य व विविध रूपों में उसकी भूमिका

भारत में प्रधानमंत्री के पद की अवधारणा को ब्रिटिश शासन व्यवस्था से आत्मसात किया गया है। भारतीय प्रधानमंत्री की स्थिति और ब्रिटिश प्रधानमंत्री की स्थिति लगभग समान है। द्वितीय विश्वयुद्ध ब्रिटेन के प्रधानमंत्री की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात मंत्रिमण्डल और संसद पर प्रधानमंत्री का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया। भारतीय शासन व्यवस्था पर सबसे अधिक प्रभाव प्रधानमंत्री का होता है। उसकी मंत्रिमण्डल तथा संसद पर पूर्ण सत्ता होती है, गठबंधन वाली स्थिति में प्रधानमंत्री की भूमिका कतिपय कमजोर हो सकती है लेकिन बहुमत दल के प्रधानमंत्री की स्थिति पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने वाली होती है। भारतीय प्रधानमंत्री की विविध रूपों में भूमिका तथा उसकी शक्तियों व कार्यों का अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर कर सकते है–

1. प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद–अनुच्छेद 75 में यह दर्ज है कि, 'अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के परामर्श से राष्ट्रपति करेगा।' वास्तविकता यह है कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति केवल औपचारिकता है। इस संबंध में निर्णायक स्थिति तो प्रधानमंत्री की ही होती है। मंत्रिपरिषद का निर्माण करना प्रधानमंत्री का प्रथम तथा सबसे अधिक

टिप्पणी

महत्वपूर्ण कार्य है। मंत्रिपरिषद के माध्यम से ही प्रधानमंत्री अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। प्रधानमंत्री अपनी पसन्द के जिन नामों को राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करता है, राष्ट्रपति उन्हें स्वीकार करके उन्हें उनके सामने अंकित विभागों का मंत्री घोषित कर देता है।

प्रधानमंत्री को अपनी मंत्रिपरिषद गठित करते समय प्रशासनिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय, धार्मिक तथा छोटे–छोटे महत्वपूर्ण पहलुओं का ध्यान रखना होता है, जिससे किसी प्रकार का कोई विवाद उत्पन्न न हो जाए। कभी–कभी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रधानमंत्री को किसी व्यक्ति विशेष को न केवल लेना पड़ता है बल्कि उसे उसकी इच्छानुसार पद भी देना पड़ता है। नेहरू मंत्रिमण्डल में सरदार पटेल ने गृह मंत्रालय अपनी इच्छानुसार प्राप्त किया था और नेहरू को बाध्य होकर उन्हें देना पड़ा था क्योंकि नेहरू सरदार पटेल की प्रतिभा को भलीभांति पहचानते थे। इसी प्रकार 1967 में मोरारजी देसाई ने उपप्रधानमंत्री तथा वित्त मंत्री का पद श्रीमती गांधी की इच्छा के विरुद्ध प्राप्त किया था। 1998 तथा 1999 में आडवाणी ने गृहमंत्री का पद अपने राजनीतिक कद के कारण पाया था। इस प्रकार के कुछ अपवाद हर व्यवस्था में मिलते हैं। आमतौर पर प्रधानमंत्री अपने सहयोगियों का चयन अपनी इच्छा तथा विवेक के आधार पर करता है। प्रधानमंत्री जानी–मानी राजनीतिक हस्तियों को भी मंत्रिपरिषद में स्थान दे सकता है तथा किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्रिपरिषद में ले सकता है जिसे दल में कोई विशेष स्थान प्राप्त न हो तथा वह कोई जाना–माना व्यक्तित्व न हो। मंत्रिमण्डल का गठन होने के पश्चात प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल के विभागों में फेरबदल करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होता है। जब कभी किसी मंत्री के प्रधानमंत्री से मदभेद हो जाते हैं तो संबंधित मंत्री को ही मंत्रिपरिषद से त्यागपत्र देना होता है। इस प्रकार के कई उदाहरण हमें मिल जाते हैं, जैसे 1978 में चरणसिंह तथा राजनारायण का त्याग पत्र, 1987 में वी.पी. सिंह का त्यागपत्र, 1990 में उपप्रधानमंत्री देवीलाल की बर्खास्तगी। मंत्रिपरिषद का गठन तथा उसमें परिवर्तन बहुत अधिक प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर करता है।

प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद के निर्माण तथा इसके संचालन में केन्द्रीय स्थिति रखता है। मंत्रिमण्डल में विचारार्थ रखे गए सभी प्रस्तावों का निर्णय मतदान के द्वारा होता है परन्तु व्यवहार में प्रधानमंत्री का निर्णय ही निर्णायक होता है। मंत्रिमण्डल की सभी बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करता है तथा मंत्रिमण्डल की समस्त कार्यवाहियों का संचालन उसी के द्वारा होता है। वह मंत्रिमण्डल की समस्त गतिविधियों पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखता है। मंत्रिमण्डल पर पूर्ण नियंत्रण रखने की कला प्रधानमंत्री को अत्यधिक सक्षम बना देती है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य है जो एक औसत श्रेणी के प्रधानमंत्री को भी अपने सहयोगियों की तुलना में अधिक महत्व प्रदान कर देता है। मंत्रिमण्डल प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करती है।

मंत्रिमण्डल का समस्त कार्य व्यापार प्रधानमंत्री और उसके सहयोगियों के बीच सहयोगपूर्ण पारस्परिक संबंधों पर टिका रहता है। इसे व्यक्त करने के लिए विभिन्न विद्वान भिन्न–भिन्न शब्दावलियों का प्रयोग करते हैं, जैसे– सर विलियम हारकोर्ट

प्रधानमंत्री को 'नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा' कहते हैं और जेनिंग्ज कहते हैं कि, "प्रधानमंत्री एक ऐसा सूर्य है, जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं।" नेहरू तथा श्रीमती गांधी की स्थिति इतनी प्रभावपूर्ण तथा मजबूत थी कि उपर्युक्त उपमाएं उनके पद के लिए बिल्कुल सटीक थीं।

पं. नेहरू और श्रीमती गांधी के व्यक्तित्व में करिश्माई तत्व भी विद्यमान थे तथा उनकी कार्यशैली से यह धारणा बनने लगी थी कि प्रधानमंत्री मुख्य है तथा मंत्रिमण्डल गौण है। प्रत्येक फैसला प्रधानमंत्री का ही होता है। मंत्रिमण्डल का अस्तित्व धीरे–धीरे महत्व खो रहा था। श्रीमती गांधी की मृत्यु के बाद कांग्रेस के वर्चस्व में कमी आई तथा 1989 में दोबारा अल्पमत सरकार के आने से तथा उसके बाद लगातार बार–बार लोकसभा चुनाव में किसी एक राजनीतिक दल को बहुमत न मिलने से प्रधानमंत्री के मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण में कमी आई है।

2. प्रधानमंत्री और संसद–संसदात्मक शासन व्यवस्था में प्रधानमंत्री को दो महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभानी होती हैं। एक भूमिका में वह मंत्रिपरिषद का प्रमुख होता है तथा दूसरी भूमिका में वह लोकसभा का नेता होता है। मंत्रिपरिषद का कोई अन्य सदस्य प्रधानमंत्री की भांति संसद में समस्त मंत्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। प्रशासन से संबंधित नीतियों के बारे में निर्णायक और अधिकृत भाषण देने का दायित्व प्रधानमंत्री का ही होता है। मंत्रिमण्डल के सदस्यों की ओर से संसद में विभिन्न विषयों पर जो वक्तव्य या आश्वासन दिये जाते हैं, उनके संबंध में उत्पन्न गलतफहमियों को दूर करने या संशोधन करने का कार्य प्रधानमंत्री का ही होता है।

व्यवस्थापन का सभी कार्य प्रधानमंत्री की देखरेख में होता है चाहे वह कार्य बजट का हो या कानून निर्माण का। वार्षिक बजट व सभी प्रकार के विधेयक प्रधानमंत्री के निर्देशानुसार तैयार किए जाते हैं। सभी महत्वपूर्ण कानूनों के लिए विधेयक प्रधानमंत्री या मंत्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा प्रस्तावित होते हैं, वही यह निर्णय भी करता है कि शासन की नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए किस प्रकार के कानूनों की आवश्यकता है। प्रधानमंत्री दलीय सचेतक के रूप में भी अपनी भूमिका निभाता है तथा अपने दल के सदस्यों को आवश्यक निर्देश देता है। शकधर के अनुसार, "सभी विधेयकों के भाग्य का निर्णय प्रधानमंत्री की इच्छानुसार ही होता है।"

अपनी इच्छानुसार विधेयकों को कानून के रूप में परिणित करा पाना एक कमजोर या समर्थन के आधार पर शासन चला रहे प्रधानमंत्री के लिए संभव नहीं होता है। गठबंधन सरकार के घटक दलों के आपसी मतभेद के कारण कई बार आवश्यकतानुसार भी कानूनों का निर्माण नहीं हो पाता है। पं. नेहरू, श्रीमती गांधी और श्री राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्वकाल में कानूनों का निर्माण प्रधानमंत्री के निर्देशानुसार अवश्य हुआ, नरसिम्हा राव के समय में भी आंशिक रूप से यह कार्य हो पाया परन्तु 1989 से 1991 तक तथा 1996 से 2004 तक गठबंधन की राजनीति तथा स्पष्ट बहुमत न होने के कारण संसद के दोनों सदनों में कोई रचनात्मक कार्य नहीं हो सका। संसद के दोनों

सदन राजनीतिक दलों की अभद्रता का मंच बन कर रह गए, इससे संसद की गरिमा तथा साख दोनों में गिरावट आयी है।

टिप्पणी

राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के परामर्श पर ही संसद का अधिवेशन बुलाता है तथा स्थगित करता है। यद्यपि लोकसभा को विघटित करने की शक्ति राष्ट्रपति की है परन्तु वह प्रधानमंत्री के परामर्श के बिना लोकसभा विघटित नहीं कर सकता है, अतः व्यवहार में यह शक्ति प्रधानमंत्री की है। इस शक्ति के कारण प्रधानमंत्री लोकसभा को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।

1976 में दो बार प्रधानमंत्री के निर्देशन में प्रस्ताव पास करके लोकसभा के कार्यकाल को एक–एक वर्ष बढ़ाया गया। 9 बार प्रधानमंत्री के परामर्श पर लोकसभा को भंग करवाया गया है (दिसम्बर 1970, जनवरी 1977, अगस्त 1979, नवम्बर 1984, अक्टूबर 1989, मार्च 1991, दिसम्बर 1997, अप्रैल 1999, फरवरी 2004 में)। दोनों ही प्रकार के उदाहरणों से इंगित होता है कि प्रधानमंत्री का लोकसभा और संसद पर पूरा नियंत्रण होता है।

3. प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति–प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डल के बीच कड़ी का कार्य करता है। मंत्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों की सूचना राष्ट्रपति तक पहुंचाने का उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री का ही होता है। अनुच्छेद 78 में प्रधानमंत्री के अग्रलिखित 3 कर्तव्यों के बारे में उल्लेख किया गया है– (i) संघ के प्रशासन तथा कानून निर्माण से संबंधित विधेयकों से संबंधित विषयों में मंत्रिपरिषद के निर्णयों की राष्ट्रपति को सूचना देना, (ii) संघ के प्रशासन से संबंध रखने वाले मामलों का तथा कानून निर्माण से संबंधित प्रस्तावों के बारे में राष्ट्रपति को कोई ऐसी सूचना देना जिसकी वह मांग करे, (iii) यदि राष्ट्रपति ऐसा चाहे, तो मंत्रिपरिषद के विचार के लिए कोई ऐसा मामला रखना जिस पर कोई मंत्री अपना निर्णय ले चुका है परन्तु जिस पर मंत्रिपरिषद ने अब तक कोई निर्णय न लिया हो।

राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच के संबंधों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रधानमंत्री की कार्य प्रणाली के कारण राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान की स्थिति तक ही सीमित है। सार्वजनिक महत्व के मामलों पर राष्ट्रपति से केवल प्रधानमंत्री के माध्यम से ही सम्पर्क किया जा सकता है। मंत्रिमण्डल का कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की अनुमति के बिना राष्ट्रपति से भेद नहीं कर सकता है। प्रधानमंत्री नेहरू से लेकर आज तक का इतिहास यही बताता है कि प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति में से मुखर प्रधानमंत्री ही रहा है। प्रधानमंत्री नेहरू के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के साथ कुछ मुद्दों पर तीव्र मतभेद थे जैसे– हिन्दू कोड बिल, परिवार नियोजन, निजी सम्पत्ति का सीमाकरण, सहकारी कृषि आदि। अन्ततः राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की इच्छा के आगे झुकना पड़ा। राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका निभाना चाहते थे। चीन के आक्रमण तथा भाषा विवाद के समय तो वे कुछ प्रभावी बन पाए पर अधिकांशतः वे इस प्रयास में असफल ही रहे। लाहौर में सेनाओं के प्रवेश के संबंध में तो प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने राष्ट्रपति से परामर्श ही नहीं लिया था। लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के पश्चात जब

टिप्पणी

1966 में श्रीमती गांधी ने कैबिनेट का पुनर्गठन किया था तब भी राष्ट्रपति से कोई परामर्श नहीं लिया गया था। डॉ. राधाकृष्णन के बाद तो भारत की राजनीति में यह धारणा स्थापित हो गई कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की पसन्द का व्यक्ति होना चाहिए। तीसरे, चौथे तथा पांचवें राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के निजी प्रयासों के कारण पद तक पहुंचे थे। 1977 से 1980, 1989 से 1991 तथा 1996 से 1998 तक का समय वह समय था, जिसके अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि यदि प्रधानमंत्री है और उसे लोकसभा का समर्थन प्राप्त नहीं है या शासक दल में आन्तरिक असंतोष है, उसमें अनुशासन और एकता का अभाव है, तो राष्ट्रपति राजनीतिक रूप से सक्रिय हो सकता है और राजनीतिक पहल करने की कुछ शक्ति उसके हाथ में आ सकती है। लेकिन सामान्य परिस्थितियों में एक कमजोर प्रधानमंत्री भी राष्ट्रपति को मुखर नहीं होने देता है। राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने शासन के प्रधान तथा परामर्शदाता के रूप में प्रभावी भूमिका निभाई थी। अपनी कार्यशैली से उन्होंने यह बता दिया कि वे रबड़ स्टाम्प की तरह कार्य की नीति नहीं रखते हैं। इसी प्रकार डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने भी एक प्रभावशाली परामर्शदाता के रूप में कार्य किया तथा पद की गरिमा और मर्यादा का भी ध्यान रखा।

4. प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें—प्रधानमंत्री का पद भारतीय राजनीति में एक अत्यन्त प्रभावशाली पद है तथा प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है जिसे राज्य सरकारों पर नियन्त्रण प्राप्त रहता है। कुछ संवैधानिक उपबन्ध तथा आधार भी प्रधानमंत्री को राज्य सरकारों पर नियन्त्रण रखने में सक्षम बनाते हैं। ये बिन्दु इस प्रकार हैं—

(i) केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल की भूमिका और राज्यपाल द्वारा समय—समय पर राज्य की संवैधानिक स्थिति के संबंध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।

(ii) भारत संविधान का अनुच्छेद 356 जिसके अनुसार राज्यों में संवैधानिक तंत्रों के विफल होने पर उक्त राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। इस उपबन्ध का व्यावहारिक पक्ष यह है कि लगभग सभी शासक केन्द्र सरकारों ने इसका स्वार्थ सिद्धि के लिए दुरुपयोग किया है।

(iii) राज्य सरकार के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप पत्र प्राप्त होने पर केन्द्र सरकार को जांच आयोग स्थापित करने या न करने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त है।

(iv) भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारें केन्द्र सरकार पर वित्तीय रूप से निर्भर हैं।

व्यावहारिक पक्ष—भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों और प्रधानमंत्री के संबंध बहुत महत्वपूर्ण रहे हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू का आरम्भ में राज्य सरकारों पर पूरा नियन्त्रण था तथा कोई उनकी किसी बात का विरोध नहीं कर सकता था लेकिन 1958 के बाद जब नेहरू के वर्चस्व में कमी आई तब मुख्यमंत्रियों ने राज्यों में स्थिति सुदृढ़ करनी शुरू कर दी थी। इससे शक्ति संतुलन राज्य सरकारों के पक्ष में हो

टिप्पणी

गया था। संसद सदस्यों का झुकाव भी राज्य सरकारों की ओर होने से मुख्यमंत्रियों ने प्रधानमंत्री के चयन में भी महत्वपूर्ण तथा निर्णायक भूमिका भी निभायी है। 1969 के बाद प्रधानमंत्री का पुनः राज्य सरकारों और मुख्यमंत्रियों पर लगभग पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो चुका था। कांग्रेस विभाजन के समय गुजरात, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्रियों ने प्रधानमंत्री का विरोध करने के बावजूद कांग्रेस का समर्थन किया था। उत्तर प्रदेश में राज्यपाल द्वारा चरणसिंह को सरकार बनाने का अवसर देना, गुजरात तथा कर्नाटक की राजनीतिक घटनाएं तथा अनुच्छेद 356 का समय–समय पर प्रयोग और दुरुपयोग इसकी पुष्टि करता है कि एक मुख्यमंत्री को पदासीन होने तथा अपने पद पर बने रहने के लिए प्रधानमंत्री की सहानुभूति की बहुत अधिक आवश्यकता होती है तथा एक विरोधी प्रधानमंत्री एक मुख्यमंत्री की राजनीतिक मृत्यु का कारण बन सकता है।

5. प्रधानमंत्री और वैदेशिक संबंधों का संचालन—अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रधानमंत्री का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रधानमंत्री चाहे विदेश विभाग का संचालन कर रहा हो अथवा विदेश नीति का निर्माण उसके निर्णय निर्णायक, अन्तिम और अधिकृत माने जाते हैं। वैदेशिक संबंधों के संचालन में वह कई बार अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों के साथ विचार विमर्श भी नहीं करता है क्योंकि वैदेशिक संबंधों के संचालन में गुप्तता की आवश्यकता होती है। अतः इस प्रकार के कार्यों में वह स्वविवेक के आधार पर निर्णय लेता है। पंडित नेहरू के समय से ही वैदेशिक संबंधों के संचालन में प्रधानमंत्री की भूमिका निर्णायक रही है। वह विदेश नीति के लिए निर्धारक तत्व की भांति होता है। प्रधानमंत्री नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था और गुट निरपेक्ष आन्दोलन को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। 1965 के भारत–पाक युद्ध में लाल बहादुर शास्त्री का व्यक्तित्व और नीतियां सर्वविदित हैं। ताशकन्द समझौते में शास्त्री जी की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। 1971 के बांग्लादेश युद्ध से लेकर 1977 तक के समय में प्रधानमंत्री ने वैदेशिक संबंधों का संचालन का दायित्व अकेले निभाया। इस काल में श्रीमती गांधी ने परमाणु परीक्षण भी किया जिसका अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारी विरोध हुआ। ये दोनों महत्वपूर्ण निर्णय श्रीमती गांधी के व्यक्तिगत निर्णय थे, उन्होंने मंत्रिमण्डल के साथ कोई वार्ता नहीं की थी। 1998 का परमाणु परीक्षण तथा श्री वाजपेयी की लाहौर यात्रा भी प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत निर्णय थे।

6. प्रधानमंत्री और उसकी कृपा की शक्तियां—संविधान में राष्ट्रपति को नियुक्ति संबंधी अधिकार दिया गया है लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति भारत के जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता है, वह अपने स्वविवेक के आधार पर नहीं करता बल्कि प्रधानमंत्री के परामर्श से करता है। राज्यों के राज्यपाल, संघ शासित प्रदेशों के उप–राज्यपाल, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, अन्य देशों में भारत के राजदूत व वाणिज्य दूत, महाधिवक्ता परीक्षक, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों और सदस्यों की नियुक्ति में प्रधानमंत्री की सक्रिय भूमिका होती है। वास्तविकता यह है कि प्रधानमंत्री के अधिकार में कृपा और अनुग्रह की इतनी व्यापक शक्तियां हैं कि हर व्यक्ति प्रधानमंत्री की कृपा से ये उच्च व प्रतिष्ठित पद पाना चाहता है। इन कृपा

शक्तियों से न केवल प्रधानमंत्री की उसके शासन पर नियंत्रण रखने की क्षमता बढ़ती है बल्कि उसका जनाधार भी मजबूत होता है।

7. आम चुनाव प्रधानमंत्री के चुनाव के रूप में—भारतीय राजनीति तथा प्रशासनिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री केन्द्र में होता है। सामान्य स्थितियों में वह सबसे बड़े व मजबूत राजनीतिक दल का नेता होता है तथा अस्पष्ट बहुमत वाली स्थिति में वह गठबन्धन के सबसे बड़े राजनीतिक दल का नेता होता है अथवा जिस भी व्यक्ति को इस पद के लिए चुना जाता है शक्ति का समीकरण उसकी ओर झुक जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शक्ति समीकरण प्रधानमंत्री के आसपास ही होते हैं। प्रधानमंत्री की स्थिति तुलनात्मक रूप से अधिक शक्तिशाली तब होती है जब आम चुनाव प्रधानमंत्री के नाम पर ही लड़ा जाता है। नेहरू के समय के सभी चुनाव 1971, 72 के चुनाव, 1980 का लोकसभा चुनाव, 1984 का चुनाव तथा 1998 का चुनाव व 2014 का लोकसभा का चुनाव प्रधानमंत्री को केन्द्र बिन्दु बनाकर ही लड़ा गया था। उपर्युक्त सभी चुनावों में प्रधानमंत्री पद की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है। पं. नेहरू का व्यक्तित्व स्वयं ही करिश्मावादी था तथा चुनावों में इस करिश्मे के द्वारा प्रधानमंत्री के पद की प्रतिष्ठा बढ़ती थी। यही स्थिति श्रीमती गांधी की थी, 1971 और 1972 के चुनाव में उनके विरोधियों ने जनता को दो विकल्प दिए थे– "इंदिरा हटाओ" या "इंदिरा बचाओ"। श्रीमती गांधी ने अपने विरोधियों को प्रतिक्रियावादी बताते हुए अपने आपको प्रगतिशील बताया और जनता के सीधा सम्पर्क स्थापित करके अपने व्यक्तित्व और नीतियों के बल पर चुनावों में सफल रहीं। इन चुनावों में उनकी प्रतिष्ठा में जो वृद्धि हुई उसका प्रभाव 1980 के चुनावों के परिणामों में भी देखने को मिलता है हालांकि 1975 की आपातकाल की घोषणा के लिए जनता श्रीमती गांधी को ही उत्तरदायी मानती थी।

8. प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता व शासक होता है—संवैधानिक रूप से राष्ट्रपति देश का प्रधान होता है समस्त कार्यपालिका शक्तियों का उसमें समावेश होता है लेकिन व्यवहार में देश की शासन व्यवस्था को प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ मिलकर संचालित करता है। व्यवस्थापिका के प्रस्तुत होने वाले समस्त विधेयक प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद की इच्छानुसार प्रस्तुत किए जाते हैं, जिससे कि उनकी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण हो सके। आवश्यकतानुसार संविधान में संशोधन करके न्यायपालिका को भी अपने अनुसार संचालित करने का प्रयास किया जाता है। मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री सर्वोच्च स्थिति में होता है, उसका निर्णय अन्तिम, निर्णायक व अधिकृत होता है व सभी को मान्य होता है यदि किसी मंत्री को प्रधानमंत्री के निर्णय पर आपत्ति होती है तो अधिकतर मंत्री को ही त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसे अवसर दुलर्भ होते हैं जब प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के समक्ष झुकता है। देश की सामान्य जनता, संसद, राजनीतिक दल, राज्य सरकारें सभी सक्षम प्रशासनिक नीतियों के लिए प्रधानमंत्री से ही आशा रखते हैं। प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व का विदेशों के साथ संबंधों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता तथा शासक दोनों होता है।

टिप्पणी

2.3.2 प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति

संविधान में प्रधानमंत्री के पद, उसकी स्थिति, शक्तियों तथा उसके कार्यों के बारे में चाहे बहुत कम उल्लेख किया गया है किन्तु वास्तविकता इससे विपरीत है। भारतीय राजनीति में प्रधानमंत्री को अपार शक्तियां प्राप्त हैं, इन शक्तियों के बल पर वह भारत में वास्तविक प्रधान बन जाता है। चूंकि इनमें से अधिकांश शक्तियां परम्पराओं पर आधारित होती हैं, इसलिए ये समय, स्थिति और स्वयं प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व के कारण घटती–बढ़ती रहती हैं। प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति निम्न तत्वों पर निर्भर रहती है–

1. संसद में प्रधानमंत्री के दल की स्थिति–संसद के दोनों सदनों लोकसभा और राज्यसभा में प्रधानमंत्री के राजनीतिक दल की स्थिति महत्वपूर्ण होती है। यदि प्रधानमंत्री के दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और राज्यसभा में भी उसका दल पर्याप्त सीटों पर आसीन है तो प्रधानमंत्री बिना किसी दबाव के वास्तविक प्रधान की तरह कार्य करेगा तथा अपना वर्चस्व कायम रख सकेगा। यदि प्रधानमंत्री गठबंधन सरकार का नेतृत्व कर रहा है या अल्पमत सरकार को बाहरी समर्थन से चला रहा है तो उसकी स्थिति कमजोर होती है।

2. प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व–प्रधानमंत्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व से भी निर्धारित होती है। पं. नेहरू और श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व इसके अच्छे उदाहरण हैं। ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। लार्ड ऑक्सफोर्ड तथा एस्क्विथ ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री के पद के बारे में बिल्कुल सटीक टिप्पणी की है कि, "प्रधानमंत्री का पद वैसा ही बन जाता है जैसा कि इस पद का अधिकारी उसको बनाना चाहता है।" यह नितान्त सत्य है कि कमजोर व्यक्तित्व वाला व्यक्ति कमजोर प्रधानमंत्री और प्रभावशाली और सबल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति प्रभावशाली प्रधानमंत्री होता है।

3. प्रधानमंत्री और उसके राजनीतिक दल की स्थिति–प्रधानमंत्री की स्थिति इस बात से भी निर्धारित होती है कि उसके अपने राजनीतिक दल में या उसके गठबन्धन में उसकी क्या स्थिति है। यदि उसका अपना राजनीतिक दल उसे निर्विवाद रूप से नेता मानता है तो उसकी स्थिति पर्याप्त शक्तिशाली होती है परन्तु उसका दल या गठबन्धन ही उसके नेतृत्व को चुनौती दे तो उसकी स्थिति कमजोर हो जाती है। प्रधानमंत्री उस समय तक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकता है जब तक उसके नेतृत्व को निर्विरोध रूप से स्वीकार किया जाता है।

4. संकटकालीन परिस्थितियों के आधार पर प्रधानमंत्री की स्थिति–सामान्यतः सामान्य परिस्थितियों में व्यक्तित्व के वे पहलू सामने नहीं आते हैं जो संकटकालीन परिस्थितियों में आते हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गंभीर परिस्थितियों में प्रधानमंत्री जिस प्रकार की रणनीतियों के द्वारा उस संकट से उबरने के प्रयास करता है, उससे उसके व्यक्तित्व का मजबूत पक्ष सामने आता है तथा ऐसे में प्रधानमंत्री शक्तिशाली हो जाता है।

5. घरेलू तथा विदेशी स्तर पर प्राप्त सफलताएं व असफलताएं–प्रधानमंत्री के पद पर आसीन व्यक्ति को घरेलू तथा विदेशी राजनीति के स्तर पर मिली सफलताएं और असफलताएं उसकी स्थिति के सबल या दुर्बल होने का निर्धारण करती हैं। इस प्रकार की घटनाएं भारतीय राजनीतिक में कई बार हो चुकी हैं। 1962 में हुए भारत–चीन सीमा संघर्ष में भारत की अपमानजनक पराजय ने पं. नेहरू की स्थिति को कमजोर बना दिया था जबकि 1965 में पाकिस्तान के साथ संघर्ष में भारत की विजय ने प्रधानमंत्री शास्त्री के राजनीतिक कद को बढ़ा दिया था। यही स्थिति 1971 में श्रीमती गांधी के साथ हुई, भारत की सफलता ने उनके प्रधानमंत्रित्व को नए आयाम दिए।

भारत की स्वतंत्रता के 68 वर्षों के इतिहास में प्रधानमंत्री के पद ने बहुत उतार–चढ़ाव देखे हैं। सामान्यतया प्रधानमंत्री का पद एक शक्तिशाली पद रहा है। 1962 के चीन युद्ध के पश्चात प्रधानमंत्री की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर हुई जो 1965 के बाद फिर से संभल गई। 1971 में इसे फिर से मजबूती मिली। 1975 में प्रधानमंत्री के पद को नई ऊंचाइयां मिलीं तो यह विवादों से भी घिरा। प्रधानमंत्री के पद के लिए 1971 से 1977 का काल चरमोत्कर्ष वाला माना जा सकता है। जब तक एक दलीय सरकारें बनीं प्रधानमंत्री को शक्तिशाली स्थिति प्राप्त रही परन्तु जब से गठबंधन सरकारें आने लगीं इससे प्रधानमंत्री के पद की गरिमा को आघात लगा है परन्तु यह भारतीय राजनीति में अभी भी एक अत्यन्त प्रभावशाली पद है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. अनुच्छेद 74, 75 और 78 में किसके बारे में उल्लेख किया गया है?
   (क) राजा के   (ख) प्रधानमंत्री
   (ग) प्रजा के   (घ) रानी के
4. भारत में प्रधानमंत्री के पद की अवधारणा को किस शासन व्यवस्था से आत्मसात किया गया है?
   (क) अमेरिकी   (ख) रूसी
   (ग) ब्रिटिश   (घ) नेपाली

2.4 मंत्रिपरिषद

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी है तथा वास्तविक रूप मे कार्यपालिका की शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित होती है। प्रशासन के सभी कार्य अर्थात सरकार के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर मंत्रिपरिषद करती है। संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेख है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।"

मंत्रिमण्डलात्मक शासन के गुण

मंत्रिमण्डलात्मक शासन व्यवस्था जिसमें वास्तविक सत्ता मंत्रिपरिषद और प्रधानमंत्री के पास होती है, कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों पर कार्य करती है। इसकी कुछ विशेषताएं होती हैं जिनके बिना यह अधूरी प्रतीत होती है। ये विशेषताएं या गुण निम्न हैं–

1. इसमें दो प्रकार की कार्यपालिका होती है, एक नाममात्र की दूसरी वास्तविक।
2. व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अटूट संबंध होता है, वस्तुतः कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में से ही होता है।
3. मंत्रिपरिषद में राजनीतिक एकता पाई जाती है।
4. मंत्रिपरिषद व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है।
5. समस्त शासन व्यवस्था का नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है जबकि नाम राष्ट्रपति का होता है।
6. मंत्रिमण्डल गोपनीयता के सिद्धान्त के आधार पर अपना कार्य करता है।

मंत्रिपरिषद का गठन

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद की नियुक्ति तथा स्थिति के बारे बहुत कम उल्लेख मिलता है बाकी परम्पराओं के अनुसार कार्य सम्पन्न होता है। मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री तथा अलग–अलग स्तर के मंत्री होते हैं। मूल संविधान में मंत्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई है लेकिन 91वें संवैधानिक संशोधन (2003 ई.) के आधार पर व्यवस्था की गई है कि प्रधानमंत्री सहित मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। संविधान के अनुच्छेद 75 के विभिन्न भागों में मंत्रिपरिषद की रचना के लिए निम्न बातों का उल्लेख किया गया है–

1. प्रधानमंत्री के परामर्श से राष्ट्रपति अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा।
2. मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी।
3. प्रत्येक मंत्री को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति के सामने पद और गोपनीयता की शपथ लेनी होगी।
4. यदि कोई मंत्री पद ग्रहण करने के 6 महीने बाद तक संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सकता है तो उसे मंत्रिपरिषद से त्यागपत्र देना होगा।
5. मंत्रियों को वे सभी वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे, जो समय–समय पर संसद निर्धारित करती है।

उपर्युक्त व्यवस्थाएं केवल कुछ औपचारिक व्यवस्थाएं हैं, इनसे मंत्रिपरिषद के गठन की प्रक्रिया के बारे जानकारी नहीं मिलती है। मंत्रिपरिषद का गठन एक कठिन तथा जटिल प्रक्रिया है।

मंत्रिपरिषद तथा मंत्रिमण्डल में अन्तर

टिप्पणी

साधारण जनता मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल को समानार्थी मानती है लेकिन इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। मंत्रिपरिषद एक बड़ी संस्था है इसमें कार्यपालिका के सभी सदस्य (50 से लेकर 75 तक सदस्य) होते हैं। मंत्रिपरिषद में पांच स्तर के सदस्य होते हैं जिनमें से केवल प्रथम स्तर के सदस्यों को कैबिनेट कहा जाता है। मंत्रिपरिषद में निम्नलिखित स्तर होते हैं–

1. **प्रथम स्तर**–मंत्रिपरिषद के प्रथम स्तर के सदस्यों को मंत्री कहते हैं और ये मंत्रिमण्डल या कैबिनेट के सदस्य होते हैं। भारत में मंत्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या अलग–अलग समय पर 12 से 32 तक रही है।
2. **द्वितीय स्तर**–द्वितीय स्तर पर वे मंत्री आते हैं जो मंत्रिमण्डलीय स्तर के होते हुए भी कैबिनेट के सदस्य नहीं होते। ये मंत्री विभागों के अध्यक्ष भी होते हैं तथा उनका वेतन भी कैबिनेट के सदस्यों के समान होता है, किन्तु मंत्रिमण्डल की बैठकों में ये प्रधानमंत्री के आमन्त्रण बिना भाग नहीं ले सकते।
3. **तृतीय स्तर**–तृतीय श्रेणी में राज्यमंत्री आते हैं, इनकी स्थिति मंत्री और उपमंत्री के बीच की होती है। ये महत्वपूर्ण विभागों से सम्बद्ध रहते है तथा कभी–कभी इनके द्वारा किसी विभाग के स्वतंत्र प्रधान के रूप में भी कार्य किया जा सकता है। इस श्रेणी के मंत्री भी प्रधानमंत्री द्वारा आमंत्रित किए जाने पर ही मंत्रिमण्डल की बैठक में आते हैं जबकि उनके विभाग के मामले विचाराधीन होते हैं।
4. **चतुर्थ स्तर**–राज्यमंत्री के पश्चात चतुर्थ स्तर पर उपमंत्री आते हैं जो कैबिनेट के सदस्य के अधीन रहकर कार्य करते हैं।
5. **पंचम स्तर**–उपमंत्रियों के नीचे पंचम स्तर पर संसदीय सचिव होते हैं। संसदीय सचिवों का कार्य विभिन्न विभागों के मंत्रियों को प्रशासनिक तथा विशेष रूप से संसदीय कार्यों में सहायता पहुंचाना होता है।

उपर्युक्त पांचों श्रेणियों के मंत्रियों को सामूहिक रूप से 'मंत्रिपरिषद' के नाम जाना जाता है। मंत्रिपरिषद एक विशाल आकार वाली संस्था है जिसमें सभी पांच श्रेणियों के मंत्री शामिल रहते हैं जबकि मंत्रिमंडल या जिसे कैबिनेट भी कहा जाता है मंत्रिपरिषद के अन्तर्गत आने वाला एक छोटा–सा समूह है जिसमें केवल प्रथम श्रेणी के मंत्री शामिल होते हैं। इनकी संख्या 12 से 32 तक हो सकती है। प्रशासनिक नीतियों का निर्धारण सामूहिक रूप से इन्हीं के द्वारा किया जाता है। मंत्रिमंडल के विषय में रेम्जे म्योर का कहना है कि, "यह मंत्रिपरिषद का हृदय है, शासन का परिचालन यन्त्र है जिसमें सभी महत्वपूर्ण विभागों के राजनीतिक अधिकारी सम्मिलित रहते हैं।" इस प्रकार मंत्रिमंडल का प्रत्येक सदस्य मंत्रिपरिषद का सदस्य होता है, लेकिन मंत्रिमंडल ऐसी संगठित इकाई है जिसके सदस्य मंत्रिपरिषद के कुछ लोग ही होते हैं। इस प्रकार हम मान सकते है कि मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद का सबसे भीतरी भाग है तथा यह एक आन्तरिक समिति के रूप में होता है।

मंत्रिमंडल की शक्तियां या कार्य

टिप्पणी

भारत में मंत्रिमण्डलात्मक शासन ब्रिटेन की शासन व्यवस्था से प्रेरित है। जिस प्रकार ब्रिटिश शासन व्यवस्था में मंत्रिमंडल को शासन व्यवस्था का हृदय कहा जाता है उसी प्रकार यह उक्ति भारतीय शासन व्यवस्था के लिए भी बिल्कुल सटीक है। सर जॉन मेरियट का मानना है कि, "मंत्रिमण्डल राजनीतिक वृत्तखण्ड के मेहराब के बीच का शिलाखण्ड है।" रेम्जे म्योर के शब्दों में, "मंत्रिमंडल राज्य रूपी जहाज का परिचालक यंत्र है।" ग्लैडस्टन के अनुसार, "मंत्रिमण्डल वह सूर्य है जिसके चारों और अन्य पिण्ड घूमते हैं।" भारत में मंत्रिमण्डल के कार्य इस प्रकार हैं–

1. **राष्ट्रीय कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना**–सैद्धान्तिक रूप से भारतीय संविधान के उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति में कार्यपालिका की समस्त शक्ति निहित होती है परन्तु व्यवहार में उसका प्रयोग मंत्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मंत्रिमण्डल के लगभग सभी विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे अपने–अपने विभागों का संचालन तथा उनके सभी कार्यों की देखभाल करते हैं। सरकार की नीतियों को क्रियान्वित करने का कार्य इन्हीं विभागों के माध्यम से होता है। मंत्रिमण्डल के द्वारा ही राष्ट्रपति के समस्त अधिकारों का प्रयोग किया जाता है। युद्धकाल, शान्तिकाल या वैदेशिक संबंधों का संचालन या विदेश नीति से संबद्ध महत्वपूर्ण प्रश्न हों, मंत्रिमण्डल ही सारे निर्णय लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मंत्रिमण्डल देश की व्यावहारिक कार्यपालिका है, जिसके अध्यादेश तथा प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण अधिकार और बढ़ गए हैं। कोई भी अध्यादेश मंत्रिमण्डल के परामर्श से राष्ट्रपति केवल जारी करता है, व्यवहार में उसको लागू कराने का कार्य मंत्रिमण्डल का होता है जिसे वह प्रदत्त व्यवस्थापन के द्वारा प्रभावी रूप से लागू कराता है।
2. **राष्ट्रीय नीति का निर्धारण**–यह मंत्रिमण्डल ही निश्चित करता है कि देश के आन्तरिक भागों में प्रशासन का संचालन करने के लिए तथा वैदेशिक संबंधों का संचालन करने के लिए विभिन्न विभागों द्वारा किस तरह की नीतियां अपनायी जाएंगी। इन नीतियों का निर्धारण करने के पश्चात ही संबंधित विभागों की मांग पर संसद में विधेयक प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विधि निर्माण का कार्य बहुत हद तक मंत्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है। प्रशासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट करता है। मंत्रिमण्डल की राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक प्रकार से वह ही इनका सूत्रधार होता है। अपने नीतियों के निर्माण जैसे महत्वपूर्ण कार्य के कारण मंत्रिमण्डल व्यवस्थापन पर भी नियंत्रण रखता है।
3. **मंत्रिमण्डल के समन्वयकारी कार्य**–प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिए अलग–अलग विभागों की व्यवस्था की जाती है ताकि प्रत्येक विभाग सुगमता के साथ अपने कार्यों का सम्पादन कर पाएं। इससे संभव है कि विभागों के मध्य अलगाव पनप जाए या अस्वस्थ प्रतियोगिताएं स्थान ले लें। ऐसे में मंत्रिमण्डल

विभिन्न विभागों के बीच समन्वय बनाने का काम करता है, जिससे उनमें आंगिक एकता बनी रहे क्योंकि सुशासन के लिए प्रशासन के विभिन्न अंगों में समन्वय बना रहना अर्थात आंगिक एकता का होना जरूरी है। मंत्रिमण्डल समस्त विभागों के बीच में परस्पर सहयोग बनाने का भी प्रयास करता है जिससे विभागों में नीति व अधिकार क्षेत्र संबंधी विवाद न उत्पन्न हों। विभागों के बीच सहयोगपूर्ण तरीके से कार्यों का संचालन होता रहे इसके लिए मंत्रिमण्डलीय समितियों की भी स्थापना की जाती है।

4. **वित्तीय कार्य**—राष्ट्रीय नीतियों के अतिरिक्त देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण का उत्तरदायित्व भी मंत्रिण्डल का होता है। संसद में प्रत्येक वर्ष देश की आय तथा व्यय का संभवित लेखा–जोखा राष्ट्रीय बजट के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तथा परिस्थितियों के अनुसार जो वित्त विधेयक लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं वे मंत्रिमण्डल द्वारा ही तैयार व प्रस्तुत किए जाते हैं। बजट को वित्त मंत्री मंत्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति पर तैयार करता है तथा वही इसे लोकसभा में प्रस्तुत भी करता है।
5. **वैदेशिक संबंधों का संचालन**—वैदेशिक संबंधों पर मंत्रिमण्डल अपना नियंत्रण रखने का पूरा प्रयास करता है। विदेशी राज्यों के राष्ट्राध्यक्षों या सरकारों के साथ वार्ताओं का संचालन प्रधानमंत्री, विदेशमंत्री या प्रधानमंत्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है। जब इन वार्ताओं के परिणामस्वरूप कोई संधि या समझौता हो जाता है तब उसकी सूचना संसद को दी जाती है। यदि आवश्यक होता है तो संसद से उसकी स्वीकृति ले ली जाती है। वैदेशिक संबंधों के संचालन में मंत्रिमण्डल की तुलना में संसद की भूमिका गौण है। वैदेशिक संबंधों के संचालन में गुप्तता बहुत आवश्यक तत्व है इसीलिए वैदेशिक संबंधों के संचालन में मंत्रिमण्डल की सक्रिय भूमिका होती है। कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर तो विदेशी सरकारों के साथ गुप्त रूप से सन्धियां और समझौते कर लिए जाते हैं और संसद के पास सूचना भी नहीं होती है।
6. **नियुक्ति संबंधी कार्य**—संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को नियुक्ति का अधिकार भी प्रदान किया गया है, इसके द्वारा वह महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति कर सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह नियुक्तियां भी मंत्रिमण्डल के परामर्श के बिना नहीं कर सकता है। मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक, तीनों सेनाओं के प्रमुखों की नियुक्ति की जाती है। संसद के दोनों सदनों में मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही सदस्य मनोनीत किए जाते हैं।

मंत्रिमण्डल की बैठकें

मंत्रिमण्डल की बैठकों के बारे में निर्णय प्रधानमंत्री द्वारा लिए जाते हैं तथा वही इनका कार्यक्रम निश्चित करता है। सामान्यतः मंत्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती

है लेकिन विशेष परिस्थितियों में यह आवृत्ति बढ़ भी सकती है। इन बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करता है तथा बैठकों की समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती है। मंत्रिमण्डल की बैठकों में जो भी प्रस्ताव पारित किए जाते हैं या निर्णय लिए जाते हैं, वे मंत्रिमण्डल के सभी सदस्यों को मान्य होंगे। इन निर्णयों से केवल त्यागपत्र देकर ही विमुक्त हुआ जा सकता है।

मंत्रिमण्डल तथा संसद

मंत्रिमंडल और संसद में प्रत्यक्ष संबंध होता है। मंत्रिमंडल तथा संसद के बीच संबंध को हम दो रूपों में देख सकते हैं– 1. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण 2. व्यावहारिक दृष्टिकोण।

1. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण–भारतीय संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था को स्थापित किया गया है। संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ संबंध होता है। वास्तविक कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के मध्य से ही चुना जाता है और कार्यपालिका के रूप में आने के पश्चात भी वह व्यवस्थापिका से जुड़ी रहती है। कार्यपालिका प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, यहां व्यवस्थापिका का तात्पर्य है विशेष रूप से लोकसभा। कार्यपालिका लोकसभा के अधीन होती है तथा लोकसभा की इच्छानुसार ही कार्य करती है। संसद तथा मंत्रिमण्डल पर निम्नलिखित तरीकों से नियंत्रण रखा जा सकता है–

1. **प्रश्नोत्तर**–संसद के दोनों सदनों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने सत्रों के दौरान मंत्रिमण्डल से विभिन्न प्रशासकि मुद्दों के बारे में प्रश्न पूछ सकते हैं। इन प्रश्नों के आधार पर संसद सरकार की नीतियों के क्रियान्वयन तथा उनकी कमियों के बारे में जान पाती है। इन प्रश्नों और उत्तरों के आधार पर बहस, निन्दा व आलोचना के माध्यम से सरकार को उचित नीतियों पर अग्रसर करने का प्रयास किया जा सकता है।

2. **काम रोको प्रस्ताव**–काम रोको प्रस्ताव का तात्पर्य है कि यदि प्रशासन के किसी क्षेत्र में कहीं कोई गंभीर घटना हो गयी है तो प्रत्येक संसद सदस्य को यह अधिकार है कि वह अपने सदन में इस आशय का प्रस्ताव रखे कि सभी विषयों पर हो रहे विचार को रोककर, उस गंभीर घटना पर तत्काल विचार किया जाए। इस प्रस्ताव को ही काम रोको प्रस्ताव कहते हैं। यह प्रस्ताव मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण रखने का महत्वपूर्ण साधन है।

3. **विधेयक या नीति या अस्वीकृति**–संसद के दोनों सदनों को यह अधिकार है कि वे मंत्रिमण्डल के द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकार कर दें। यदि यह अस्वीकृति लोकसभा की ओर से होती है तो मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है।

4. **बजट पर कटौती का प्रस्ताव**–मंत्रिमण्डल संसद की स्वीकृति के बिना व्यय से संबंधित कोई कार्य नहीं कर सकता है। लोकसभा के द्वारा बजट में कटौती का सीधा तात्पर्य है–अविश्वास का प्रस्ताव।

5. **प्रशासनिक जांच**–संसद मंत्रिमण्डल के कार्यों की जांच–पड़ताल के लिए जांच सीमति स्थापित कर सकता है, जो सरकार के हिसाब–किताब के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त करके इसकी रिपोर्ट पर विचार कर सकती है।

6. **अविश्वास प्रस्ताव**–लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से मंत्रिमण्डल को हटाया जा सकता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से मंत्रिमण्डल के प्रत्येक कार्य पर संसद का नियंत्रण होता है। यदि संसद मंत्रिमण्डल के कार्यों से असन्तुष्ट हो तो वह काम रोको से लेकर अविश्वास प्रस्ताव तक पास करके मंत्रिमण्डल को अपदस्थ भी कर सकती है।

2. व्यावहारिक दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक दृष्टि से जो प्रावधान हमारे सामने होते हैं वे हमेशा प्रभावशाली नहीं होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से संसद का मंत्रिमण्डल पर पूर्ण नियंत्रण है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से स्थिति इसके विपरीत है। व्यावहारिक रूप से संसद मंत्रिमण्डल को नियंत्रित नहीं करती है बल्कि मंत्रिमण्डल से नियंत्रित होती है। मंत्रिमण्डल निम्नलिखित तरीकों से संसद पर पर्याप्त नियंत्रण रख सकता है–

1. मंत्रिमण्डल के मंत्री और प्रधानमंत्री बहुमत दल के सदस्य होते हैं, उनके पीछे संसद के बहुमत की शक्ति होती है। प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमण्डल जो नीतियां बनाते हैं उनको स्वतः संसद का समर्थन प्राप्त हो जाता है।
2. चूंकि मंत्रिमण्डल के सदस्य और प्रधानमंत्री बहुमत दल के सदस्य होते हैं, अतः उनके द्वारा निर्मित नीतियों का उनके दल के सदस्यों द्वारा समर्थन करना आवश्यक होता है। अन्यथा उनके विरुद्ध दलीय स्तर पर अनुशासनात्मक कार्यवाही हो सकती है अतः समर्थन देना उनकी बाध्यता होती है।
3. विधेयकों को तैयार करना, विधेयकों का प्रस्ताव रखना तथा उन्हें पारित कराना इन सभी कार्यों में मंत्रिमण्डल का सक्रिय योगदान होता है। गंभीर विषयों से संबंधित विधेयकों को तो मंत्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा ही प्रस्तावित किया जाता है। अतः इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि कानून निर्माण का कार्य संसद की सहमति से मंत्रिमण्डल ही करता है।
4. अधिकतर वित्तमंत्री राष्ट्रीय बजट को जिस रूप में पेश करता है संसद उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेती है। संसद बजट में व्यय को बढ़ा नहीं सकती है तथा बजट में कटौती का अर्थ होता है–मंत्रिमण्डल का पतन। सामान्यतया संसद यह नहीं चाहती है इसलिए वह बजट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेती है।
5. संसद पर मंत्रिमण्डल द्वारा नियंत्रण रखने का अन्तिम साधन प्रधानमंत्री के हाथ में लोकसभा को भंग करने की शक्ति है। लोकसभा का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है, यदि स्पष्ट बहुमत की स्थिति हो तो लोकसभा के सदस्य निर्बाध रूप से अपना कार्यकाल पूरा करना चाहेंगे और ऐसी स्थिति में वे प्रधानमंत्री को समर्थन देने के लिए बाध्य होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मंत्रिमण्डल तथा संसद का पारस्परिक संबंध कई स्थितियों पर निर्भर होता है, जैसे कि–एक राजनीतिक दल का मंत्रिमण्डल, मिले–जुले दलों से बना मंत्रिमण्डल आदि। इनमें से लोकसभा में जो भी स्थिति होती है, मंत्रिमण्डल की दृढ़ता उस पर निर्भर करती है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. वास्तविक रूप में कार्यपालिका की शक्ति किसमें निहित होती है?

(क) मंत्रिपरिषद में	(ख) लोकसभा में
(ग) विधानसभा में	(घ) राजधानी में

6. मंत्रिपरिषद किसके प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है?

(क) मंत्री के	(ख) अफसर के
(ग) राष्ट्र के	(घ) व्यवस्थापिका के

2.5 कैबिनेट समितियां

किसी सरकार के उच्चस्तरीय नेताओं के समूह को कैबिनेट कहते हैं। प्रायः उन्हें 'मंत्री' (मिनिस्टर) कहा जाता है किन्तु कहीं–कहीं उन्हें 'सेक्रेटरी' भी कहा जाता है। कैबिनेट, इंग्लैंड की शासन व्यवस्था से विकसित शासन–व्यवस्था का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण अंग है। इसका प्रचलन प्रायः उन सभी देशों में है जो ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य हैं। कुछ अन्य देशों में भी यह व्यवस्था प्रचलित है। भारत के केंद्रीय एवं प्रादेशिक शासन का भी यह अंग है।

सामान्य रूप में संसद की लोकसभा (अथवा प्रादेशिक शासन में विधानसभा) में जिस दल का बहुमत हो या जो बहुमत प्राप्त कर सकता हो, उस दल या दलों के समूह के सदस्यों में से चुने हुए राजनीतिज्ञों का यह एक निकाय है। इसको सदन नहीं चुनता, बल्कि वे प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री द्वारा मनोनीत होते हैं। लोकसभा (अथवा विधानसभा) के द्वारा जनमत सरकार पर नियंत्रण रखता है और अपने बहुमत द्वारा लोकसभा (अथवा विधानसभा) सरकार पर नियंत्रण रखती है। किन्तु सरकार, कैबिनेट से बड़ा शासन निकाय है। सरकार में मंत्री, सचिव आदि वे सब सम्मिलित हैं जिनकी कार्यावधि राजनीतिक है। कैबिनेट अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण मंत्रियों का अधिक छोटा समुदाय है जो देश (अथवा प्रदेश) के शासन के संबंध में सारे महत्वपूर्ण मामलों में नीति का निर्धारण और निर्णय करता है। इसका आकार सरकार के विविध विभागों के कार्यभार के अनुसार घटता–बढ़ता और देश–देश में बदलता रहता है।

कैबिनेट के सभी सदस्य संसद (व्यवस्थापिका सभा) के सदस्य होते हैं या नियुक्ति के थोड़े समय के बाद ही उन्हें सदस्य निर्वाचित हो जाना अनिवार्य होता है। भारत में कभी–कभी विधान परिषद में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों को भी मंत्रिमंडल में ले लिया जाता है पर यह अपवाद स्वरूप ही होता है। सरकार तब तक ही पदस्थ

रह सकती है जब तक लोकसभा (अथवा विधानसभा) में उसे बहुमत का बल प्राप्त हो। यदि किसी महत्वपूर्ण समस्या पर उसकी पराजय हो जाए या वह व्यवस्थापिका सभा का विश्वास खो दे तो उसके लिये पदत्याग करना आवश्यक है। दलों के सुसंगठित होने और कठोर अनुशासन का पालन करने के कारण कैबिनेट का उत्तरदायित्व घट गया है। शासित होने के स्थान पर कैबिनेट बहुमत के द्वारा व्यवस्थापिका सभा पर शासन करती है; तथापि जनता के मन को अभिव्यक्त करने के मंच के नाते, लोकसभा (विधानसभा) का महत्व बना हुआ है। किन्तु देखा जाता है कि जनमत का कैबिनेट पर अधिक सीधा नियंत्रण है। कैबिनेट को व्यवस्थापिका सभा के प्रति अपील का अधिकार है– दूसरे शब्दों में सभा को भंग करने का अधिकार है। किन्तु इस अधिकार का उपयोग किसी विशेष अवसर पर जनमत की अनुकूल लहर का लाभ उठाने के लिये अथवा निश्चित समय से पहले ही आम चुनाव कराने के लिये होता है।

कैबिनेट प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थिति प्रधानमंत्री (प्रदेशों में मुख्यमंत्री) की है। लास्की के शब्दों में वह बड़े अधिकारियों से उच्चतर किंतु निरंकुश शासक से कम है। सरकार के गठन का वह केंद्र है, उसके जीवन का केंद्र है, वह जो कुछ है उसके अनुरूप ही कैबिनेट को अपना रूप निर्धारित करना पड़ता है और वह उसके निर्देश में कार्य करती है।

सर्वत्र प्रधानमंत्री (मुख्यमंत्री) वैधानिक प्रधान द्वारा मनोनीत होता है, वह चाहे राजा हो या राष्ट्रपति, गवर्नर जनरल हो या गवर्नर। व्यावहारिक रूप में यह मनोनयन राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा है। मनोनीत व्यक्ति को अपने सहयोगियों का समर्थन प्राप्त करने या लोकसभा को मान्य सरकार बनाने में समर्थ होना आवश्यक है। सामान्यतः बहुमतवाले दल के माने हुए नेता को सरकार बनाने के लिये निमंत्रित किया जाता है। उसमें वैधानिक प्रधान की रुचि–अरुचि का प्रश्न नहीं होता। किंतु विशेष परिस्थितियों में वैधानिक प्रधान सीमित निर्णय का ही प्रयोग कर सकता है। यह तब होता है जब प्रधानमंत्री (मुख्यमंत्री) अवकाश ग्रहण करता है या त्यागपत्र देता है अथवा जब लोकसभा (विधानसभा) में कोई एक दल बहुमत में नहीं होता या राष्ट्रीय संकट के अवसर पर, जब एक दल की अपेक्षा सामान्तः मिली–जुली सरकार अच्छी मानी जाती है। किंतु ऐसी अवस्थाओं में भी वैधानिक प्रधान का निर्णय नियंत्रित ही होता है। मनोनीत व्यक्ति के लिये ऐसी स्थिति में होना आवश्यक है कि वह ऐसी सरकार बना सके जो व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त कर सके।

कैबिनेट के सदस्यों से सर्वत्र अपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त रूप में काम करें। वे व्यवस्थापिका के, देश के और वैधानिक प्रधान के सामने अपने को एक संयुक्त रूप में प्रस्तुत करें। अतः पारस्परिक मतभेद कैबिनेट की बैठकों में गुप्त रूप से ठीक कर लिए जाते हैं। समस्त सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे कैबिनेट के सभी निर्णयों का अनुमोदन, यदि आवश्यक हो तो, भाषण और मतदान द्वारा करें। कैबिनेट का उत्तरदायित्व सामूहिक माना जाता है। यदि कोई मंत्री अपने सहयोगियों के मत की अवहेलना कर स्वतंत्र रूप से कार्य करता है तो वह हटा दिया जाता है और त्यागपत्र देने पर विवश किया जाता है।

कैबिनेट समिति ऐसे संगठन हैं जो मंत्रिमंडल के कार्यभार को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये समितियां प्रकृति में अतिरिक्त–संवैधानिक हैं और संविधान में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं हैं।

कैबिनेट समितियों के प्रकार और संरचना

स्थायी कैबिनेट समिति (Standing Cabinet Committee): ये एक विशिष्ट कार्य के साथ प्रकृति में स्थायी हैं। कैबिनेट मंत्रियों को इसके 'सदस्य' कहा जाता है, जबकि बिना कैबिनेट समिति की रैंक के लोगों को 'विशेष आमंत्रितगण'(special invitees) कहा जाता है।

तदर्थ कैबिनेट समिति (Ad hoc cabinet committee): ये प्रकृति में अस्थायी हैं और विशिष्ट कार्यों को करने के लिए समय–समय पर इनका गठन किया जाता है।

संरचना: एक कैबिनेट समिति में 3 से 8 लोग होते हैं। यहां तक कि ऐसे मंत्री जो कैबिनेट का हिस्सा नहीं हैं, उन्हें भी कैबिनेट समिति में जोड़ा जा सकता है। आमतौर पर प्रत्येक कैबिनेट समिति में कम से कम एक कैबिनेट मंत्री होता है। कैबिनेट समिति के सदस्य लोकसभा और राज्यसभा दोनों से हो सकते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. किसी सरकार के उच्चस्तरीय नेताओं के समूह को क्या कहते हैं?

(क) लोकसभा	(ख) कैबिनेट
(ग) राज्यसभा	(घ) विधानसभा

8. कैबिनेट प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थिति किसकी है?

(क) राष्ट्रपति की	(ख) उपराष्ट्रपति की
(ग) प्रधानमंत्री की	(घ) राष्ट्रपिता की

2.6 प्रधानमंत्री कार्यालय

प्रधानमंत्री कार्यालय

प्रधानमंत्री सचिवालय 15 अगस्त 1947 को अस्तित्व में आया जब भारत स्वतंत्र हुआ। जून 1977 तक यह प्रधानमंत्री दफ्तर के नाम से जाना जाता था। सचिवालय को त्वरित उद्देश्य के लिए बनाया गया तब तक के लिए, जब तक प्रधानमंत्री गवर्नर जनरल के सचिव द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों को जिसे सरकार के एक कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में गवर्नर जनरल स्वतंत्रता के पहले करता था, पूरी तरह से न ग्रहण कर ले। यह अतिरिक्त संविधानिक संस्थान है जिसका भारतीय संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। हालांकि इसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एलोकेशन ऑफ बिज़नस रूल्स 1961 के अंतर्गत एक विभाग का रूप दिया गया है।

पी एम ओ की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री का सचिव करता है जिसे अब प्रधानमन्त्री का प्रधान सचिव कहा जाता है। इस कार्यालय का सांगठनिक पदक्रम निम्नलिखित है–

- प्रधान सचिव : यह पी एम ओ में नौकरशाही पिरामिड की अध्यक्षता करता है तथा कार्यालय के सभी दस्तावेजों को देखता है। वह अन्य मंत्रालयों के कार्यों को भी देखता है, यदि प्रधानमंत्री उसे ऐसा करने को कहे।
- संयुक्त सचिव (I) : यह गृह मामलों, न्याय तथा कानून को देखता है।
- संयुक्त सचिव (II) : यह प्रधानमन्त्री कार्यालय के प्रशासन तथा भूमि यातायात, संचार, रेलवे तथा नागरिक उड्डयन मंत्रालयों को देखता है।
- संयुक्त सचिव (III) : यह विदेश मंत्रालय, रक्षा मंत्रालय तथा डिपार्टमेंट ऑफ एटॉमिक एनर्जी को देखता है।
- डायरेक्टर (I) : यह विशेष प्रभारी अधिकारी होता है जो ग्रामीण विकास तथा लोक आपूर्ति को देखता है।
- डायरेक्टर (II) : यह गृह मामलों का प्रभारी होता है।
- डायरेक्टर (III) : पी एम ओ में इसकी स्थिति विषम होती है, इसका कोई निश्चित कार्य नहीं होता अतः यह दोष दूर करने वाले के रूप में कार्य करता है।
- डायरेक्टर (IV) : यह राज्य सरकारों के मामलों ख़ासतौर पर उत्तरपूर्वी राज्यों के मामलों को देखता है।

यह कार्य का बंटवारा स्थायी नहीं होता तथा प्रधानमंत्री इसमें आवश्यकता के मुताबिक बदलाव कर सकते हैं।

इनके नीचे बहुत सारे अधिकारी होते हैं जो I, II, III, IV स्तरीय वर्गों के कार्यों को देखते हैं। सामान्यतः पी एम ओ में अधिकारियों की प्रस्थितियों को सरकार के मंत्रालयों में विभिन्न पदों पर आसीन अधिकारियों के सामान ही समझा जा सकता है। सन 1980 तक यह माना जाता था कि पी एम ओ में होने के कई फायदे हैं। इसमें कुछ परंपरागत फायदे रहे हैं– शक्ति, परमाधिकार, संरक्षण तथा एक अब जुड़ गया है पदोन्नयन। मार्च 1987 में सरकार ने जब वरिष्ठ अधिकारियों का पदोन्नयन सचिव पद के लिए घोषित किया तब दो का पदोन्नयन पी एम ओ में किया गया। वैसे यह कोई सिलसिलेवार प्रक्रिया नहीं है।

प्रकार्य

बड़े तौर पर, पी एम ओ में वैसे विषय तथा प्रक्रियाएं आती हैं जिन्हें विशेषतः किसी स्वतंत्र विभाग को आबंटित नहीं किया जाता है। संक्षेप में ये प्रकार्य निम्नलिखित हैं–

- वैसे सभी सन्दर्भ जो कि कार्यों के नियमों के अंतर्गत प्रधानमंत्री के पास आते हैं।
- मुख्य कार्यकारी होने के नाते प्रधानमंत्री को उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों में सहयोग प्रदान करना।

- यह केन्द्रीय मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों के बीच उन मामलों में संपर्क सूत्र का कार्य करता है जिसमें प्रधान मंत्री रुचि ले सकता है।
- योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में अपने कर्तव्यों के निर्वहन में प्रधानमंत्री को सहायता प्रदान करना।
- पी एम ओ के लोक संबंध वाले पक्ष से समन्वय स्थापित करना
- अपेक्षित नियमों के अंतर्गत आदेशों के विषय में प्रधानमंत्री को सौंपे गए मामलों में सहयोग प्रदान करने के लिए।

ऊपर उल्लिखित प्रकार्यों से यह नहीं समझा जा सकता है कि पी एम ओ का सिर्फ यही सब कार्य होता है। यह उन प्रश्नों के उत्तर तैयार करने में प्रधानमंत्री की सहायता करता है जिन्हें किसी विशेष मंत्रालय द्वारा नहीं दिया जा सकता। यह प्रधानमंत्री के पत्राचार को भी संभालता है तथा प्रधानमंत्री के महत्वपूर्ण भाषणों तथा घोषणापत्रों का मसौदा तैयार करता है।

वर्तमान समय में यह प्रधानमंत्री का थिंक टैंक बन गया है। इसके पीछे यह विचार था कि प्रधानमंत्री को पर्याप्त समय मिले जिससे कि वे बड़ी योजनाओं पर निर्णय ले सकें जो उन्हें सौंपी गई हैं। इसका महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि प्रधानमंत्री कैबिनेट के समन्वयक होते हैं। प्रधानमंत्री से अपनी निकटता के कारण यह कैबिनेट के क्रियाकलापों में भी प्रभावी भूमिका निभाता है।

प्रधान सचिव

स्वतंत्रता से ही पी एम ओ की भूमिका प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत प्रकार के कार्यों पर निर्भर है। हालांकि नेहरू युग तथा जनता शासन, 1977–79, के अपवाद को छोड़ दिया जाए तो यह कार्यालय बड़ी शक्ति तथा प्रतिष्ठा का गवाह रहा है।

नेहरू युग

नेहरू ने कभी इस पर भरोसा नहीं किया और न ही इस पर निर्भर रहे। उस समय प्रधानमंत्री कार्यालय को कैबिनेट सचिवालय में डाल दिया गया था।

शास्त्री युग

साठवें दशक के मध्य में शास्त्री के काल में इस कार्यालय का अप्रत्याशित विकास हुआ। शास्त्री जी ने एल के झा को प्रधानमंत्री के सचिव पद पर नियुक्त किया। पी एम ओ के इतिहास में एल के झा की भूमिका बेमिसाल थी। ग्रंथकार माईकल ब्रेचर ने सही कहा है कि–

"इसके पर्याप्त सबूत हैं कि एल. के. झा के प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा पी एम सचिवालय पूरे भारत की राजनीति में एक बड़ा शक्तिशाली केंद्र बन गया तथा अपने अधिकारों में एक हित समूह भी बन गया। उन्होंने (एल के झा) बहुत सारे मामलों पर जोर दिया, खासतौर से आर्थिक नीतियों तथा विदेश नीतियों पर।

इंदिरा गांधी का कार्यकाल

शास्त्री जी के बाद इंदिरा गांधी सत्ता में आयीं तथा झा की सेवाओं पर बड़े तौर पर निर्भर हो गयीं। उनके काल में सचिव का कार्यालय शक्ति के शीर्ष बिंदु पर पहुंच गया तथा आपातकाल के समय यह भारत सरकार के वास्तविक निर्णय निर्माण संगठन के रूप में उभरा। झा इंदिरा गांधी के साथ विदेश दौरों पर भी जाते थे। उनको इंदिरा गांधी मास्को, लन्दन, पेरिस, वाशिंगटन तथा बर्न परमाणु अप्रसार संधि से संबंधित विचार विमर्श के लिए ले जाती थीं। इन यात्राओं का महत्व इन बातों में ढूंढ़ा जा सकता है कि एक लोक सेवक जॉनसन तथा कोसिजिन जैसे नेताओं के साथ विमर्श करता था। सन 1967 में पी एम हक्सर नए सचिव बने तथा पी एम के सबसे विश्वासी व्यक्ति बने। उन्होंने उनको सभी राजनीतिक तथा पार्टी के मामलों पर सलाह दी। उनके उत्तराधिकारियों का भी वैसा ही प्रभाव था। साठ के दशक के मध्य में रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ) को भी प्रधानमंत्री के सचिवालय में शामिल कर दिया गया। इसे शीघ्र ही पी एम के व्यक्तिगत अन्वेषण नेटवर्क के रूप में जाना जाने लगा तथा 1975–77 के आपातकाल के दौरान, इसकी नौकरशाही संबंधित पहुंच के साथ इसके अत्यधिक महत्व को कम करने की कवायद शुरू हो गयी, कर्मचारियों की संख्या को घटा दिया गया तथा इसका नाम पी एम ओ रख दिया गया।

जब इंदिरा गांधी फिर सत्ता में आईं तब पी सी अलेक्जेंडर नए सचिव(1981–84) बने। उनकी किताब 'माई इयर्स विद इंदिरा गांधी' प्रधान सचिव के रूप में उनकी भूमिकाओं के विषय में विस्तृत विवरण देता है। अलेक्जेंडर कहते हैं कि वे सभी सरकारी मामलों से निकट से संबंधित थे। वे अपनी एक विशेष भूमिका के विषय में कहते हैं कि प्रधान सचिव के रूप में उनके महत्वपूर्ण कार्य थे संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर को तैयार करने में प्रधानमंत्री की सहायता करना तथा सभी संभव पूरक प्रश्नों के उत्तर के लिए सूचनाएं एकत्रित करना। यह बताता है कि प्रधान सचिव को संसदीय सत्र के दौरान एक पैर पर खड़े रहना पड़ता था। उनकी भूमिकाओं के बारे में कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातें हैं– इंदिरा गांधी के कुछ विदेश दौरों में उनके साथ होना तथा विदेशी मामलों में निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर उनका प्रभाव। अलेक्जेंडर हर विदेशी दौरे का एक भाग थे। इसका महत्व इस तथ्य में है कि कुछ मौकों पर, यहां तक कि पी वी नरसिम्हा राव, जो कि विदेश मंत्री थे उन्हें भी शामिल नहीं किया गया पर अलेक्जेंडर उसका हिस्सा थे। मजे की बात है कि अलेक्जेंडर बताते हैं कि इंदिरा गांधी जब भी अपने कैबिनेट में फेरबदल करती थीं उन्हें हमेशा विश्वास में लेती थीं।

राजीव गांधी युग

राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व (1984–89) के दौरान प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव का पद और महत्वपूर्ण हो गया। इस कार्यालय का क्षेत्र तथा महत्व राजीव गांधी के आखिरी दो वर्षों में इतना बढ़ा कि इसका क्षेत्र 12, 000 फीट और आगे बढ़ गया जिसमें पहले विदेश मंत्रालय हुआ करता था तथा इस मंत्रालय को इसने अंशतः एक पुराने होटल के प्रांगण में धकेल दिया। 1989–91 का काल जो कि एक राजनीतिक अस्थिरता का

काल था, इस समय भी यह कार्यालय तथा इसके अधिकारी इस पर निर्भर थे, आज भी यह पूरी ताकत से बढ़ रहा है।

नरसिम्हा राव युग

बहुत लोगों ने यह महसूस किया है कि अधिकतर प्रधानमंत्री पी एम ओ को सामानांतर सरकार की भांति समझते थे। जैसा कि पहले पहले बताया जा चुका है कि राजनीतिक दलों में तथा राजनीतिक कार्यकारिणी की सीटों में केन्द्रीकरण के प्रचलन ने पी एम ओ की स्थिति पर कब्ज़ा कर शासन व्यवस्था के चरम बिदु पर पहुंचा दिया। प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को पी एम ओ में अधिकतर भुवनेश्वर चर्तुर्वेदी, जो कि पी एम ओ में राज्य मंत्री थे, द्वारा सहायता प्रदान की जाती थी। 1995 के अंतिम दिनों में असलम शेर खान को पी एम ओ में लाया गया, लेकिन प्रारंभ में उनकी विशेष भूमिका के बारे में असमंजस बना रहा।

प्रशासनिक स्तर पर ए एन वर्मा ने प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव के रूप में कार्य किया था। कैबिनेट सचिव की तुलना में निर्णय निर्माण प्रक्रिया में वे मजबूत स्थिति में थे जब तक कि सुरिंदर सिंह की कैबिनेट सचिव के पद पर नियुक्ति नहीं हो गयी। देखने वालों ने केंद्र सरकार में इन दोनों सर्वोच्च प्रशासनिक पदों के बीच बढ़ता हुआ 'प्रभाव संतुलन' देखा। हालांकि इन पर निर्भर ये पदाधिकारी अपनी भूमिकाओं को महसूस करते रहे। कैबिनेट सचिव के औपचारिक पद तथा प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव के अनौपचारिक प्रभाव के बीच अच्छे समीकरण के विकास में निर्धारक तत्व निरंतर प्रधानमन्त्री खुद ही हैं। यद्यपि, पी एम ओ के वास्तविक प्रभाव में परिवर्तन स्वाभाविक है, निकट विषय में इसकी बढ़त को कोई भी देख सकता है।

गृह मंत्रालय

केंद्र सरकार के सारे मंत्रालयों में गृह मंत्रालय एक गौरवशाली स्थान है। कंपनी की सरकार के सन 1943 में पुनर्संगठन के परिणामस्वरूप संगठित चार सबसे पुराने विभागों में इसका पहला स्थान है। पहले से ही इसमें सभी व्यापक विभाग थे सिर्फ सैन्य, वित्त तथा विदेशी मामलों को छोड़कर। वास्तव में भारत सरकार की संरचना कुछ विषयों से प्रकट होती है जिसे गृह विभाग से बाहर लाया गया ताकि नए विभाग का गठन किया जा सके। गृह मंत्रालय को दो महत्वपूर्ण कार्यों को सौंपने तथा दो नए मंत्रालयों के गठन के लिए दो महत्वपूर्ण उल्लेख किये गए। अतः मार्च 1985 में कर्मचारियों के लिए एक नए मंत्रालय जो कि लोक सेवकों के मामले देखता था, का गठन किया गया तथा साथ ही उसी साल समाज के गरीब वर्गों से संबंधित मामलों को देखने के लिए कल्याण मंत्रालय का गठन किया गया। आज भी मंत्रालय का अधिकार क्षेत्र व्यापक तथा विविध है। भारत सरकार के नौ सौ से ज्यादा प्रकार्यों से गृह मंत्रालय संबंधित होता है, इसमें बहुत सारे अलग–अलग कार्य शामिल हैं, इसमें से एक सौ पैंसठ विभिन्न प्रकृति के हैं जो संघ के प्रत्येक क्षेत्र तथा लगभग सभी नागरिकों से संबंधित होते हैं। कोई भी ऐसा मामला जो कि किसी भी मंत्रालय से संबंधित नहीं होता है बिना हिचकिचाहट के गृह

मंत्रालय को सौंप दिया जाता है जिसके विषय में ऐसा माना जाता है कि किसी भी अवशिष्ट मामले को निपटाने की शक्ति इसमें है।

संगठन

1989 की शुरुआत में इसमें चार विभाग थे आतंरिक सुरक्षा विभाग, गृह विभाग, राज्य विभाग, आधिकारिक भाषा विभाग। अब चार के बजाय पांच विभाग हैं।

जम्मू कश्मीर मामलों का विभाग पांचवा विभाग है। इसमें मंत्री एक कैबिनेट मंत्री के अधीन होते हैं जिसकी सहायता राज्य मंत्री तथा उपमंत्री करते हैं। निश्चित ही इस प्रकार के सहयोग की प्रकृति प्रधानमन्त्री का राजनीतिक निर्णय होता है। इस मंत्रालय की अध्यक्षता एक आई.ए एस सचिव करता है। इसके अतिरिक्त उसकी सहायता कई अतिरिक्त, संयुक्त तथा उप तथा अवर सचिव करते हैं। उसी प्रकार कई डायरेक्टर भी होते हैं। सन 1971 में यह सचिवालय 96 अधिकारियों से मिलकर बना था जिसमें प्रत्येक वर्ग के अधिकारी थे, दो सचिव (प्रशासनिक सुधार विभाग के स्थानांतरण के बाद यह एक रह गया), अतिरक्त सचिव, 12 संयुक्त सचिव, 29 उप सचिव तथा 34 अवर सचिव। सन 1973 में यह मंत्रालय 19 विभागों में बंट गया जिसमें जिसका अध्यक्ष एक उप सचिव था। 1974 में मंत्रालय के अधीन पांच संयुक्त तथा आठ अवर अधिकारी थे। 1985 के बाद यह संख्या क्रमशः छह तथा तेरह हो गयी। 1988 में इस मंत्रालय के अधीन 3.25 लाख पद थे। इस समय मंत्रालय में 26 विभाग हैं जिसकी अध्यक्षता एक उप सचिव करता है। वर्तमान में इस मंत्रालय के अधीन सात संयुक्त, आठ अवर तथा तीन सलाहकारी कार्यालय हैं।

प्रकार्य

इसके प्रकार्यों को विभिन्न अध्यक्षों के अधीन आने वाले विभिन्न मामलों के आधार पर दर्शाया जा सकता है, जैसे– कानून व्यवस्था; पुलिस, सार्वजनिक सुरक्षा तथा कारावास;केन्द्रशासित प्रदेशों का प्रशासन; केंद्र राज्य संबंध; आधिकारिक भाषाएं, लोक रक्षा तथा अन्य।

- **कानून व्यवस्था** : इस मामले में दो प्राथमिक अवलोकन जरूरी हैं। प्राथमिक स्तत्र पर इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि संघीय व्यवस्था के अंतर्गत सार्वजानिक व्यवस्था के प्रबंधन के लिए राज्य जिम्मेदार होता है, केंद्र सरकार की भूमिका इसमें केवल सहायक तथा समन्वयक की होती है। यह मंत्रालय प्राथमिक तौर पर केंद्र शासित प्रदेशों में कानून तथा व्यवस्था के प्रबंधन के लिए उत्तरदायी होता है। संविधान का अनुच्छेद 257 केंद्र सरकार को इस बात के लिए सक्षम बनाता है कि राज्यों द्वारा निवेदन करने पर यह अपने सुरक्षा बलों को राज्य में तैनात कर सकता है। इस प्रकार के दिशानिर्देशों को जारी करने तथा राज्य सरकारों को इस प्रकार के निर्देशों को प्रदान करने जो कि इन उद्देश्यों के लिए जरूरी हो, के लिए केंद्र के पास अतिरिक्त शक्ति है। हालांकि, 42वें संशोधन 1976 (जो कि 1977 में प्रभावी हुआ) ने केन्द्रीय सूची (2क) में एक

टिप्पणी

नया प्रावधान जोड़ा जिसमें केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सशस्त्र बलों को या अन्य बलों को जो कि केंद्र सरकार का विषय हैं राज्यों में कानून व्यवस्था के गंभीर संकट को देखते हुए तैनात कर सकती है। हालांकि इस उपखंड को 44 वें संशोधन 1978 द्वारा अनुच्छेद 257 (क) के माध्यम से हटा दिया गया जो कि 20 जून, 1979 से प्रभाव में आया। इस संशोधन ने यथास्थिति को बहाल किया किन्तु केंद्र सरकार द्वारा अयोध्या में केन्द्रीय आरक्षित बालों की छह बटालियन को तैनात करना एक महत्वपूर्ण विकास है जो राज्यों में कानून व्यवस्था की समस्याओं में केंद्र के बढ़ते हस्तक्षेप को दर्शाता है। दूसरे स्थान पर, यह खेद के साथ कहना है कि, विकास के मामले में कानून व्यवस्था को अब और प्राथमिकता नहीं दी जाती है। ऐतिहासिक रूप से, प्रशासन के समक्ष मुख्य समस्या देश में कानून व्यवस्था तथा शांति को बनाए रखने की रही है। देश में हिंसक वातावरण के आलोक में कानून व्यवस्था पर ध्यान देने की आवश्यकता है। मनुष्य के विकास से पहले उसका जीवित रहना जरूरी है। कानून व्यवस्था की समस्या के विषय में कुछ निश्चित शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है, जैसे– सांप्रदायिक परिस्थिति, सामान्य हिंसा की भावना, जातीय तनाव, कृषक असंतोष, विद्यार्थी तथा युवा आन्दोलन तथा पूर्वी अतिवादी हिंसा।

- **हिंसा एवं कानून व्यवस्था का कुप्रबंधन**– दुर्भाग्य से हाल के वर्षों में देश की पूरी कानून व्यवस्था स्थिति ने कई क्षेत्रों में विचारणीय ह्रास का प्रदर्शन किया है। यह विश्वास कि भारतीय शांतिप्रिय तथा अहिंसक हैं, झूठा साबित कर दिया गया है एवं गांधी की 'अहिंसा' को भुला दिया गया है। देश में मुख्य रूप से युवाओं के भीतर कानूनहीनता की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है। कानून व्यवस्था के प्रति सम्मान में बहुत कुछ है लेकिन इसे तोड़ा जाता है तथा लगातार आन्दोलन, हत्या, अपहरण, अपराध तथा 'घेराव' का सहारा लिया जाता है। देश में अपराध सिद्धि बढ़ रही है। इस मामले की सूक्ष्मता से छानबीन करने की जरूरत है। दैनिक अखबारों का नियमित अध्ययन कुंठित करने वाला है तथा लोग मुख्य रूप से बढ़ते हुए अपराधों के ग्राफ को देखते हैं जिसमें हत्या, आगजनी, आन्दोलन, हड़ताल, बलात्कार तथा अमानवीय कृत्य शामिल हैं। पैसे के प्रति प्रलोभन प्रभावी हो गया है तथा इसका परिणाम भ्रष्टाचार के रूप में सामने आया है। सरकार का हर पक्ष इस पक्ष से बुरी तरह ग्रस्त है। हमें इस मामले पर गंभीरता से विचार करना चाहिए तथा इसके खिलाफ कदम उठाना चाहिए।
- **बढ़ता हुआ आतंकवादी खतरा तथा क्षेत्रीय अखंडता को खतरा**– यह राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध गंभीर खतरा है। देश विघटन की तरफ तेजी से बढ़ रहा है तथा टूट रहा है। एक सरकार तथा प्रशासन के अंतर्गत देश के सभी भागों को लाना भारत में सबसे घृणित ब्रिटिश सरकार का सबसे ठोस योगदान रहा है। पंजाब तथा कश्मीर की घटनाएं तथा उत्तरपूर्व में अस्थिरता विचारणीय मामले हैं। यह सिर्फ कानून व्यवस्था का मामला नहीं है बल्कि यह राजनीतिक

आयाम भी है। सरकार इससे पूरी तरह अवगत है तथा इस खतरे के प्रति एवं देश की एकता की सुरक्षा के प्रति कदम उठा रही है। इस समस्या का अंतर्राष्ट्रीय आयाम भी है। सरकार पूरी तरह से इस समस्या से निपटने का प्रयास कर रही है। इस विषय में नेशनल इंटीग्रेशन काउन्सिल का जिक्र किया जा सकता है जो कि एकता की स्थापना के लिए सरकार द्वारा स्थापित सभी दलों का मिलकर बनाया गया संगठन था।

- **सांप्रदायिक स्थिति तथा जातीय तनाव** : दो मुख्य समुदायों हिन्दू तथा मुस्लिम के बीच तनाव भारतीय परिस्थिति में स्थानिक है जो कि ब्रिटिश शासन में भी था। इन दो समुदायों के बीच दंगे भारत की एक विशेषता है। मुहम्मद अली जिन्ना के मुस्लिम लीग द्वारा द्विराष्ट्र सिद्धांत की अनैच्छिक स्वीकृति तथा मुस्लिमों के लिए अलग देश की स्थापना ने भी इस समस्या को नहीं सुलझाया। देश 1947 से ही विभिन्न क्षेत्रों में इस तरह के दंगों का गवाह रहा है। गृह मंत्रालय की वास्तविक रिपोर्ट 1990–91 कहती है कि, राम जन्म भूमि तथा बाबरी मस्जिद मामले के कारण विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक स्थिति बनी रही। आंध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, उड़ीसा उत्तर प्रदेश, तथा पश्चिम बंगाल के विभिन्न क्षेत्र सांप्रदायिक दंगों के गवाह रहे हैं जिसमें लोगों की जानें गयी हैं तथा संपत्ति का नुकसान हुआ है। इस सांप्रदायिक वायरस ने 1990 में जातीय तनाव तथा आरक्षण विरोधी गतिविधियों को अपने साथ संयुक्त कर लिया। 1889 की तुलना में सन् 1990 में जाति संबंधित हिंसा में अधिक वृद्धि हुई। इन टकरावों से बिहार सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ। जातीय तनाव में और वृद्धि 1990 में हुई क्योंकि उस समय मंडल कमीशन की अनुशंसाओं को केंद्र सरकार ने मान लिया जिसमें केन्द्रीय सेवाओं में 27 प्रतिशत आरक्षण जिसमें केन्द्रीय सार्वजनिक उपक्रम भी शामिल था, पिछड़े वर्गों को दिया गया, एस सी, एस टी को पहले ही आरक्षण दिया जा चुका था। इससे पूरे देश में आरक्षण विरोधी आन्दोलन शुरू हो गया। इससे 18 राज्य तथा केंद्र शासित प्रदेश प्रभावित हुए तथा हिंसा की 7700 घटनाएं दर्ज हुईं। बहुत सारे आरक्षण विरोधियों ने इस मामले पर आत्महत्या की। वी पी सिंह की सरकार भी इस मामले पर 1990 के अंतिम दिनों में गिर गयी। बहुत–सी राज्य सरकारों ने भी केंद्र सरकार के अनुसरण में नौकरियों में आरक्षण दिया। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के बाद केंद्र सरकार में 27 प्रतिशत आरक्षण 8 दिसम्बर से प्रभावी हो गया।
- **किसान असंतोष तथा उग्रवादी हिंसा** : इसमें किसान असंतोष तथा वाम अतिवादी हिंसा को शामिल किया गया है। 1990 के दौरान किसान असंतोष के परिणामस्वरूप कानून तोड़ने की 178 घटनाएं सामने आईं जिनमें कि 17 लोग मारे गए तथा 383 लोग घायल हुए। विद्यार्थियों तथा युवाओं की आंदोलनात्मक गतिविधियां जिनमें घेराव, आगजनी, पत्थर फेंकना, फायरिंग, गुंडागर्दी आदि शामिल थे जनवरी से सितम्बर 1990 के दौरान बढ़ती गईं। यह हिंसा पूरे देश में फ़ैल गयी। 1990 में वामपंथियों द्वारा की गई हिंसक गतिविधियां 1989 के

मुकाबले 75 प्रतिशत ज्यादा बढ़ गईं, आंध्र प्रदेश तथा बिहार भी इससे बहुत ज्यादा प्रभावित रहे। 1989 में देश में 1570 घटनाएं हुईं जिसमें 231 मौतें हुईं। इस व्यापक हिंसा के लिए आन्ध्र प्रदेश आधारित पीपुल्स वार ग्रुप जिम्मेदार था। इनका लक्ष्य सार्वजनिक संपत्ति था जिसमें टेलीफोन एक्सचेंज, रेलवे, पब्लिक ट्रांसपोर्ट, बैंक आदि शामिल थे। 1990 में इस हिंसा की मूल विशेषता थी, हिंसा के तरीके जिनमें लोक प्रतिनिधियों तथा सरकारी कर्मचारियों का अपहरण शामिल था जिसका प्रयोग अपनी मांगें मनवाने के लिए किया गया। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में इन हिंसात्मक गतिविधयों को देखा गया। पहले की तरह ही बिहार इस हिंसा का संघर्ष क्षेत्र रहा।

पुलिस और सार्वजनिक सुरक्षा

चूंकि सार्वजनिक सेवाओं को गृह मंत्रालय जो कि एक नया मंत्रालय था, को सौंप दिया गया, पुलिस एवं लोक सुरक्षा गृह मंत्रालय की जिम्मेदारी बनी रही। यह अजीब लगता है फिर भी यह सही है कि स्वतंत्रता से ही सरकार प्रशासन के लिए पुलिस पर निर्भर थी। वास्तव में एक ऐसा समय आया जब लोगों के लिए प्रशासन का मतलब प्रशासन से लिया जाने लगा। पुलिस सेवाएं इसमें सबसे आगे आती हैं, जब सभी अन्य सेवाएं हड़ताल पर होती हैं, यह पुलिस ही है जो प्रकाश में आती है। इसका परिणाम यह हुआ कि पुलिस प्रशिक्षण की संख्या तथा विविधताओं में बहुत प्रगति हुई। आज केंद्रीय पुलिस संगठन में असम राइफल्स, सीमा सुरक्षा बल (बी एस एफ), केन्द्रीय आरक्षित पुलिस बल (सी आर पी एफ), केन्द्रीय औद्यागिक सुरक्षा बल (सी आई एस एफ), रेपिड एक्शन फ़ोर्स (आर ए एफ) तथा इंडो तिब्बतन पुलिस फ़ोर्स (आई टी बी एफ) शामिल हैं।

इसके अलावा कई प्रकार के ब्यूरो भी हैं जैसे नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (एन सी आर बी) जिसके भीतर सेंट्रल फिंगर प्रिंट ब्यूरो है, ब्यूरो ऑफ पुलिस रिसर्च एंड डेवलपमेंट जो कि अनुसन्धान विकास तथा प्रशिक्षण को देखता है तथा विभिन्न सम्मेलनों, सिम्पोजिया तथा मीटिंग्स में भाग भी लेता है। भारत इंटरपोल के 13 सदस्यीय कार्यकारिणी समिति का सदस्य भी है।

- **भारतीय पुलिस सेवा** : यह मंत्रालय का भारतीय पुलिस सेवा के लिए पदक्रम नियंत्रण प्राधिकरण है। यह इन सेवाओं को देखता है जैसे आई पी एस की नियुक्ति, केंद्र में इनकी प्रतिनियुक्ति, प्रशिक्षण, वरिष्ठता का निर्धारण, वेतन आदि। इस मंत्रालय के पास अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए सुविकसित प्रशिक्षण कार्यक्रम है। इसमें सबसे प्रमुख सरदार वल्लभभाई पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी है जो हैदराबाद में स्थित है। यह आई पी एस अधिकारियों के लिए देश का सर्वोच्च प्रशिक्षण संस्थान है। इसके अलावा यह अकादमी प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी चलाता है जिसमें पुलिस उपाधीक्षक स्तर के अधिकारियों को प्रशिक्षित किया जाता है, जिन्हें राज्यों या केन्द्रीय पुलिस संगठनों के पुलिस प्रशिक्षण संस्थानों में नियुक्त किया जाता है। यह अकादमी विभिन्न वरीयताक्रमों के आई पी एस अधिकारियों के लिए लम्बवत परिचय पाठ्यक्रम भी चलता है

तथा पुलिस के विभिन्न पाठ्यक्रम से संबंधित विशेष पाठ्यक्रमों का संचालन भी करता है। 1989 से ही यह अकादमी आई पी एस अधिकारियों के प्रोबेशनरी प्रशिक्षण के लिए फाउंडेशन कोर्स भी चलाता है तथा आई पी एस के लिए परिचय पाठ्यक्रम भी चलाता है। इन सेवारत पाठ्यक्रमों में लगभग 500 आई पी एस अधिकारियों ने हिस्सा लिया है। इन घरेलू प्रशिक्षण कार्यक्रमों के अलावा पुलिस अधिकारियों को विशेष प्रशिक्षण के लिए बाहरी देशों जैसे यू के, यू एस ए, जापान, ऑस्ट्रेलिया, स्वीडन तथा कनाडा में भेजा जाता है।

- **राज्य पुलिस बल का आधुनिकीकरण** : आठवीं योजना के दौरान राज्य पुलिस बलों के आधुनिकीकरण की योजना को विस्तृत करने का निर्णय लिया गया। इसके लिए 1990–91 तथा 1991–92 के लिए 10 करोड़ रुपये आवंटित किए गए।

- **केन्द्रशासित प्रदेशों का प्रशासन** : केंद्र सरकार इस मामले में प्रदेशों की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार है। राष्ट्रपति इन प्रदेशों का प्रशासन (प्रशासक, अंडमान निकोबार में); चीफ कमिश्नर (चंडीगढ़ में) या लेफ्टिनेंट गवर्नर (पांडिचेरी में) के द्वारा करता है। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का इस्तेमाल गृह मंत्रालय के माध्यम से करता है।

- **राज्यों से संबंधित मामले** : केंद्र राज्य संबंध इसमें आते हैं।

- **लोक सुरक्षा** : लोक सुरक्षा का लक्ष्य बड़े आक्रमणों के समय जीवन की सुरक्षा, संपत्ति का कम से कम नुकसान तथा औद्योगिक उत्पादन को बनाए रखना है। यह मुख्य रूप से स्वायत्तता के आधार पर संगठित होता है। यह अपने रणनीतिक तथा बौद्धिक महत्व के आधार पर निश्चित जगहों, महत्वपूर्ण कारखानों तथा स्थापनों तक सीमित होता है। वर्तमान में ये क्रियाकलाप 110 शहरों जो कि 24 राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में स्थित हैं, में चल रहे हैं। होम गार्ड स्वयंसेवी बल संगठन है जिसे राज्य सरकार, केंद्र शासित प्रदेशों तथा गृह मंत्रालय द्वारा स्थापित नियमों तथा प्रतिमानों के अंतर्गत स्थापित किया गया है। यह एक ग्रामीण संगठन है तथा इसके सदस्य जीवन के सभी क्षेत्रों से आते हैं। अपने सामान्य कार्य को करते हुए होम गार्ड अधिकारियों के नहीं होने पर लोक प्रशासन तथा समुदायों को स्वैच्छिक रूप से अपनी सेवाएं उपलब्ध कराते हैं। बहुत सारे राज्यों में इन्हें पुलिस बल के एक भाग के रूप में इस्तेमाल किया जाता है तथा उन्हें सभी प्रकार के दायित्व दिए जाते हैं। वर्तमान में होम गार्ड की संख्या 4, 37, 837 है जिसमें बॉर्डर विंग भी शामिल है। यह मंत्रालय तीन स्तरों राष्ट्रीय, राज्यीय तथा स्थानीय स्तरों पर देश में लोक सुरक्षा प्रशिक्षण प्रदान करती है। नेशनल सिविल डिफेन्स कॉलेज नागपुर मंत्रालय की अधीनस्थ प्रशिक्षण निकाय है जो कि लोक सुरक्षा तथा आपदा राहत प्रबंधन में पाठ्यक्रम चलाती है। लोक सुरक्षा का दूसरा उदाहरण अग्निशमन सेवा है। गृह मंत्रालय इन सेवाओं के लिए मार्गदर्शन, प्रशिक्षण तथा सामान्य सहयोग प्रदान करता है

जिसका बंदोबस्त राज्य सरकार तथा केन्द्रशासित प्रदेश करते हैं। इस विषय में विशेष सन्दर्भ नेशनल फायर सर्विस कॉलेज, नागपुर का दिया जा सकता है। यह पूरे दक्षिण पूर्व एशिया में अपने प्रकार का एकमात्र कॉलेज है। यह अग्निशमन अधिकारियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम चलाता है। इसने अब तक 9,704 अग्निशमन अधिकारियों को प्रशिक्षित किया है जिसमें विदेश के व्यावसायिक पाठ्यक्रम के 71 अधिकारी भी शामिल थे तथा 195 लोग बी इ (फायर) पाठ्यक्रम में शामिल थे।

- **उच्च पदों पर नियुक्तियां** : यह मंत्रालय उच्च पदों पर नियुक्तियों से भी संबंधित है जैसे गवर्नर, लेफ्टिनेंट गवर्नर तथा अंतर्राज्यीय आयोग के चीफ कमिश्नर तथा सदस्य। यह अधिकारियों की सेवा शर्तों से भी संबंधित है। इसके अलावा राष्ट्रपति तथा गवर्नर्स की अनुपस्थिति में वेतन, भत्ते, अन्य सुविधाएं तथा अधिकार, मंत्री, राज्य मंत्री, उपमंत्री तथा केंद्र सरकार के संसदीय सचिवों के वेतन तथा भत्ते, इसके अधिकार क्षेत्र में आते हैं। यह राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति तथा पदमुक्ति के विषय में अधिसूचना जारी करता है। यह गृह सचिव होता है जो नए राष्ट्रपति के शपथ ग्रहण समारोह में राष्ट्रपति की नियुक्ति की अधिसूचना को पढ़ता है।
- **राजभाषा विभाग** : यह स्वतंत्रता के समय से ही विवाद का विषय रहा है। भारत विभिन्न भाषाओं का देश है जिन्हें देश के विभिन्न भागों में बोला जाता है जिनमें से अधिकतर भाषाओं का गौरवशाली इतिहास रहा है तथा इससे संबंधित कई साहित्य हैं जिसे कई विद्वान लेखकों ने लिखा है। मुख्य समस्या जो यहां दिखती है वह है निर्देशन माध्यम, ख़ासतौर पर उच्च स्तर पर। मुग़ल शासकों ने पर्शियन (फारसी) को अपनी दरबारी भाषा के रूप में मान्यता दी थी तथा बहुत सारे देशी राज्यों ने इसका अनुसरण किया। ब्रिटिश सरकार ने पर्शियन के स्थान पर इंग्लिश को स्वीकार किया। इस विदेशी कड़े आदेश को लोगों ने स्वीकार किया। हालांकि प्रजातांत्रिक सरकार के आते ही पूरा परिदृश्य बदल गया। आधिकारिक भाषा के मामले को राजनीतिक रंग दे दिया गया। हालांकि कुछ तथ्यों को स्वीकार किया गया। पहला, हिंदी एक ऐसी भाषा है जिसे बहुसंख्यकों द्वारा बोला जाता है एवं इसे एक कड़ी की तरह देखा जा सकता है। इस संबंध में आंकड़े सारगर्भित हैं। हिंदी एक बहुत बड़ा भाषाई वर्ग बनाती है। हिंदी 30.4 प्रतिशत लोगों द्वारा बोली जाती है। इसके बाद क्रमशः तेलुगु (8.6), बंगाली (7.7), मराठी (7.6) तथा तमिल (7) का स्थान है। दूसरा उच्च वर्ग जिसमें मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवी शामिल हैं ने इंग्लिश को अपने संचार की भाषा के रूप में स्वीकार किया है। इनकी संख्या बहुत सीमित है लेकिन उनका महत्व ज्यादा है। आज उनका मीडिया, विश्वविद्यालय, सम्मलेन, सिम्पोजिया, सेमिनार, प्रशासन विशेष निकायों में उच्च पदों आदि पर एकाधिकार है। यह आश्चर्यचकित करने वाली लेकिन सही बात है कि अंग्रेजी स्कूलों में प्रवेश के लिए होड़ लगी है। जो

लोग इस महंगी शिक्षा को लेने में सक्षम हैं वे इंग्लिश माध्यम स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते है। अंग्रेजी जानने तथा बोलने वाले लोगों को सामाजिक स्वीकृति भी मिलती है। संक्षेप में, शासक वर्ग के लिए इंग्लिश संचार का माध्यम रहा है तथा लगातार बना हुआ है। यह भी सत्य है कि इंग्लिश का स्तर स्पष्ट रूप से गिर रहा है। यह परिस्थिति विकट है तथा इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं दिखता है। भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण ने इस समस्या को और दुःसाध्य बना दिया है।

यह याद रखना चाहिए कि संविधान सभा में इस समस्या पर व्यापक वाद–विवाद हुआ था तथा एक छोटे बहुमत ने अनुच्छेद 343 को इसमें शामिल करने की स्वीकृति दी। संविधान का यह अनुच्छेद यह कहता है कि 'संघ की आधिकारक भाषा हिंदी होगी तथा लिपि देवनागरी होगी'। यह अनुच्छेद हालांकि यह भी कहता है कि संविधान निर्माण के समय से पंद्रह वर्षों तक अंग्रेजी संघ की आधिकारिक भाषा के रूप में प्रयोग की जाती रही जिसे इसकी शुरुआत से पहले इस्तेमाल किया जाता था। इसे बाद में एक अनिश्चित काल के लिए बढ़ाया गया। अनुच्छेद 345 राज्यों के विधानमंडल को यह अधिकार देता है कि वह अपने राज्य की भाषा को आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता दे सकता है। इस भाषा को एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के संबंध में संचार की भाषा के रूप में तथा राज्य एवं केंद्र के बीच संचार की भाषा के रूप में मान्यता दी जा सकती है (346)।

संविधान में आठवीं अनुसूची को भी शामिल किया गया है जिसमें वास्तविक रूप से बृहद 11 भाषाएं थीं जिसने कुछ निश्चित लाभ दिया है। इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि इस सूची में इंग्लिश शामिल नहीं है। 1976 में इस सूची में चार और भाषाएं जोड़ दी गयीं। 1992 में इसमें तीन भाषाएं जोड़ी गयीं। यह बात जानना रुचिकर है कि अप्रैल 1960 तथा जुलाई 1992 के बीच 56 निजी सदस्य बिलों को संसद में भाषाओं की स्वीकृति के लिए पेश किया गया। ये मांगें वास्तव में इस सूची में शामिल करने के लाभ को ढूंढती थी। ऑफिसियल गजट में इसके लाभों की सूची है। भाषाएं माध्यमिक विद्यालय स्तर पर संचार का माध्यम होती हैं। मुद्रा शीर्षक को सभी आधिकारिक भाषाओं में छापा जाता है। केन्द्रीय विधानों को इन भाषाओं में उपलब्ध कराया जाता है। यू पी एस सी भी इन भाषाओं में उत्तरों को स्वीकार करती है। इसे आयोग में आधिकारिक भाषाओं में ही पेश किया जाता है। यह आयोग हालांकि कहता है कि आठवीं अनुसूची में शामिल होने से ही कोई लाभ या वांछनीयता नहीं प्राप्त होती तथा इसने अन्य को भी इस सूची में शामिल होने में बाधा डाली है।

चूंकि मंत्रालय के पास अलग भाषाई विभाग है जिसका कार्य संघ की भाषा के रूप में हिंदी का विकास देखना है, जिसमें शामिल है केन्द्रीय कर्मचारियों को हिंदी प्रशिक्षण देना, पत्रिकाओं, जर्नल्स तथा अन्य साहित्य में हिंदी का प्रयोग करना।

- **विविध** : इस शीर्षक के अंतर्गत विभिन्न प्रकार्य आते हैं जैसे राष्ट्रपति तथा उप राष्ट्रपति के चुनाव से संबंधित अधिसूचना, क्षमादान देना, स्थगन, परिहार, मृत्यु दंड का परिहार या रूपांतरण, जनगणना, चुनाव, नागरिकता, अप्रवास, लॉटरी, पुनः प्रतिष्ठा, राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों मे विशेष विकासात्मक क्रियाकलाप, मंत्रियों तथा विधायकों के लिए आचार संहिता से संबंधित मुद्दे, विदेशियों को वीजा निर्गत करना, आधिकारिक पहनावा आदि।

अपनी प्रगति जांचिए

9. प्रधानमंत्री सचिवालय कब अस्तित्व में आया?

   (क) 15 अगस्त, 1947 को　　(ख) 14 अगस्त, 1947 को

   (ग) 26 जनवरी, 1948 को　　(घ) 2 अक्टूबर, 1947 को

10. पी.एम.ओ. की अध्यक्षता किसका सचिव करता है?

    (क) राष्ट्रपति का　　(ख) उपराष्ट्रपति का

    (ग) विदेश मंत्री का　　(घ) प्रधानमंत्री का

2.7 कैबिनेट सचिवालय और कैबिनेट सचिव की भूमिका

कैबिनेट सचिवालय

कैबिनेट सचिवालय केंद्र सरकार के संगठन का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसका प्रभार एक मंत्री के पास होता है लेकिन इस विभाग का प्रधान सचिव होता है। कैबिनेट सेक्रेटरी का पद 1950 में बनाया गया तथा एन आर पिल्लई इसके पहले अध्यक्ष थे। कैबिनेट सेक्रेटरी विभाग की नीतियों तथा सभी क्रियाकलापों के क्रियान्वयन में मंत्री का प्रमुख सलाहकार होता है। सचिव सचिवालय में बैठता है। सचिव भारतीय संविधान के अन्दर सभी लोक सेवा का प्रधान होता है। भारत में सरकार के अन्दर पोर्टफोलियो सिस्टम को अपनाने से पहले सरकार के सभी कार्यों को परिषद में गवर्नर जनरल द्वारा देखा जाता था। सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा से संबंधित होता है। वह नियुक्त होने वाला सबसे वरिष्ठ लोक सेवक होता है। कैबिनेट सेक्रेटरी सम्पूर्ण कार्यकारी निकाय पर पकड़ रखता है तथा कैबिनेट तथा कार्यकारी निकायों के बीच आवश्यक सूत्र के रुप में कार्य करता है। सचिव सभी प्रासंगिक तथ्यों को मंत्री के सामने रखता है ताकि अनौपचारिक कदम बाद में उठाया जा सके। यह उसका कर्तव्य है कि वह नीतियों एवं प्रक्रियाओं के विषय में मंत्री को सलाह दे, आगाह करे, प्रेरित करे तथा विवरण दे। सचिव के पास विभाग के प्रशासन को सक्षमतापूर्वक तथा सावधानी से चलाने की जिम्मेदारी होती है। अंत में, यह संसद की लोक लेखा समितियों के समक्ष अपने विभाग का प्रतिनिधित्व करता है।

मंत्रालय अपने उत्तरदायित्व के क्षेत्र में नीतियों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है साथ ही उन नीतियों के क्रियान्वयन के लिए भी। मंत्रालय दो भागों में विभाजित

होता है जिसमें दो अलग प्रकार के कर्मचारी कार्य करते हैं (क) अधिकारी वर्ग तथा (ख) अधीनस्थ वर्ग।

- विभाग : सचिव, अतिरिक्त विशेष सचिव
- शाखा : संयुक्त तथा अतिरिक्त सचिव
- विभाग : उपसचिव
- अनुभाग : अनुभाग अधिकारी

अधिकारी वर्ग मंत्रालय के विभाग, शाखा, खंड, का निर्माण करते हैं। संयुक्त या अतिरिक्त सचिव विभाग की एक शाखा से संबंधित होते हैं जो कि अपने अन्दर आने वाले मामलों के विषय में सीधा मंत्री से सलाह करते हैं। वे अपनी प्रस्थिति के द्वारा जो कि कमोबेश सचिव स्तर से मिलती–जुलती है सचिव के कार्यों को हल्का करते हैं।

अधिकारी वर्ग मुख्य रूप से भारतीय प्रशासनिक सेवा से संबंधित होते हैं जिनकी भर्ती केंद्र सरकार द्वारा विभिन्न राज्यों के आई ए एस कैडर से की जाती है। उनके कार्यकाल की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

- भारत सरकार के सचिवों की भर्ती प्रत्यक्ष नहीं होनी चाहिए बल्कि राज्यों में सेवारत अधिकारियों में से होनी चाहिए।
- केन्द्रीय सचिवालय में पदों का कालक्रम तथा राज्यों के पदों के कालक्रम में नियमित अदला–बदली होनी चाहिए।

इस व्यवस्था में अधिकारी जो कि नीति निर्माण में संलग्न हैं उन्हें उन परिस्थितियों के विषय में प्राथमिक ज्ञान होता है जिसके अन्दर नीतियों का क्रियान्वयन होता है। इसके फलस्वरूप नीति निर्माण वास्तविक हो जाता है। इस कालक्रम व्यवस्था का क्षेत्र हालांकि सीमित है क्योंकि बहुत सारे विभागों का अपना अलग कार्य होता है। उदहारण स्वरूप, भारतीय विदेश मंत्रालय अपने अधिकारियों को भारतीय विशेष सेवा से लेता है। इस वर्ग में नियुक्तियों का एक स्रोत केन्द्रीय सचिवालय सेवा है जिसकी स्थपाना 1950 में की गयी थी।

सचिवालय की सबसे छोटी इकाई का प्रभार सेक्शन ऑफिसर के हाथों में होता है। यह इकाई विभिन्न सहायकों, क्लर्कों, ड्राफ्टरिस, टाइपिस्ट तथा चपरासियों से मिलकर बनी होती है। यहां लोअर डिवीज़न क्लर्क की नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा होती है तथा अपर डिवीज़न क्लर्क की नियुक्ति लोअर डिवीज़न से पदोन्नति द्वारा की जाती है।

सचिवालय के अधिकारियों के निम्नलिखित कर्तव्य होते हैं–

- सचिव विभाग का प्रशासनिक प्रधान होता है। यह लोक लेखाओं पर संसदीय समितियों से पहले, नीति तथा प्रशासन के सभी मामलों पर मंत्री का प्रमुख सलाहकार होता है।
- सचिव के बाद अतिरिक्त सचिव होता है। इसे सचिव के भार को हल्का करने के लिए नियुक्त किया जाता है।

- यदि मंत्रालय के पास एक से अधिक शाखाओं का कार्य एकसाथ बड़ी मात्रा में आ जाता है तो संयुक्त सचिव को उसके अन्दर आने वाले कार्यों के अलावा अधिक स्वतंत्र कार्य तथा उत्तरदायित्व दिया जाता है।
- उप सचिव वह होता है जो कि सचिव के बदले में कार्य करता है। वह एक सचिवालय प्रभाग का कार्य देखता है तथा अपने प्रभार के अंतर्गत आने वाले सरकारी कार्यों के निपटारे के लिए जिम्मेदार होता है।
- अनुभाग सचिव मंत्रालय की एक शाखा का प्रभारी होता है एवं विषयों के निपटारे तथा प्रबंधन दोनों को नियंत्रित करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

11. कैबिनेट सेक्रेटरी का पद कब बनाया गया था?

(क) 1949 में
(ख) 1950 में
(ग) 1948 में
(घ) 1951 में

12. अपने उत्तरदायित्व के क्षेत्र में नीतियों के निर्माण के लिए कौन उत्तरदायी होता है?

(क) मंत्रालय
(ख) सचिव
(ग) उपसचिव
(घ) संयुक्त सचिव

2.8 केंद्रीय सचिवालय

केंद्रीय सचिवालय एक ऐसा संगठन है, जो सरकार को उसके उत्तरदायित्व निभाने में सहायक होता है। सचिवालय की कुशल प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है– पहली, यह कि यह मंत्रियों को सरकारी नीति–निर्माण में सहायता करता है। दूसरी, यह कि सरकार एक व्यापक कार्यक्रम के आधार पर सत्ता में आती है, जिनका वचन उन्होंने चुनाव के समय जनता को दिया था। इन व्यापक कार्यक्रमों को कार्य योग्य बनाने के लिए इन्हें वास्तविक रूप देना पड़ता है। इसके अलावा मंत्रियों को ऐसे विषयों व ऐसी समस्याओं के संबंध में वे नीतियां भी बनानी पड़ती हैं, जिनका घोषणा पत्र में कहीं भी आभास भी नहीं था। नीति–निर्माण के पूर्व पर्याप्त आंकड़े तथा अन्य सूचनाएं आवश्यक होती हैं। सचिवालय इन्हें उपलब्ध कराता है और मंत्रियों को उनके व्यवस्थापन कार्य में सहायता भी प्रदान करता है। साथ ही सचिवालय विधेयकों के मसौदों को भी तैयार करता है, संसदीय प्रश्नों के लिए जरूरी सूचना एकत्रित करता है। तीसरी, यह कि सचिवालय एक संस्थागत स्मृति भंडार है, जिसकी सहायता में सरकार उभरती हुई समस्याओं का विश्लेषण पूर्व दृष्टांत और भूतकालीन प्रथाओं के प्रकाश में करती है। इस प्रकार का परीक्षण आत्मनिष्ठा, निरंतरता और समरसता के लिए आवश्यक होता है। चौथी, यह एक समस्या की विस्तारपूर्वक जांच करने के लिए इस पर एक सर्वग्राही व पूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध कराती है। पांचवीं, यह राज्यों के बीच विभिन्न अभिकरणों

जैसे–योजना आयोग, वित्त आयोग के बीच संचार का माध्यम है। सचिवालय यह भी देखता है कि क्षेत्रीय कार्यालय सरकार की नीतियों और निर्णयों को कुशलतापूर्वक एवं मितव्ययता को साथ लागू करते हैं या नहीं। इस तरह यह स्पष्ट है कि सचिवालय प्रशासन के लिए एक आवश्यक संस्था है। यह सरकार का वास्तव में महत्वपूर्ण केंद्र है।

केंद्रीय सचिवालय का संगठन

केंद्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग हैं, जिनकी संख्या घटती–बढ़ती रहती है। मंत्रालय विभाग में, विभाग प्रभाग में, प्रभाग शाखा में और शाखा अनुभागों में विभक्त हैं। मंत्रालय विभाग का प्रशासकीय अध्यक्ष सचिव होता है। प्रत्येक उपविभाग का प्रमुख अधिकारी संयुक्त अथवा अतिरिक्त सचिव होता है। उपविभाग सामान्यतः दो प्रभागों में विभक्त होता है, जिसके अधिकारी उपसचिव होते हैं। प्रत्येक उप विभाग में सामान्यतः दो शाखाएं होती हैं। शाखा का अधिकारी अवर सचिव कहलाता है। एक शाखा में सामान्यतः दो अनुभाग होते हैं। अनुभाग का प्रमुख अनुभाग अधिकारी कहलाता है। प्रत्येक अनुभाग में सहायक लिपिक, टंकणकर्ता आदि कर्मचारी होते हैं। मंत्रालय अपने विभाग से संबंधित कार्यों को संपन्न करता है और नीतियों का निर्माण करता है।

सचिवालय का आंतरिक संगठन इस प्रकार होता है–

विभाग – सचिव/अतिरिक्त/विशेष सचिव
उपविभाग – संयुक्त/अतिरिक्त सचिव
प्रभाग – निदेशक/उपसचिव
शाखा – अवर सचिव
सेक्शन – सेक्शन अधिकारी

केंद्रीय सचिवालय में दो प्रकार के कर्मचारी कार्य करते हैं–

1. अधिकारी वर्ग
2. अधीनस्थ वर्ग

पहले वर्ग में सचिव, उपसचिव और अवर सचिव आते हैं। यदि विभाग बड़ा है तो संयुक्त सचिव या अतिरिक्त सचिव भी होते हैं, जिन्हें विभाग के किसी भी भाग का कार्य सौंपा जाता है। वे अपने क्षेत्र में आने वाले सभी विषयों के संबंध में मंत्री से सीधा संपर्क रखते हैं। संयुक्त या अतिरिक्त सचिव का स्तर लगभग सचिव के स्तर के समान होता है। वे कार्यभार से सचिव का बोझ कम करते हैं। अधिकारी वर्ग में देखा जाता है कि वे भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केंद्र सरकार द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक सेवा श्रेणियों में से कार्यकाल पद्धति के अंतर्गत की जाती है। इस प्रणाली का शुभारंभ लार्ड कर्जन ने 1905 में किया था। कार्यकाल पद्धति के मुख्य लक्षण हैं–पहला, भारत सरकार के सचिवालय में कर्मचारियों की भर्ती सीधे न होकर प्रांतों में सेवारत अधिकारियों में से होनी चाहिए। दूसरा, केंद्रीय सचिवालय के कार्यकाल तथा राज्यों में उस पद के कार्यकाल के बीच के नियमित अंतर बना रहना चाहिए। इस व्यवस्था के अंतर्गत नीति निर्धारण में संलग्न

अधिकारियों को उन परिस्थितियों का सर्वोत्तम ज्ञान होता है, जिनके अधीन नीतियां लागू की जाती हैं। नीति निर्धारण यथार्थ के अधिक निकट रहता है फिर भी कार्यकाल पद्धति का क्षेत्र सीमित है क्योंकि कुल विभागों की अपनी पृथक सेवाएं होती हैं, जैसे–विदेश मंत्रालय भारतीय विदेश सेवा में से ही अपने अधिकारियों की भर्ती करता है। इस वर्ग में भर्ती के दूसरे स्रोत केंद्रीय सचिवालीन सेवा के अधिकारियों को मंत्रालयों/विभागों से इस लिए जोड़ा जाता है ताकि सचिवालयीय कार्यों में निरंतरता बनी रहे। 1957 से केंद्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु केंद्रीय स्टाफिंग योजना शुरू की गई है। इस योजना के अंतर्गत उपसचिव और उसके ऊपर के पदों को भरने का तरीका शामिल है।

विशेष सचिव

स्वतंत्रता के उपरांत सत्ता के नये स्तर स्थापित करने के फलस्वरूप मौलिक सोपान में व्यवधान उत्पन्न हुआ है। इसका उसकी एकता, कुशलता और प्रभावशीलता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। विशेष सचिव का पद इस व्यवधान का अच्छा उदाहरण है। 1951 में सबसे पहले कृषि मंत्रालय में विशेष सचिव की नियुक्ति की गई थी। वह वेतन, पद तथा सत्ता में सचिव के समकक्ष था। यह पद अपने आप में अद्वितीय था, जिसकी स्थापना के न तो कोई सिद्धांत थे और न ही सचिव के साथ उसके मामलों का वर्णन। आगे चलकर अन्य मंत्रालयों में भी विशेष सचिव के पद की स्थापना की गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पद की स्थापना के निश्चित नियम नहीं है। आज केंद्रीय सरकार के साथ–साथ राज्य सचिवालय में भी विशेष सचिव के पद विद्यमान हैं।

अतिरिक्त सचिव

प्रारंभ में सचिव के बाद प्रशासनिक पदसोपान में उपसचिव का स्थान होता है था लेकिन संयुक्त और अतिरिक्त सचिव के पद की स्थापना से पदसोपान की वरिष्ठता सूची में अंतर आया है। प्रशासनिक सुधार संबंधी अधिकांश समितियों ने इस पद की समाप्ति या उनके पदों में कमी करने की अनुशंसा की। लेकिन इसके बाद भी यह पद आज तक अस्तित्व में है। इस पद के गठन का मकसद सचिव के कार्यभार में सहायता करना था। लेकिन आगे चलकर संयुक्त सचिव का पदोन्नति के रूप में उपयोग होने लगा और उसके पद और वेतन में बढ़ोत्तरी भी हुई। अतिरिक्त सचिव किस प्रशासनिक इकाई में कार्य करेंगे, यह निश्चित नहीं है। कभी–कभी वह विभाग के प्रभारी के रूप में सचिव के कार्यों को करता है, तो कभी विभाग की एक शाखा में संयुक्त सचिव के रूप में कार्य करता है, तो कभी विशिष्ट कार्यों में सचिव के सहायक के रूप में कार्य करता है। आज स्थिति यह है कि सचिवालय के पद सोपान में उसका स्थान सुनिश्चित है। बड़े मंत्रालयों में अतिरिक्त सचिव, सचिव के कार्यों में महत्वपूर्ण परामर्श और सहायता प्रदान करता है।

संयुक्त सचिव

जब किसी मंत्रालय का काम ज्यादा बढ़ जाता है और सचिव कार्य के बोझ से दबा रहता है, तब उसके कार्य में सहायता के लिए एक या अधिक शाखाओं की स्थापना की जाती

है। संयुक्त सचिव स्वतंत्र रूप से शाखाओं का प्रमुख होता है और वह सौंपे गए कार्यों को पूरा करने में सक्षम होता है। प्रशासनिक सुविधा के नजरिये से यह उचित प्रतीत होता है।

टिप्पणी

निदेशक

यह पद अपेक्षाकृत नवीन है तथा इसकी स्थापना 1960 में हुई। जहां तक उत्तरदायित्व का सवाल है, यह उपसचिव के समक्ष होता है।

उपसचिव

यह सचिव की ओर से काम करता है। सचिवालय में उपसचिव का महत्व होता है और वह एक प्रभाग का प्रभारी होता है। इससे संबंधित कार्यों के प्रति वह जवाबदेह होता है। संयुक्त सचिव और अतिरिक्त सचिवों के कारण इस पद की गरिमा में कमी हुई है।

अवर सचिव

यह मंत्रालय की एक शाखा का समन्वयक होता है और अपने कार्यक्षेत्र में अनुशासन बनाये रखने के लिये उत्तरदायी होता है। छोटे–छोटे मामलों को यह खुद निपटाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. किसकी कुशल प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है?

(क) सदन की	(ख) सचिवालय की
(ग) राजा की	(घ) वजीर की

14. कृषि मंत्रालय में विशेष सचिव की नियुक्ति सबसे पहले कब की गई थी?

(क) 1950 में	(ख) 1951 में
(ग) 1960 में	(घ) 1952 में

2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (क)
3. (ख)
4. (ग)
5. (क)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)
9. (क)

10. (घ)
11. (ख)
12. (क)
13. (ख)
14. (ख)

2.10 सारांश

भारतीय संघ में कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा गया है। भारत में ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका का एक वैधानिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उसकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के बजाय ब्रिटिश सम्राट जैसी होती है। राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रथम नागरिक होता है। हमारी संवैधानिक व्यवस्था में यह एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था तथा वैधानिक आवश्यकता है।

भारतीय संघ के राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के भीतर रिक्त हो जाए तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का चुनाव पुनः 5 वर्ष के लिए ही होगा। राष्ट्रपति का पद रिक्त होने की तिथि से किसी भी दशा में छः माह पूरे होने से पहले भरा जाना चाहिए। पदावधि समाप्त हो जाने के उपरान्त भी राष्ट्रपति अपने उत्तराधिकारी के पदारूढ़ होने तक पदासीन रहेंगे।

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री के पद के बारे में संक्षेप में ही वर्णन मिलता है। अनुच्छेद 74, 75 और 78 में प्रधानमंत्री के बारे में उल्लेख किया गया है। परम्परा के आधार पर भारत में प्रधानमंत्री का पद ब्रिटेन की परम्परा पर आधारित है लेकिन भारत में प्रधानमंत्री के पद को संविधान मान्यता देता है। भारतीय राजनीति में प्रधानमंत्री के पद का राजनीतिक रुतबा तथा कद हमेशा ही ऊंचा रहा है। संविधान के तीनों अनुच्छेद प्रधानमंत्री की नियुक्ति, उसकी कार्य प्रणाली और उसके कर्तव्य निश्चित कर देते हैं। अनुच्छेद 74 के अनुसार, "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता के लिए तथा परामर्श हेतु एक मंत्रिपरिषद की जरूरत होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" अनुच्छेद 75 के अनुसार "प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और वह प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा।" अनुच्छेद 78 राष्ट्रपति के साथ मिलकर कार्य करने के संबंध में प्रधानमंत्री के कर्तव्यों के बारे में इंगित करता है।

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी है तथा वास्तविक रूप मे कार्यपालिका की शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित होती है। प्रशासन के सभी कार्यों अर्थात सरकार के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर मंत्रिपरिषद करती है। संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेख है कि

"राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।"

किसी सरकार के उच्चस्तरीय नेताओं के समूह को कैबिनेट कहते हैं। प्रायः उन्हें 'मंत्री' (मिनिस्टर) कहा जाता है किन्तु कहीं–कहीं उन्हें 'सेक्रेटरी' भी कहा जाता है। कैबिनेट, इंग्लैंड की शासन व्यवस्था से विकसित शासन–व्यवस्था का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण अंग है। इसका प्रचलन प्रायः उन सभी देशों में है जो ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य हैं। कुछ अन्य देशों में भी यह व्यवस्था प्रचलित है। भारत के केंद्रीय एवं प्रादेशिक शासन का भी यह अंग है।

प्रधानमंत्री सचिवालय 15 अगस्त 1947 को अस्तित्व में आया जब भारत स्वतंत्र हुआ। जून 1977 तक यह प्रधानमंत्री दफ्तर के नाम से जाना जाता था। सचिवालय को त्वरित उद्देश्य के लिए बनाया गया तब तक के लिए, जब तक प्रधानमंत्री गवर्नर जनरल के सचिव द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों को जिसे सरकार के एक कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में गवर्नर जनरल स्वतंत्रता के पहले करता था, पूरी तरह से न ग्रहण कर ले। यह अतिरिक्त संविधानिक संस्थान है जिसका भारतीय संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। हालांकि इसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एलोकेशन ऑफ बिज़नस रूल्स 1961 के अंतर्गत एक विभाग का रूप दिया गया है।

कैबिनेट सचिवालय केंद्र सरकार के संगठन का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसका प्रभार एक मंत्री के पास होता है लेकिन इस विभाग का प्रधान सचिव होता है। कैबिनेट सेक्रेटरी का पद 1950 में बनाया गया तथा एन आर पिल्लई इसके पहले अध्यक्ष थे। कैबिनेट सेक्रेटरी विभाग की नीतियों तथा सभी क्रियाकलापों के क्रियान्वयन में मंत्री का प्रमुख सलाहकार होता है। सचिव सचिवालय में बैठता है। सचिव भारतीय संविधान के अन्दर सभी लोक सेवा का प्रधान होता है। भारत में सरकार के अन्दर पोर्टफोलियो सिस्टम को अपनाने से पहले सरकार के सभी कार्यों को परिषद में गवर्नर जनरल द्वारा देखा जाता था। सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा से संबंधित होता है। वह नियुक्त होने वाला सबसे वरिष्ठ लोक सेवक होता है। कैबिनेट सेक्रेटरी सम्पूर्ण कार्यकारी निकाय पर पकड़ रखता है तथा कैबिनेट तथा कार्यकारी निकायों के बीच आवश्यक सूत्र के रुप में कार्य करता है।

केंद्रीय सचिवालय एक ऐसा संगठन है, जो सरकार को उसके उत्तरदायित्व निभाने में सहायक होता है। सचिवालय की कुशल प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है– पहली, यह कि यह मंत्रियों को सरकारी नीति–निर्माण में सहायता करता है। दूसरी, यह कि सरकार एक व्यापक कार्यक्रम के आधार पर सत्ता में आती है, जिनका वचन उन्होंने चुनाव के समय जनता को दिया था। इन व्यापक कार्यक्रमों को कार्य योग्य बनाने के लिए इन्हें वास्तविक रूप देना पड़ता है। इसके अलावा मंत्रियों को ऐसे विषयों व ऐसी समस्याओं के संबंध में वे नीतियां भी बनानी पड़ती हैं, जिनका घोषणा पत्र में कहीं भी आभास भी नहीं था। नीति–निर्माण के पूर्व पर्याप्त आंकड़े तथा अन्य

सूचनाएं आवश्यक होती हैं। सचिवालय इन्हें उपलब्ध कराता है और मंत्रियों को उनके व्यवस्थापन कार्य में सहायता भी प्रदान करता है। साथ ही सचिवालय विधेयकों के मसौदों को भी तैयार करता है, संसदीय प्रश्नों के लिए जरूरी सूचना एकत्रित करता है। तीसरी, यह कि सचिवालय एक संस्थागत स्मृति भंडार है, जिसकी सहायता में सरकार उभरती हुई समस्याओं का विश्लेषण पूर्व दृष्टांत और भूतकालीन प्रथाओं के प्रकाश में करती है। इस प्रकार का परीक्षण आत्मनिष्ठा, निरंतरता और समरसता के लिए आवश्यक होता है। चौथी, यह एक समस्या की विस्तारपूर्वक जांच करने के लिए इस पर एक सर्वग्राही व पूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध कराती है। पांचवी, यह राज्यों के बीच विभिन्न अभिकरणों जैसे–योजना आयोग, वित्त आयोग के बीच संचार का माध्यम है। सचिवालय यह भी देखता है कि क्षेत्रीय कार्यालय सरकार की नीतियों और निर्णयों को कुशलतापूर्वक एवं मितव्ययता को साथ लागू करते हैं या नहीं। इस तरह यह स्पष्ट है कि सचिवालय प्रशासन के लिए एक आवश्यक संस्था है। यह सरकार का वास्तव में महत्वपूर्ण केंद्र है।

2.11 मुख्य शब्दावली

- **उन्मुक्ति** : किसी कर्तव्य के पालन या रोग के आक्रमण की संभावना आदि से मुक्ति, विमुक्ति।
- **निरत** : लगा हुआ, तत्पर, लीन, प्रसन्न।
- **कतिपय** : कई, कुछ।
- **उपबंध** : संबंध, संयोग।
- **निकाय** : समूह, समुदाय।
- **उड्डयन** : उड़ना।
- **स्मृति** : स्मरण, याद।
- **दृष्टांत** : उदाहरण, मिसाल।

2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार की आयु सीमा क्या निर्धारित की गई है?
2. 1946 में प्रधानमंत्री पद के दावेदर कौन थे?
3. भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार सैद्धांतिक रूप से समस्त कार्यपालिका शक्ति किसमें निहित मानी गई है?
4. एक कैबिनेट समिति में कितने लोग होते हैं?
5. कैबिनेट सेक्रेटरी का क्या दायित्व होता है?

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति की विवेचना कीजिए और राष्ट्रपति की शक्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. भारतीय प्रधानमंत्री की विविध रूपों में भूमिका, उसकी शक्तियों तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए।
3. मंत्रिपरिषद के गठन की समीक्षा कीजिए तथा मंत्रिमंडल एवं मंत्रिपरिषद के अंतर को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रधानमंत्री कार्यालय व उसके कार्यों की समीक्षा कीजिए।
5. केंद्रीय सचिवालय के संगठन की व्याख्या कीजिए।

2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. एस. आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
2. डॉ. एस. सी. सिंघल, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय शासन एवं गजनीलि लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
4. मोहित भट्घ्टाचार्य, लोक प्रशासन के नये आयाम जवाहर बुक सेंटर।
5. भारत 2015, पब्लिकेशन डिवीजन।

इकाई 3 राज्य

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 राज्यपाल
3.3 मुख्यमंत्री
3.4 विभागाध्यक्ष और सचिवालय के साथ उनके संबंध
3.5 कैबिनेट समितियों के कार्य
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

भारत के संविधान में केंद्र और राज्यों में संसदीय शासन की व्यवस्था लागू की गई है। भारत के राज्यों में राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री का अस्तित्व बहुत महत्वपूर्ण होता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है तथा वह राष्ट्रपति की इच्छा के अनुसार अपने पद पर बना रहता है। यद्यपि राज्यपाल का कार्यकाल पांच साल नियत किया गया है, तथापि राष्ट्रपति उसे चाहे तो पांच वर्ष की अवधि पूरी होने से पूर्व ही बर्खास्त कर सकता है। राज्यपाल का पद राज्य की संसदीय व्यवस्था के लिए अनिवार्य संवैधानिक आवश्यकता है।

राज्य का मुख्यमंत्री राज्य सरकार से संबद्ध वे सभी दायित्व निभाता है, जो केंद्रीय सरकार के मामले में प्रधानमंत्री निभाता है। अगर विधानसभा में किसी दल या मोर्चे को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है, तो उसी दल अथवा मोर्चे के नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। लेकिन यदि दलीय स्थिति स्पष्ट न हो और किसी भी दल को पूर्ण बहुमत न मिले, तो मुख्यमंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।

प्रस्तुत इकाई में मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल की शक्तियों, कार्यों व अधिकारों के अलावा विभागध्यक्ष तथा सचिवालय से उनके संबंधों और कैबिनेट समितियों के कार्यों का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राज्यपाल तथा उसके कार्यों के बारे में जान पाएंगे;
- मुख्यमंत्री तथा उसके अधिकारों व कर्तव्यों के बारे में जान पाएंगे;

- विभागाध्यक्ष तथा सचिवालय के साथ उनके संबंध को समझ पाएंगे;
- कैबिनेट समितियों के कार्यों को समझ पाएंगे।

टिप्पणी

3.2 राज्यपाल

हमारे संविधान में केंद्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था है। राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष है तथा मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिमंडल की सलाह पर कार्य करता है। राष्ट्रपति उसकी नियुक्ति पांच वर्ष के लिए करते हैं तथा उनकी इच्छा रहने तक वह अपने पद पर रहता है। कार्यकाल की समाप्ति पर उसे पुनः उसी राज्य का या किसी दूसरे राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है।

संविधान के अनुसार राज्यपाल की बहुत सी कार्यकारिणी, विधायी तथा आपातकालीन शक्तियां हैं। उदाहरण के लिए मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह मुख्यमंत्री की सलाह पर करता है। वह अन्य बहुत सी नियुक्तियां भी करता है, जैसे– राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य, एडवोकेट जनरल, वरिष्ठ लेखा सेवक आदि की नियुक्तियां। वास्तव में राज्य का समस्त कार्यकारिणी कार्य उसके नाम से किया जाता है।

राज्यपाल राज्य विधानमंडल का अंग होता है। उसे विधान मंडल को संबोधित करने, संदेश भेजने, विधानमंडल के अधिवेशन बुलाने तथा उसे स्थगित करने और निम्न सदन को भंग करने का अधिकार है। किसी विधेयक को कानून बनने से पहले राज्यपाल की स्वीकृति मिलना आवश्यक है। वह विधान मंडल द्वारा पारित विधेयक से अपनी स्वीकृति रोक सकता है तथा उसे उसके पास पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है। यदि विधानमंडल विधेयक संशोधन या उसके बिना पुनः पारित करता है, तब राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है। वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। जब विधानमंडल का अधिवेशन न हो रहा हो तो राज्यपाल आदेश जारी कर सकता है।

राज्यपाल को किसी व्यक्ति को उसके द्वारा किसी कानून के उल्लंघन के अपराध के लिए क्षमादान करने, सजा को कम करने या स्थगित करने का अधिकार है। जहां तक राज्यपाल की आपातकालीन शक्तियों का संबंध हैं, जब कभी राज्यपाल को यह संतुष्टि हो जाए कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, तो वह इसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेज सकता है। ऐसी रिपोर्ट मिलने पर राष्ट्रपति राज्य सरकार की शक्तियां अपने हाथों मे ले सकता है तथा राज्य विधान मंडल की शक्तियों को संसद के लिए सुरक्षित कर सकता है (अनुच्छेद 356)।

राज्यपाल द्वारा स्व–विधेयक का प्रयोग

यह पहले ही बताया जा चुका है कि राज्यपाल अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह पर करता है, इसलिए जब तक विधानसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त स्थायी मंत्रिमंडल होता है, उसे अपनी शक्तियों के प्रयोग में स्वविवेक का प्रयोग नहीं करना पड़ता। परंतु हमेशा ऐसा नहीं होता है। उस समय राज्यपाल अपने स्वविवेक का

प्रयोग कर सकता है। इस स्वविवेक के प्रयोग ने ही राज्यपाल को देश का सबसे अधिक विवादास्पद संवैधानिक पद बना दिया है। मुख्य विवाद निम्न प्रकार के मामलों में पैदा हुआ है–

टिप्पणी

1. **मुख्यमंत्री की नियुक्ति**–राज्यपाल, मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसकी सलाह पर मंत्रिपरिषद की नियुक्ति करता है। जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो उसके नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करने तथा उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं होता। समस्या उस समय उत्पन्न होती है, जब किसी भी दल को विधानमंडल में बहुमत प्राप्त नहीं होता। यहां राज्यपाल के स्वविवेक का कार्य प्रारंभ होता है। उदाहरण के लिए, 1952 में कांग्रेस दल मद्रास विधानमंडल में सबसे बड़ा एकल दल था, परंतु उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था। तब राज्यपाल श्री प्रकाश ने सबसे बड़े एकल दल के नेता सी. राजगोपालचारी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। परंतु यह सिद्धांत 1970 में पश्चिम बंगाल में नहीं अपनाया गया। ज्योति बसु के नेतृत्व वाली भारतीय मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी सबसे बड़ा एकल दल था। राज्यपाल एस.एस. धवन ने ज्योति बसु को अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा। बसु ने विधानसभा का अधिवेशन बुलाने तथा सदन के पटल पर बहुमत सिद्ध करने पर जोर डाला। राज्यपाल ने अंत में उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया। कांग्रेस–विरोधियों का कहना है कि ऐसा केंद्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस सरकार के कहने पर किया गया था। इस प्रकार एक जैसी परिस्थितियों में भी विभिन्न राज्यपालों ने भिन्न आधारों पर भिन्न मानदंड अपनाए।
2. **मंत्रिमंडल को अपदस्थ करना**–मुख्यमंत्री तथा उसके कार्यकारी राज्यपाल की इच्छा रहने तक पद पर रहते हैं, जिसकी कोई छानबीन नहीं हो सकती। परंतु राज्यपाल को अपने स्वविवेक का प्रयोग सूझबूझ से करना होता है। आम धारणा यह है कि राज्यपालों ने ऐसा किया नहीं है। उदाहरण के लिए, 1967 में पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री गुरनाम सिंह ने राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की सलाह दी। उनकी राय राज्यपाल द्वारा इस आधार पर अस्वीकार कर दी गई कि जब तक वैकल्पिक सरकार बनाना संभव हो, तक तक विधानसभा को भंग नहीं किया जाना चाहिए। वही बात 1968 में हुई, जब चरण सिंह ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की सलाह दी परंतु राज्यपाल ने सलाह इस आधार पर अस्वीकार नहीं की कि सत्तारूढ़ दल ने बहुमत खो दिया। विरोधी दलों ने आरोप लगाया कि ऐसा राज्यपालों ने केंद्र सरकार की इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए किया था।
3. **आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग**–यह आलोचना की गई कि अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यपालों ने राष्ट्रपति को अपनी सलाह देते समय स्वविवेक का प्रयोग न्यायपूर्ण तरीके से नहीं किया। 1959 में केरल के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को दी गई अपनी रिपोर्ट में कहा, कि कानून और व्यवस्था की असफलता के कारण राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती।

इस रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति ने पहली भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की राज्य सरकार को अपदस्थ कर दिया। सभी विरोधी पक्षों ने इसकी कड़ी आलोचना की। 1984 में आंध्र प्रदेश तथा जम्मू–कश्मीर के राज्यपालों ने गैर–कांग्रेसी सत्ताधारी दलों को प्राप्त समर्थन को सत्यापित किया तथा जल्दी से राज्य सरकारों को अपदस्थ करने की सलाह इस आधार पर दी कि स्थायी बहुमत के अभाव में ये सरकारें संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकतीं। इनमें से किसी भी मामले में सदन में बहुमत स्थापित नहीं करने दिया गया। आंध्र प्रदेश के मामले में तो संख्या का गणित भी ठीक नहीं था। इन मामलों में यह दोषारोपण था कि राज्य सरकारों को अल्पमत में लाने की कोशिश की गई थी।

ऐसा लगता है कि संविधान में राज्यपाल की दोहरी भूमिका है। वह राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष (मुखिया) है तथा राष्ट्रपति का प्रतिनिधि भी है। राज्यपाल की नियुक्ति का तरीका तथा राष्ट्रपति की इच्छा रहने तक पद पर रहना राज्यपाल की दूसरी भूमिका यानी राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में उसकी भूमिका पर बल देता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिमंडल की सलाह पर कार्य करता है, इसलिए राज्यपाल को अप्रत्यक्ष रूप से केंद्र में सत्ताधारी दल के नेता की इच्छाओं के अनुरूप कार्य करना होता है। विरोधी दलों ने इसका विरोध किया है तथा प्रसिद्ध विधि–वेत्ताओं ने भी इसकी आलोचना की है। यह तर्क दिया जाता है कि राज्यपाल की नियुक्ति तथा उसे पद से हटाने से संबंधित उपबंधों ने राज्यपाल को राज्य का निष्पक्ष मुखिया बनाने की अपेक्षा केंद्र से सत्ताधारी दल के हाथों में कठपुतली बना दिया है।

दूसरी ओर यह कहा जाता है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था में विखंडनात्मक प्रवृत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए हमारे संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल की नियुक्ति तथा पदमुक्ति से संबंधित प्रावधानों को काफी बहस के पश्चात जान–बूझकर स्वीकार किया था। फिर भी, यह कहा जाता है कि समर्थक राज्यपालों को नियुक्त करके सत्ताधारी दल ने इस उच्च पद को विरोधी दलों को दबाने के साधन के रूप में प्रयोग किया है। कई ऐसे दृष्टांत विद्यमान हैं, जहां केंद्र में सत्ता परिवर्तन के कारण राज्यपालों को हटाया गया है। राजनीतिक दलों को उन राज्यपालों, जो राज्यों में विरोधी दलों के हैं, को हटाने में कोई मुश्किल नहीं होती है।

राज्य का विधान मंडल

विधायन नीति निर्माण को ढांचा प्रदान करता है तथा सरकार को नीतियों को लागू करने की शक्तियों से सुसज्जित करता है। राज्य स्तर पर आवश्यक विधायी ढांचा प्रदान करने का कार्य राज्य की विधान मंडल द्वारा संपन्न किया जाता है। हमारे संविधान में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य में कम से कम एक सदन अर्थात विधानसभा होगी, जिसमें प्रादेशिक (territorial) निर्वाचन क्षेत्रों से वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चुने हुए 60 से 500 सदस्य होंगे। इसके अलावा कोई भी राज्य दूसरा सदन अर्थात विधानपरिषद की स्थापना भी कर सकता है। इसके लिए विधानसभा के विशेष बहुमत (अर्थात उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से जो कुल सदस्य संख्या के बहुमत से कम न हो) द्वारा पारित एक प्रस्ताव की

आवश्यकता होती है, जिसके पश्चात संसद इस संदर्भ में कानून बनाती है। इसी प्रक्रिया से एक विधान परिषद का उन्मूलन भी किया जा सकता है। आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा पंजाब ने अपनी विधान परिषदों का उन्मूलन समाप्त करने के लिए इस प्रक्रिया का उपयोग किया है। इस समय केवल बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश तथा जम्मू–कश्मीर में दो सदन हैं। जब भी विधान परिषद का गठन किया जाता है तो इसकी सदस्य संख्या विधानसभा की सदस्य संख्या की 1/3 संख्या से अधिक और 40 से कम नहीं हो सकती। परिषद की सदस्यता का संगठन इस प्रकार होता है–

- 1/3 सदस्यों का चुनाव स्थानीय निकायों द्वारा,
- 1/12 सदस्यों का निर्वाचन तीन वर्ष पहले बने स्नातकों द्वारा,
- 1/12 सदस्यों का निर्वाचन माध्यमिक स्कूल या उसके उच्चतर स्कूलों में तीन वर्ष का अध्यापन का अनुभव रखने वाले अध्यापकों द्वारा,
- 1/3 सदस्यों का निर्वाचन विधानसभा के सदस्यों द्वारा (उन लोगों का निर्वाचन किया जाता है जो विधानसभा के सदस्य नहीं हैं), तथा
- 1/6 सदस्यों का राज्पाल द्वारा नामांकन।

चुनाव एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अनुसार होता है। विधानसभा का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है, परंतु उससे पहले भी राज्यपाल द्वारा उसे भंग किया जा सकता है।

द्विसदनी विधान मंडल में विधायी कार्य प्रणाली

वित्त विधेयक के संदर्भ में

1. वित्त विधेयक केवल विधानसभा में पेश किया जाता है, विधान परिषद में नहीं।
2. विधान परिषद, विधानसभा द्वारा पारित एक विधेयक को अस्वीकार या संशोधित नहीं कर सकती। यह केवल सुझाव या सिफारिश कर सकती है, जिन्हें विधानसभा स्वीकार भी कर सकती है और अस्वीकार भी। संशोधन के बिना या संशोधन करने के बाद यदि विधानसभा 14 दिनों तक विधेयक को वापस नहीं करती तो उसे सीधे राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जा सकता है।

इस प्रकार अंतिम रूप से विधानसभा की इच्छा सर्वोपरि होती है। विधान परिषद केवल इसको स्वीकार करने में देर कर सकती है।

वित्त विधेयक के अलावा अन्य विधेयक के संदर्भ में–

1. ऐसा विधेयक किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है।
2. यदि विधेयक विधानसभा ने स्वीकृति कर दिया है तो विधान परिषद उसे अस्वीकार कर सकती है, संशोधित कर सकती है या तीन महीने तक उसे अपने पास रख सकती है। परंतु यदि विधानसभा उसे संशोधनों के साथ या संशोधनों के बिना दोबारा स्वीकृति दे देती है तो फिर विधान परिषद उसे केवल एक महीने तक रोककर उसकी स्वीकृति में देर कर सकती है।

3. यदि कोई विधयेक परिषद में पेश होता है और विधानसभा उसे अस्वीकार कर देती है तो वह विधेयक समाप्त हो जाता है।

टिप्पणी

अतः हर तरह से विधानसभा की सर्वोच्चता स्थापित हो जाती है, मुख्य रूप से विधेयकों के मामले में। दो सदनों के बीच विवाद का फैसला सदैव विधानसभा की इच्छानुसार होता है। केंद्र के संसद में इसके विपरीत स्थिति है क्योंकि वहां विवाद का फैसला दो सदनों की संयुक्त बैठक में होता है। शायद यह तथ्य का मान्यता के कारण है कि केंद्रीय संसद का ऊपरी सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

जब कोई विधेयक राज्यपाल के सामने उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो वह–

(1) अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता है, जिसके पश्चात वह विधेयक कानून बन जाएगा।

(2) अपनी स्वीकृति रोक सकता है, इस स्थिति में विधेयक कानून नहीं बनता।

(3) वित्त विधेयक को छोड़कर, अन्य विधेयक को अपने संदेश के साथ वापस भेज सकता है।

(4) राष्ट्रपति के विचार के लिए एक विधेयक को सुरक्षित रख सकता है।

(1) और (2) मामलों में राज्यपाल के स्वविवेक का उपयोग शामिल नहीं है। वह मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना विधेयक से अपनी स्वीकृति नहीं रोक सकता। परंतु (3) और (4) मामलों में वह अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। जब विधेयक को संदेश के साथ लौटाया जाता है तो विधान मंडल पुनः उसे उसी रूप में या संशोधन के साथ स्वीकार कर सकती है। उस समय राज्यपाल के पास विधेयक को स्वीकृति देने के अतिरिक्त और कोई विकल्प (Option) नहीं होता। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखा जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति दे सकते हैं, स्वीकृति रोक सकते हैं या संदेश के साथ विधेयक राज्य विधान मंडल के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। छः महीने के भीतर राज्य विधान मंडल के लिए उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। यदि विधेयक उसी रूप में या संशोधन के साथ पुनः राज्य विधान मंडल द्वारा स्वीकृति कर लिया जाता है तब भी राष्ट्रपति के लिए उस पर अपनी स्वीकृति देना आवश्यक नहीं है।

राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति

जब तक विधान मंडल का अधिवेशन न हो तो राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है। यह अध्यादेश कानून के समान होता है। कोई भी अध्यादेश विधान मंडल का अधिवेशन होने पर उसके समक्ष पेश किया जाना आवश्यक है। अध्यादेश शुरू होने के छह सप्ताह के भीतर समाप्त हो जाएगा, यदि इससे पहले उसे स्वीकृत नहीं किया गया। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति उन सभी विषयों के बारे में है, जो राज्य विधान मंडल की विधायी शक्तियों में आते हैं तथा राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने के बारे में उन्हीं सीमाओं से बंधे हुए हैं।

प्रशासन पर विधायी नियंत्रण

कार्यपालिका को आवश्यक विधायी समर्थन देने के अतिरिक्त विधान मंडल प्रशासन पर सार्वजनिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में भी काम करती है। हमारे जैसे संसदीय प्रजातंत्र में यह नियंत्रण निम्नलिखित रूप में किया जाता है–

विधानसभा प्रश्न

विधानसभा के सदस्यों को सरकार से कोई भी प्रश्न पूछने का अधिकार है। जब मंत्री उत्तर देता है, तब वे पूरक प्रश्न भी पूछ सकते हैं। यह उपाय सरकार को सदैव सावधान रखता है। जब कभी कोई कमजोरी नजर आती है तब सरकार को वादा करने तथा स्थिति को सुधारने का कार्य करने के लिए विवश किया जाता है।

प्रश्न पूछने के अतिरिक्त सदस्य महत्वपूर्ण विषयों पर बहस की मांग कर सकते हैं। सार्वजनिक महत्व के विषयों के बारे में वे ध्यानाकर्षक प्रस्ताव स्थगन भी प्रस्तुत कर सकते हैं। भले ही इन प्रस्तावों की अनुमति न दी जाए या स्वीकृति न हो, तब भी सरकार को बहुत सी जानकारी देनी पड़ती है तथा कुछ न कुछ बहस होती है। इसके द्वारा भी सरकार को सतर्क रखा जाता है तथा उसे जन–प्रतिनिधियों को जवाब देना पड़ता है।

बजट के माध्यम से स्वीकृति नियंत्रण

विधान मंडल की स्वीकृति के बिना सरकार न तो कोई धन एकत्र कर सकती है और न ही पैसा खर्च कर सकती है। इस प्रकार बटुए पर नियंत्रण (control over the purse) रखकर विधानमंडल सरकार के कार्यक्रमों एवं कार्यकलापों पर नियंत्रण रखती है। यह सच है कि विधान मंडल में बहुमत होने के कारण सरकार अंत में वांछित धन की स्वीकृति विधान मंडल से प्राप्त कर सकती है, परंतु इस प्रक्रिया में काफी परिचर्चा होती है। इससे सरकार जनता की आवश्यकताओं से जुड़ी रहती है। परिचर्चा स्वीकृति कार्यक्रमों को लागू करने की प्रशासन की कमजोरियों को भी उजागर करती है।

व्यय के बाद नियंत्रण

लेखा परीक्षण के माध्यम से राज्य का विधान मंडल सरकार द्वारा किए गए व्यय की भी छानबीन करता है। हमारे संविधान में एकीकृत (integrated) लेखा तथा लेखा–परीक्षण प्रणाली की व्यवस्था है। भारत का महालेखा परीक्षक तथा नियंत्रक (Comptroller and Auditor General of India-CAG) राज्य सरकार के लेखाओं का परीक्षण करता है तथा राज्यपाल के माध्यम से अपनी रिपोर्ट विधानसभा को भेजता है। राज्य विधान मंडल की लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) इस रिपोर्ट को अध्ययन करती है, इसकी जांच करती है तथा अंत में विधान मंडल को अपनी रिपोर्ट देती है। गैर–कानूनी, अनुसूचित या अविवेकपूर्ण व्यय के मामले विस्तार से चर्चा करके विधान मंडल की जानकारी में लाए जाते हैं। इससे विधान मंडल सरकार पर सतर्क नजर रख सकता है।

विधायी समितियों के माध्यम से नियंत्रण

ऊपर बताई गई लोक लेखा समिति के अतिरिक्त कई अन्य समितियां भी हैं, जैसे –प्राक्कलन समिति, सार्वजनिक उपक्रम समिति, आश्वासन समिति आदि। ये समितियां

सरकार की कार्यशैली के विभिन्न पहलुओं की जांच करती हैं तथा उसकी असफलताओं को विधान मंडल तथा जनता की जानकारी में लाती हैं। यह सरकार पर नियंत्रण स्थापित करने का अच्छा उपाय है क्योंकि विधानसभा इतनी बड़ी संस्था है कि सरकार के कार्यों का विस्तार से परीक्षण नहीं कर सकती।

टिप्पणी

मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व

वास्तव में, विधान मंडल का सबसे अधिक शक्तिशाली अस्त्र मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व को लागू करना है। संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक कार्यपालिका विधान मंडल का अंग होती है तथा सदैव उसके प्रति उत्तरदायी होती है। अविश्वास प्रस्ताव पास करके या इसके द्वारा प्रस्तुत बजट को अस्वीकार करके या किसी विशेष विधायी कदम को अस्वीकार करके सरकार को कभी भी अपदस्थ किया जा सकता है। राजनीतिक कार्यपालिका सदैव विधान मंडल के प्रति इस प्रकार उत्तरदायी होती है कि प्रशासक इसके प्रति मंत्रियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बन जाते हैं।

इन नियंत्रणों के होते हुए भी प्रायः यह अनुभव किया जाता है कि प्रशासन पर्याप्त रूप से प्रत्युत्तरदायी नहीं है। दूसरी ओर, यह भी कहा जाता है कि विधायी नियंत्रण, विशेष रूप से लेखा–परीक्षण के द्वारा स्थापित, इतना कठोर और जटिल है कि प्रशासकों का पहल करने का अवसर छिन जाता है।

राज्य का मंत्रिपरिषद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग राज्य के संवैधानिक मुखिया अर्थात राज्यपाल के नाम से किया जाता है। परंतु राज्यपाल को सहायता देने के लिए मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिमंडल होता है। कुछ कार्यों को छोड़कर राज्यपाल अन्य कार्यों में मंत्रिमंडल की सलाह लेता है। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में कार्यकारी शक्ति का प्रयोग मंत्रिमंडल करता है।

मंत्रिमंडल के सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की सलाह पर की जाती है तथा उसकी इच्छा रहने तक वे अपने पद पर रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल किसी भी मंत्री को अपदस्थ कर सकता है।

संघ सरकार के प्रतिमान पर राज्य सरकारों में भी मंत्रियों की निम्न श्रेणियां होती हैं–

1. कैबिनेट मंत्री,
2. राज्य मंत्री,
3. उप मंत्री, एवं
4. संसदीय सचिव।

भारत सरकार में केवल कैबिनेट मंत्री ही बैठकों में भाग लेते हैं। परंतु राज्य सरकार में सभी मंत्री, मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग लेते हैं, जिससे गंभीर मसलों पर परिचर्चा कठिन हो जाती है। कार्य को जल्दी तथा कुशलतापूर्वक निपटाने के उद्देश्य से कुछ राज्यों में मंत्रिमंडलीय समितियां बढ़ाने का रास्ता अपनाया गया है। इन समितियों में कुछ स्थायी समितियां होती हैं, जबकि कुछ अस्थायी समितियां किसी

विशेष समस्या को निपटाने के लिए बनाई जाती हैं। मंत्रिमंडलीय समिति प्रणाली केंद्र सरकार की तुलना में कम प्रचलित है। अधिकतर महत्वपूर्ण मसले मंत्रिमंडल के सामने रखे जाते हैं। मंत्रिमंडल की बैठकें काफी जल्दी–जल्दी होती हैं।

टिप्पणी

हाल ही के संविधान संशोधन अधिनियम 2003 के अनुसार, मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या राज्य के विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या के पंद्रह प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। परंतु राज्य के मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की संख्या बारह से कम नहीं होगी। यह पहला अवसर है कि मंत्रियों की कुल संख्या तय करने के लिए ऐसा संशोधन किया गया है।

मंत्रिपरिषद की शक्तियां और कार्य

मंत्रिपरिषद राज्य सरकार की सर्वोच्च नीति–निर्धारण संस्था है। यह राज्य सरकार की विधायी तथा प्रशासनिक शक्तियों के अधीन सभी मामलों के संदर्भ में नीति बनाती है। मंत्रिपरिषद नीति के कार्यान्वयन की समीक्षा भी करती है तथा कार्यान्वयन के समय प्राप्त प्रतिक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में नीति को बदल भी सकती है क्योंकि राज्यपाल अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह पर करता है। कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल के नाम से प्रयोग की जाती है, इसलिए निम्न सीमाओं के अलावा परिषद की शक्तियों के ऊपर कोई सीमाएं नहीं हैं–

1. संविधान तथा संघ एवं राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित कानूनों द्वारा लगाई गई सीमाएं।
2. कम महत्वपूर्ण मसलों को बाहर रखने के लिए स्वयं लगाई गई सीमाएं।

राज्य स्तर पर विभागों में कार्य का विभाजन

मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत के अनुसार, मंत्रिमंडल का राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायित्व होता है। परंतु मंत्रिमंडल के लिए सभी निर्णय सामूहिक रूप से लेना असंभव है। ब्रिटिश काल के शुरू में गर्वनर–इन–काउंसिल द्वारा राज्य का प्रशासन चलाया जाता था। उस समय अधिकतर निर्णय सामूहिक रूप से लिए जाते थे क्योंकि लिए जाने वाले निर्णयों की संख्या अधिक नहीं थी। समय के बीतने पर, सरकारी कार्यकलापों का क्षेत्र बढ़ गया है और इसलिए परिषद के निर्णय के लिए आने वाले मामलों की संख्या भी बढ़ गई है। इसमें विभागों की प्रणाली का विकास हुआ, जिसमें कुछ निश्चित विषयों की जिम्मेदारी मंत्रियों को दे दी जाती थी तथा परिषद के सामने रखने के लिए कुछ ही महत्वपूर्ण विषय छोड़े जाते थे। वही व्यवस्था स्वतंत्रता के पश्चात भी चालू है। हमारे संविधान के अनुसार राज्यपाल द्वारा कार्य को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए नियम बनाए जाते हैं (अनुच्छेद 166 (3)) राज्य सरकारों ने ''कार्य आवंटन नियमावली'' बनायी है, जिनके अनुसार विभिन्न मंत्रियों में काम बांटा जाता है। कार्य का यह विभाजन, कार्य के आधार पर या ग्राहक स्थान या इन सभी कारकों के संयोजन के आधार पर किया जाता है। प्रायः कार्य का बंटवारा किसी तार्किक आधार पर करने की अपेक्षा व्यक्तिगत कारकों के आधार पर किया जाता है। एक मंत्री को सौंपे गए विषयों से संबंधित अधिकतर कार्य उसके द्वारा ही निपटाए

जाते हैं। परंतु नियमों के अनुसार कुछ विषयों को मंत्री निम्नलिखित के विचार के लिए सुरक्षित रखता है–

मुख्यमंत्री के विचार के लिए

इन्हें समन्वय संबंधी मामले कहा जाता है। इन मामलों में किसी विभाग का प्रभारी मंत्री अपनी सिफारिशों के साथ फाइल को मुख्यमंत्री के आदेशों के लिए भेज देता है। ऐसे मामलों की सूची कार्य के नियमों को दी गई है। मुख्यमंत्री भी कुछ मामलों को या कुछ विषयों के मामलों को अपने आदेश के लिए आरक्षित रख सकता है।

मंत्रिमंडल के सामने पेश करने के लिए

ये व्यापक प्रभाव रखने वाले महत्वपूर्ण नीतिगत मामले होते हैं। दो या अधिक मंत्रियों के बीच मतभेद के महत्वपूर्ण मामले भी मंत्रिमंडल के निर्णय के लिए उसके सामने लाए जाते हैं। ऐसे मामलों की सूची कार्य नियमावली में दी गई है। इसके अतिरिक्त मुख्यमंत्री किसी भी विभाग के किसी भी मसले को मंत्रिमंडल के सामने रखने के लिए कह सकता है। नमूने के रूप में कुछ मंत्रिमंडल के मामले नीचे दिए गए हैं–

1. विधान मंडल के सामने रखा जाने वाला वार्षिक वित्तीय विवरण तथा पूरक अनुदानें के लिए मांगें,
2. राज्य के वित्त को प्रभावित करने वाले ऐसे प्रस्ताव, जिन्हें वित्त मंत्री ने स्वीकृति न दी हो,
3. राज्य लोक सेवा आयोग के क्षेत्राधिकार से महत्वपूर्ण मामलों में छूट, एवं
4. नए कर आदि लगाने के प्रस्ताव।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किसके अनुसार राज्यपाल की बहुत सी कार्यकारिणी, विधायी तथा आपातकालीन शक्तियां हैं?
   (क) राष्ट्रपति के (ख) प्रधानमंत्री के
   (ग) संविधान के (घ) मुख्यमंत्री के
2. राज्यपाल अपनी शक्तियों का प्रयोग किसकी सलाह पर करता है?
   (क) सलाहकार की (ख) मंत्रिपरिषद की
   (ग) परिवार की (घ) मित्रों की

3.3 मुख्यमंत्री

राज्य सरकार के संबंध में मुख्यमंत्री वे सभी कार्य संपन्न करता है, जो प्रधानमंत्री केंद्रीय सरकार के संदर्भ में करता है। यद्यपि राज्य की वास्तविक कार्यकारी शक्ति मंत्रिपरिषद के पास है। इस शक्ति के प्रयोग में मुख्यमंत्री की एक बहुत ही विशेष भूमिका है। वह राज्य सरकार का प्रधान चालक है।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा वह राज्यपाल की इच्छा रहने तक पद पर रहता है। लेकिन जब विधानसभा में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत होता है, तो इन मामलों में राज्यपाल की भूमिका नाममात्र की होती है। उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना होता है तथा जब तक उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त है, उसे राज्यपाल अपदस्थ नहीं कर सकता। एकमात्र अपवाद शायद उस समय उत्पन्न हो सकता है, जब बहुमत दल विधानसभा में अपना नेता बदलता है। वास्तव में राज्यपाल को अस्थिरता के दौरान इन मामलों में विवेकाधिकार प्राप्त हैं, जब किसी भी दल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त न हो।

मंत्रिपरिषद के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियां

मुख्यमंत्री, मंत्रिमंडल का नेता होता है। समय के साथ–साथ मुख्यमंत्री की स्थिति मंत्रिमंडल के संबंध में सुदृढ़ हुई है। वही मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है तथा इन विभागों को जब चाहे बदल सकता है। वह मंत्रिमंडल की कार्य प्रणाली में समन्वयकर्ता की भूमिका निभाता है। वह यह देखता है कि विभिन्न विभागों के निर्णय संबद्ध हैं। वह विधानसभा में मंत्रिमंडल का नेतृत्व करता है तथा उसका पक्ष पेश करता है। संक्षेप में, वह विधानसभा के प्रति मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करता है। मुख्यमंत्री कैबिनेट के लिए कार्य–सूची तय करता है तथा काफी हद तक उसके निर्णयों को प्रभावित करता है। समन्वय की श्रेणी में आए महत्वपूर्ण मामलों में वह निर्णय लेता है। भले ही वे विभिन्न मंत्रियों सौंपे गए विषय हों। इसके अतिरिक्त, राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। इन प्रावधानों के परिणामस्वरूप मुख्यमंत्री की इच्छा रहने तक ही कोई मंत्री अपने पद पर रह सकता है। अपनी इच्छा से मंत्रियों को अपदस्थ करने तथा उनके विभागों को बदलने की शक्ति ने मंत्रियों के संबंध में और अंततः मंत्रिमंडल के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियों को बहुत अधिक मजबूत बनाया है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि मंत्रिपरिषद के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्ति राज्य में मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करती है। यदि किसी सुगठित दल को विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है तो मुख्यमंत्री बहुत शक्तिशाली बन जाता है तथा मंत्री उससे डरते हैं। उसकी शक्ति राज्य में फैली क्षेत्रीय पार्टी के मामले में और भी बढ़ जाती है क्योंकि उस स्थिति में वह राष्ट्रीय नेतृत्व के अनुशासन से बंधा हुआ नहीं होता है। मुख्यमंत्री की स्थिति उस समय कमजोर होती है, जब वह मिली–जुली सरकार का मुखिया हो या घटकवाद से भरी पार्टी का मुखिया हो। किसी भी स्थिति में उसे सरकार में साझीदारी या पार्टी में स्थिति विभिन्न घटकों के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए समझौते करने पड़ते हैं।

राज्यपाल के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियां

मुख्यमंत्री के संबंध में राज्यपाल की शक्तियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। राज्यपाल के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियों का उल्लेख संविधान में कहीं भी नहीं है। राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में मुख्यमंत्री से विचार–विमर्श करने की परंपरा स्थापित करने का प्रयास किया गया था। इसका भी केंद्रीय सरकार ने कई बार पालन नहीं

किया है। दूसरी एकमात्र शक्ति जो अप्रत्यक्ष रूप से संविधान से प्राप्त की जा सकती है, वह यह है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग राज्यपाल के नाम से किया जाता है। राज्यपाल की सभी सार्वजनिक मौकों पर उपस्थिति तथा ऐसे समय पर उसके भाषण मंत्रिमंडल द्वारा निर्मित या निर्धारित–नीतियों के अनुरूप होने चाहिए। इसी प्रकार उत्सव के अवसरों पर राज्यपाल के भाषण तथा विधानसभा के समक्ष उसका वार्षिक भाषण भी मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकृत किया जाता है।

विधानमंडल के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियां

औपचारिक रूप से मुख्यमंत्री सदन का नेता भी होता है। इस औपचारिक स्थिति के अतिरिक्त मुख्यमंत्री सदन को वास्वतिक विधायी नेतृत्व इस अर्थ में प्रदान करता है कि वह विधायी कार्यसूची तैयार करता है। विधायी मामले मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिमंडल की स्वीकृति के पश्चात ही विधानसभा के सामने लाए जाते हैं। यह सच है कि सदन के सामने गैर–सरकारी (private members) विधेयक भी पेश किए जाते हैं। परंतु प्रायः इसकी सफलता में संदेह भी रहता है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि उसके पीछे बहुमत दल का समर्थन नहीं होता, गैर–सरकारी सदस्यों के पास सरकार को प्राप्त जानकारी भी नहीं होती। विधायी कार्यसूची तय करने के अतिरिक्त, मुख्यमंत्री विधानसभा को सरकार के क्रियाकलापों के विषय में प्रश्नों के उत्तर देकर, बयान देकर, बहस में हस्तक्षेप करके जानकारी देता रहता है।

नौकरशाही के संबंध में मुख्यमंत्री की शक्तियां

राजनीतिक कार्यपालिका होने के कारण मुख्यमंत्री राज्य की समस्त नौकरशाही को नियंत्रित करता है। इस कार्य में उसकी सहायता सचिवालय करता है, जिसका अध्यक्ष मुख्य सचिव होता है। वह सचिवों, अपर संयुक्त उप–सचिवों, विभागों के अध्यक्षों, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के अध्यक्ष (चेयरमैन) तथा प्रबंध निदेशकों जैसी वरिष्ठ नियुक्तियों को स्वीकृति देता है। अपने मंत्रिमंडल के माध्यम से वह सेवा–शर्तों और अनुशासनात्मक मामलों को नियंत्रित करता है। वह उनको अच्छा निष्पादन तथा मनोबल सुनिश्चित करने के लिए नेतृत्व प्रदान करता है। उसी के साथ वह प्रशासनिक माध्यमों तथा दल के कार्यकर्ताओं के माध्यम से पीड़ित लोगों की शिकायतों पर गौर करता है तथा अपने निरीक्षण दौरों के समय उनके निष्पादन पर नजर रखता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. मुख्यमंत्री की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

(क) राज्यपाल
(ख) लोकपाल
(ग) प्रधानमंत्री
(घ) गृहमंत्री

4. राज्यपाल द्वारा किसकी सलाह पर मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है?

(क) घरवालों की
(ख) वरिष्ठ नेता की
(ग) दोस्तों की
(घ) मुख्यमंत्री की

3.4 विभागाध्यक्ष और सचिवालय के साथ उनके संबंध

टिप्पणी

केंद्रीय प्रशासन की भांति राज्य प्रशासन को क्षमतापूर्वक चलाने के लिए विभिन्न प्रशासकीय विभागों की स्थापना की गई है। प्रत्येक विभाग को किसी न किसी मंत्री के अधीन रखा जाता है, जो विभाग के राजनीतिक मुखिया के रूप में कार्य करता है तथा अपने विभाग के आधार पर विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। एक मंत्री के अधीन एक से अधिक विभाग भी रखे जाते हैं। मंत्री की सहायता के लिए केंद्र की भांति एक सचिव (Secretary) होता है, जो प्रशासकीय मुखिया (Administrative Head) के रूप में कार्य करता है। सचिव की नियुक्ति अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के राज्य में कार्य करने वाले पदाधिकारियों में से की जाती है। प्रत्येक विभाग को उपविभागों, शाखाओं, सैक्शनों तथा उपसैक्शनों में विभाजित किया जाता है। सचिव का विभाग पर पूर्ण नियंत्रण होता है। राज्य सरकार के सभी विभागों का समूह, जिनके प्रशासकीय मुख्याधिकारी सचिव तथा राजनीतिक मुख्याधिकारी मंत्री होते हैं, को सचिवालय कहते हैं। सचिवालय के विभागों की संख्या भिन्न–भिन्न प्रांतों में 11 से लेकर 24 तक होती है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने इसे 13 तक सीमित रखने का सुझाव दिया है। विभाग का सचिव केंद्रीय सरकार की भांति विभाग के मंत्री के सहायक एवं सलाहकार के रूप में कार्य करता है और मंत्री विभाग के आधार पर विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रत्येक राज्य में राज्य सचिवालय, राज्य शासन व प्रशासन का वह केंद्र है, जहां से प्रत्यक्ष रूप से नीति निर्धारण तथा परोक्ष रूप से नीति के क्रियान्वयन की प्रक्रिया संचालित होती है। इस प्रशासनिक संरचना के शिखर पर राजनीतिक नेतृत्व, मध्य में सचिवालय तथा अंत में निदेशालय होते हैं। सचिवालय वस्तुतः सत्ता का ह्रदय है, जहां से शासन शरीर के लिए आवश्यक निर्देश के रूप में रक्त संचार प्राप्त होता है।

संरचना

केंद्र सरकार की भांति, प्रत्येक राज्य सरकार का एक शासन सचिवालय होता है, जो राज्य शासन की उच्चतम संस्था है। महाराष्ट्र में इसे "मंत्रालय" के रूप में जाना जाता है। नाम से तो प्रतीत होता है कि सचिवालय "सचिवों" का घर है, किंतु वास्तव में यह सचिवों के अतिरिक्त उनके उच्चतर राजनीतिक अधिकारी मंत्रियों का भी कार्य–स्थल है अर्थात सचिवालय वह संस्था है जहां राज्य सरकार के सभी मंत्रियों, सचिवों तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों के कार्यालय स्थित होते हैं। राज्य सरकार के सभी विभाग इस संस्था के अंग होते हैं। यहां एक अंतर समझ लेना चाहिए। सचिवालय के अधीन कई कार्यपालक विभाग अथवा निदेशालय होते हैं, वे सचिवालय के अंग नहीं होते, जैसे –राजस्थान का उच्च तकनीकी शिक्षा विभाग तो सचिवालय का अंग है, किंतु इसके नीचे कार्यरत निदेशालय, जैसे–कॉलेज शिक्षा निदेशालय, सचिवालय का अंग नहीं है। वह तो कार्यकारी विभाग है। विभाग तथा कार्यकारी विभाग में अंतर है। सचिवालय का संबंध मूलतः 'नीति' से है। इन नीतियों के क्रियान्वयन के लिए कुछ संस्थाएं होती हैं, जिन्हें कार्यकारी संस्थाएं या विभाग कहते हैं। कार्यकारी विभागों के प्रमुख को अलग–अलग नामों से जाना जाता है, यथा–निदेशक, महानिदेशक, महानिरीक्षक, आयुक्त, नियंत्रक आदि, पर सामान्यतया इन्हें विभागाध्यक्ष कहा जाता है। सचिवालय

विभागों की स्थिति वरिष्ठ तथा निदेशालय विभागों की स्थिति कनिष्ठ होती है। सचिवालय में कृषि उत्पादन विभाग का प्रमुख सचिव, कृषि उत्पादन होता है, तो निदेशालय में निदेशक, कृषि विभाग का प्रमुख होता है। सचिवालय के प्रत्येक विभाग के साथ कार्यकारी विभाग संबद्ध नहीं होते हैं, विशेषकर उन विभागों के साथ जिनकी राज्य सचिवालय में भूमिका परामर्शीय एवं नियंत्रकीय है, जैसे–वित्त, कार्मिक, योजना एवं प्रशासनिक सुधार। सचिवालय का विभाग प्रमुख अधिकांशतः सामान्यज्ञ होता है, जबकि निदेशालय का विभाग प्रमुख सामान्यतया विषय–विशेषज्ञ होता है। कुछ ऐसे भी विभाग हैं जहां सचिवालय–निदेशालय का पृथक्करण नहीं पाया जाता, जैसे–ग्रामीण विकास तथा पंचायती राज विभाग, राहत विभाग, खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति विभाग आदि। इसी प्रकार कतिपय महत्त्वपूर्ण विभाग हैं, जो केवल सचिवालय तक ही सीमित हैं, जैसे–कार्मिक विभाग, प्रशासनिक सुधार विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग, नियोजन विभाग, वित्त विभाग, विधि विभाग आदि।

भूमिका

सचिवालय की भूमिका के मुख्य आयाम इस प्रकार हैं–

1. **नीति–निर्माण**–सत्ता के केंद्र के रूप में सचिवालय राज्य सरकार की सभी शक्तियों का स्रोत है। यह राज्य सरकार की मुख्य नीति–निर्माण संस्था है। राज्य प्रशासन से संबंधित सभी मामलों पर मुख्यमंत्री एवं अन्य मंत्रियों को यह नीति–निरूपण में सहायता प्रदान करता है। नीतियों का यह उद्‌गम स्थल है, साथ ही उनके संशोधन का केंद्र भी यही है।

   सचिवालय में ही स्थित मंत्रिमंडल सचिवालय प्रमुख नीति–निरूपण संस्था है। साथ ही मुख्यमंत्री एवं मुख्य सचिव के कार्यालय भी इस संबंध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सचिवालय में एक नीति–नियोजन इकाई भी है, जिसका सचिव मुख्यमंत्री का सचिव ही है। वैसे प्रत्येक विभाग के मंत्री एवं सचिव एकीकृत रूप से अपने–अपने विभाग के विषयों से संबंधित नीतियों के प्रारूप बनाने के लिये उत्तरदायी हैं। यही प्रारूप मुख्यमंत्री की स्वीकृति के पश्चात मंत्रिमंडल की बैठकों में प्रस्तुत किए जाते हैं। राज्य की औद्योगिक नीति, कृषि नीति, स्वास्थ्य नीति, आवास नीति आदि– सचिवालय में विभिन्न स्तरों पर मंथन के ही परिणाम हैं। किंतु कई बार कुछ नीतियां विभिन्न विभागों के पारस्परिक मतभेद के कारण अंतिम अवस्था तक नहीं पहुंच पाती। 1995–96 में पर्यटन नीति का यही हाल हुआ, क्योंकि परिवहन विभाग इस नीति के कुछ भागों से सहमत नहीं था। उधर, 1996 में ही परिवहन नीति भी केंद्र सरकार के कतिपय मुद्दों पर स्वीकृति के अभाव में अटकी रह गई थी। किंतु सामान्यतया ऐसी कठिनाइयां नीति–प्रक्रिया में देखने को नहीं मिलतीं। 1994 के पश्चात राजस्थान शासन सचिवालय में सचिवों की समितियों की नवीन व्यवस्था कार्य कर रही है। इस व्यवस्था के अंतर्गत संबंधित विभागों के सचिव नीतिगत प्रश्नों पर विचार–विमर्श करते हैं। महत्त्वपूर्ण पत्रावलियां भी कई बार इस समिति को समीक्षा के लिए भेज दी जाती हैं। सचिवों की समिति के कुछ सदस्य स्थाई होते हैं, बाकी संबंधित विषयों के सचिव होते हैं तथा मुख्य सचिव द्वारा मनोनीत भी किए जाते हैं।

2. **सूचनाओं का केंद्र**—नीति—निर्माण का क्षेत्र हो अथवा नीति निष्पादन एवं मूल्यांकन का, सही सूचनाएं एवं आंकड़े अति आवश्यक हैं, जिनके आधार पर नीतियां एवं निर्णय लिये जाते हैं। सचिवालय राज्य प्रशासन के सभी पहलुओं के बारे में सूचनाएं एकत्रित करने, उनके वर्गीकरण एवं विश्लेषण करने एवं आवश्यकता पड़ने पर उन्हें विभिन्न संस्थाओं को संप्रेषित करने का दायित्व निभाता है। यह कार्य आयोजना एवं वित्त विभाग मुख्य रूप से करते हैं। आयोजना विभाग के अधीन कार्य कर रहे कंप्यूटर विभाग, सूचना प्रौद्योगिकी विभाग एवं जिला आयोजना सम्भाग विकासात्मक सांख्यिकी के एकत्रण एवं वर्गीकरण में विशेष सफलता अर्जित कर सके हैं।
3. **मुख्य समन्वयक संस्था**—राज्य प्रशासन में निदेशालय, मंडल, निगम, लोक उपक्रम, क्षेत्रीय एवं स्थानीय संस्थाओं का जाल बिछा हुआ है। समस्त प्रशासनिक तंत्र को एक सूत्र में बांधने का दायित्व सचिवालय का है। प्रशासन की मुख्य समन्वयात्मक संस्थाएं हैं—मंत्रिमंडल सचिवालय, मुख्यमंत्री का कार्यालय, मुख्य सचिव का कार्यालय, आयोजना विभाग, वित्त विभाग, विधि विभाग, कार्मिक विभाग, प्रशासनिक सुधार विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग तथा अन्य सचिवालय स्थित विभाग। सचिवों की समितियां तथा आयोजना एवं विकास समन्वय समितियां भी इस क्षेत्र में महती भूमिका निभाती हैं।
4. **नियमन एवं नियंत्रण**—सरकारी प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर नियम—निरूपण का कार्य सचिवालय के विभिन्न विभागों में होता है। इनमें से मुख्य कार्मिक, वित्त एवं विधि विभाग हैं। अन्य विभाग भी अपने—अपने क्षेत्र से संबंधित नियम बनाते हैं जिन्हें मंत्रिमंडल अथवा संबंधित मंत्री की स्वीकृति से घोषित किया जाता है। सरकारी योजनाओं, नीतियों, कार्यक्रमों एवं नियमों का पालन एवं कुशल निष्पादन विभिन्न निदेशालय एवं अन्य संस्थाएं करें, यह सुनिश्चित करना सचिवालय का ही कार्य है। नीतियों एवं निर्णयों के निष्पादन पर निगरानी रखना सचिवालय का ही मुख्य दायित्व है।
5. **संसदीय एवं विधायी भूमिका**—राज्य सरकार के प्रशासन के बारे में संसद अथवा राज्य विधान सभा में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर तैयार करना, विधायी समितियों के समक्ष प्रशासन का प्रतिनिधित्व, नये विधेयकों का निरूपण, पुराने विधानों में संशोधन आदि से संबंधित मामले सचिवालय के ही कार्यक्षेत्र में आते हैं।
6. **केंद्र एवं अन्य राज्यों से संबंध**—राजस्थान राज्य के केंद्र सरकार एवं अन्य राज्यों से संबंधित प्रशासनिक मामले राज्य सचिवालय के विभिन्न विभागों के कार्यक्षेत्र में ही आते हैं। केंद्र सरकार से मिलने वाली सहायता, ऋण, कार्यक्रमों से संबधित निर्देश आदि के मामले सचिवालय में ही निपटाए जाते हैं। मुख्यमंत्री एवं मुख्य सचिव के कार्यालय इस सम्बन्ध में महत्ती भूमिका निभाते हैं। विभिन्न राज्यों से सीमा—निर्धारण, नदी—जल, नहर—पानी, पर्यावरण—सुरक्षा, तस्करी—निरोध, दस्यु—उन्मूलन आदि से संबधित निर्णय एवं उनके निष्पादन के मामले सचिवालय के ही कार्य क्षेत्र में आते हैं।

7. **कार्मिक प्रशासन**—सचिवालय के कार्मिक विभाग में अखिल भारतीय सेवाओं एवं मुख्य उच्चतर राज्य सेवाओं के मामले निपटाए जाते हैं। इन सेवाओं से सम्बन्धित नियुक्तियों, पदस्थापन, पदोन्नति, स्थानान्तरण, अनुशासनात्मक कार्यवाही आदि इसी विभाग के क्षेत्राधिकार में आते हैं। नये पदों का सृजन, उनका नियमन, अधिकारियों की पुनर्नियुक्ति, त्यागपत्र, विशेषवेतन, भत्ते, पेंशन आदि के मामले भी यहीं निपटाए जाते हैं। हां, कई विभागीय सेवाओं एवं मध्य एवं निम्न स्तर के कर्मचारियों के कार्मिक प्रशासन संबंधी मामले संबंधित विभागों में ही निर्णीत होते हैं। राज्य सेवा नियम, आचरण एवं अनुशासनात्मक कार्यवाही नियम आदि सचिवालय में ही निरूपित एवं संशोधित होते हैं।

8. **वित्तीय प्रशासनिक नियंत्रण**—सचिवालय स्थित राजस्थान सरकार का वित्त विभाग प्रशासन एवं नियंत्रण का मुख्य केंद्र है। विभिन्न विभागों से प्राप्त आय एवं व्यय के अनुमानों को संशोधित कर सरकार का वार्षिक बजट बनाना, विभागों को व्यय की वित्तीय स्वीकृतियां प्रदान करना, बजट में संशोधनों के प्रस्तावों की समीक्षा करना, वाणिज्य कर एवं उत्पाद कर विभागों पर नियंत्रण रखना आदि इस विभाग के मुख्य दायित्व हैं।

9. **आयोजना प्रशासन**—राज्य की पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं के निरूपण एवं निष्पादन पर निगरानी एवं उनका मूल्यांकन सचिवालय स्थित आयोजना विभाग का मुख्य दायित्व है। केंद्र स्थित योजना आयोग से विचार—विमर्श कर राज्य योजना के आकार, संसाधनों एवं सहायता के मामले इसी विभाग के अंतर्गत आते हैं।

10. **सामान्य प्रशासनः** सचिवालय स्थित सामान्य प्रशासन विभाग के क्षेत्राधिकार में सरकारी आवास, भवनों, विश्राम गृहों, वाहनों, उत्सवों, अनुदानों एवं आयोजनों के विषय आते हैं। वैसे समस्त सरकारी संपदाएं भी इसी विभाग के क्षेत्राधिकार में आती हैं। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, केंद्रीय मंत्री, अन्य उच्च अधिकारी, विदेशों के प्रतिनिधि आदि उच्चस्तरीय अतिथियों की राज्य यात्रा के दौरान प्रबंधों एवं शिष्टाचार से संबंधित क्रियाएं सामान्य प्रशासन विभाग के ही क्षेत्राधिकार में आती हैं।

11. **प्रशासनिक सुधार**—1955 में राजस्थान सरकार के शासन सचिवालय में "संगठन एवं पद्धति" सम्भाग की स्थापना हुई थी। आज यह प्रशासनिक सुधार का व्यापक अंग है। समस्त शासकीय विभागों एवं संस्थाओं में प्रशासनिक सुधारों को निर्देशित करना एवं उनका मूल्यांकन करना इस विभाग का दायित्व है। 1992 से 1995 के बीच कार्यरत प्रशासनिक सुधार समिति (अध्यक्ष—गोपालकृष्ण भनोत) द्वारा दी गई सिफारिशों पर आजकल यह विभाग उचित कार्यवाही कर रहा है।

12. **विधि परामर्श**—विभिन्न सरकारी नीतियों एवं निर्णयों के वैधानिक पहलुओं की समीक्षा कर उपयुक्त राय एवं न्याय देने का उत्तरदायित्व राज्य के विधि विभाग का है। विभिन्न विभागों के सैकड़ों मामले इस विभाग के पास संदर्भ एवं विमर्श हेतु आते रहते हैं।

टिप्पणी

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि सचिवालय, राज्य प्रशासन की सभी महत्वपूर्ण नीतियों एवं प्रशासनिक मामलों में केंद्रीय भूमिका निभाता है। इसके कार्यों का विस्तार निरंतर होता रहा है व नवीन शासकीय उत्तरदायित्वों के जुड़ने से इसके आकार व भूमिका की अभिवृद्धि अपेक्षित है।

साधारणतया प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित विभाग होते हैं–

1. गृह विभाग (Home Department)
2. सामान्य प्रशासन विभाग (General Administration Department)
3. वित्त विभाग (Finance Department)
4. खाद्य तथा कृषि विभाग (Food and Agriculture Department)
5. स्वास्थ्य विभाग (Health Department)
6. शिक्षा विभाग (Education Department)
7. उद्योग विभाग (Industry Department)
8. नियोजन विभाग (Planning Department)
9. कानून विभाग (Law Department)
10. सिंचाई विभाग (Irrigation Department)
11. जेल विभाग (Jail Department)
12. स्थानीय शासन विभाग (Local Government Department)
13. लोक संपर्क विभाग (Public Relations Department)
14. राजस्व विभाग (Revenue Department)
15. परिवहन विभाग (Transport Department)
16. समाज कल्याण विभाग (Social Welfare Department)
17. सहकारिता विभाग (Co-operative Department)
18. शुल्क तथा रोज़गार विभाग (Excise and Taxation Department)
19. श्रम तथा उत्पादन कर विभाग (Labour and Employment Department)
20. भाषा विभाग (Language Department)
21. जागरण विभाग (Vigilance Department)
22. सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department)
23. वन विभाग (Forest Department)

अपनी प्रगति जांचिए

5. मंत्री की सहायता के लिए कौन होता है?

(क) हेल्पर (ख) सचिव

(ग) प्रधानमंत्री (घ) राष्ट्रपति

6. सचिवालय के किस विभाग में अखिल भारतीय सेवाओं एवं मुख्य उच्चतर राज्य सेवाओं के मामले निपटाए जाते हैं?

(क) कार्मिक (ख) धार्मिक

(ग) सेवा (घ) आचरण

3.5 कैबिनेट समितियों के कार्य

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ट्रांजेक्शन ऑफ बिजनेस रूल्स, 1961 के हिसाब से देश की कार्यपालिका काम करती है। काम–काज सुचारू ढंग से चले, इसके लिए प्रधानमंत्री विभिन्न समितियों का गठन कर सकते हैं।

प्रधानमंत्री के पास यह अधिकार होता है कि वह समितियों की संख्या में कमी या बढ़ोतरी कर सकते हैं। प्रधानमंत्री के पास यह भी अधिकार होता है कि वह कैबिनेट के अंदर भी सांसदों को समितियों में शामिल कर सकते हैं।

कैबिनेट समितियां अस्थायी होती हैं यानी सरकार बदलने के साथ ही इनके सदस्य भी बदल जाते हैं। मंत्रियों की एड–हॉक समितियां बनाने का भी प्रावधान है। इनका गठन किसी विशेष मुद्दे पर चर्चा के लिए कैबिनेट या प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है।

नियम के अनुसार, अगर कोई विषय ऐसा है जिसके लिए एक से ज्यादा विभागों की सहमति चाहिए तो फैसला कैबिनेट समितियां करतीं हैं। कैबिनेट समितियों का काम नीतिगत मुद्दों पर चर्चा करना और उन्हें अंतिम रूप देना है। इनके विषय राजनीति, सुरक्षा, अर्थव्यवस्था से लेकर नियुक्तियों तक हो सकते हैं।

किसने बनाईं कितनी समितियां?

प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के समय में 'राजनीतिक' और 'आर्थिक' दो ही कैबिनेट समितियां बनाई गई थीं। बाद में इसमें तीन– सुरक्षा, आवास और नियुक्तियां समितियां और जोड़ी गईं। पी.वी. नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्री रहते 13 कैबिनेट समितियां बनाई गई थीं।

पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के समय 12 कैबिनेट समितियां हुआ करती थीं। मोदी जब प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने अधिकांश समितियों को खत्म कर दिया और छह समितियां बरकरार रखीं– सुरक्षा, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक मामले, संसदीय मामले, नियुक्तियां और आवास।

क्या काम करती हैं प्रमुख समितियां?

नियुक्तियां: प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता वाली इस कैबिनेट समिति को सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि यह समिति देश के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियां करती है। तीनों सेनाओं के प्रमुख, मिलिट्री ऑपरेशंस के महानिदेशक, सभी वायु और सेना कमानों के प्रमुख, डिफेंस इंटेलिजेंस एजेंसी के महानिदेशक, रक्षा मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार, ऑर्डिनेंस फैक्ट्री के महानिदेशक, रिजर्व बैंक के गवर्नर, रेलवे

बोड्र्स के चेयरमैन और सदस्यों, सरकारी उपक्रमों के मुख्य सतर्कता अधिकारियों और केंद्रीय सचिवालय के संयुक्त सचिवों की नियुक्तियां यह कैबिनेट समिति करती है।

सुरक्षाः कानून–व्यवस्था, आंतरिक सुरक्षा और नीतिगत मामले देखना इस समिति का काम है। यह कैबिनेट समिति राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर भी चर्चा करती है। 1,000 करोड़ रुपये से ज्यादा के रक्षा खर्च के सभी मामलों को यह समिति देखती है। इसके अलावा रक्षा उत्पादन, रिसर्च और सुरक्षा से जुड़े उपकरणों की खरीद पर भी सुरक्षा मामलों की कैबिनेट समिति फैसले करती है।

आर्थिक मामलेः यह समिति आर्थिक ट्रेंड्स, समस्याओं और संभावनाओं पर विचार करती है ताकि एक 'सुसंगत और एकीकृत आर्थिक नीति' विकसित की जा सके। यह समिति कृषि उत्पादों और जरूरी चीजों के दाम तय करने पर फैसला लेती है। 1,000 करोड़ रुपये से ज्यादा के निवेश के प्रस्तावों पर यही समिति विचार करती है।

आवासः यह कैबिनेट समिति सरकारी आवासों के आवंटन से जुड़े नियम तय करती है। यह अयोग्य व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए सरकारी आवास के आवंटन और किरायेदारी से जुड़े फैसले कर सकती है। यह समिति केंद्रीय सरकार के कार्यालयों को दिल्ली से बाहर शिफ्ट करने के प्रस्तावों पर भी चर्चा करती है।

संसदीय मामलेः यह समिति संसद सत्रों की तारीखें तय करती है और संसद के भीतर सरकारी काम–काज पर नजर रखती है। सदन में कौन–सा बिल और प्रस्ताव पेश होना है, उसका फैसला भी यह समिति करती है।

रोजगार और कौशल विकासः इस समिति का काम कौशल विकास से जुड़ी सभी नीतियों, कार्यक्रमों, योजनाओं और पहलों के लिए निर्देश देना होता है। यह पैनल रोजगार में बढोतरी, वर्कफोर्स हिस्सेदारी बढ़ाने, विभिन्न क्षेत्रों में कौशल की जरूरत और उपलब्धता के बीच अंतर दूर करने के लिए भी काम करती है।

निवेशः यह नई कैबिनेट समिति बुनियादी ढांचे और विनिर्माण से जुड़े 1,000 करोड़ रुपये या ज्यादा के निवेश वाले मुख्य प्रोजेक्ट्स की पहचान करेगी। समिति अप्रूवल और मंत्रालयों के क्लियरेंस की समय–सीमा तय करेगी। ऐसे प्रोजेक्ट्स की मॉनिटरिंग भी यही समिति करेगी।

अपनी प्रगति जांचिए

7. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ट्रांजेक्शन ऑफ बिजनेस रूल्स, 1961 के हिसाब से कौन काम करती है?

(क) देश की कार्यपालिका　　(ख) विदेशी जनता

(ग) देश की जनता　　(घ) विदेशी कार्यपालिका

8. किसके समय में 'राजनीतिक' और 'आर्थिक' दो ही कैबिनेट समितियां बनाई गई थीं?

(क) इंदिरा गांधी के　　(ख) जवाहरलाल नेहरू के

(ग) राजीव गांधी के　　(घ) प्रियंका गांधी के

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ग)
2. (ख)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (क)
7. (क)
8. (ख)

3.7 सारांश

हमारे संविधान में केंद्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था है। राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष है तथा मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिमंडल की सलाह पर कार्य करता है। राष्ट्रपति उसकी नियुक्ति पांच वर्ष के लिए करते हैं तथा उनकी इच्छा रहने तक वह अपने पद पर रहता है। कार्यकाल की समाप्ति पर उसे पुनः उसी राज्य का या किसी दूसरे राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है।

संविधान के अनुसार राज्यपाल की बहुत सी कार्यकारिणी, विधायी तथा आपातकालीन शक्तियां हैं। उदाहरण के लिए मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह मुख्यमंत्री की सलाह पर करता है। वह अन्य बहुत सी नियुक्तियां भी करता है, जैसे– राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य, एडवोकेट जनरल, वरिष्ठ लेखा सेवक आदि की नियुक्तियां। वास्तव में राज्य का समस्त कार्यकारिणी कार्य उसके नाम से किया जाता है।

राज्य सरकार के संबंध में मुख्यमंत्री वे सभी कार्य संपन्न करता है, जो प्रधानमंत्री केंद्रीय सरकार के संदर्भ में करता है। यद्यपि राज्य की वास्तविक कार्यकारी शक्ति मंत्रिपरिषद के पास है। इस शक्ति के प्रयोग में मुख्यमंत्री की एक बहुत ही विशेष भूमिका है। वह राज्य सरकार का प्रधान चालक है।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा वह राज्यपाल की इच्छा रहने तक पद पर रहता है। लेकिन जब विधानसभा में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत होता है, तो इन मामलों में राज्यपाल की भूमिका नाममात्र की होती है। उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना होता है तथा जब तक उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त है, उसे राज्यपाल अपदस्थ नहीं कर सकता। एकमात्र अपवाद शायद उस समय उत्पन्न हो सकता है, जब बहुमत दल विधानसभा में अपना नेता बदलता है। वास्तव में राज्यपाल को अस्थिरता के दौरान इन मामलों में विवेकाधिकार प्राप्त हैं, जब किसी भी दल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त न हो।

केंद्रीय प्रशासन की भांति राज्य प्रशासन को क्षमतापूर्वक चलाने के लिए विभिन्न प्रशासकीय विभागों की स्थापना की गई है। प्रत्येक विभाग को किसी न किसी मंत्री के अधीन रखा जाता है, जो विभाग के राजनीतिक मुखिया के रूप में कार्य करता है तथा अपने विभाग के आधार पर विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। एक मंत्री के अधीन एक से अधिक विभाग भी रखे जाते हैं। मंत्री की सहायता के लिए केंद्र की भांति एक सचिव (Secretary) होता है, जो प्रशासकीय मुखिया (Administrative Head) के रूप में कार्य करता है। सचिव की नियुक्ति अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के राज्य में कार्य करने वाले पदाधिकारियों में से की जाती है। प्रत्येक विभाग को उपविभागों, शाखाओं, सैक्शनों तथा उपसैक्शनों में विभाजित किया जाता है। सचिव का विभाग पर पूर्ण नियंत्रण होता है। राज्य सरकार के सभी विभागों का समूह, जिनके प्रशासकीय मुख्याधिकारी सचिव तथा राजनीतिक मुख्याधिकारी मंत्री होते हैं, को सचिवालय कहते हैं। सचिवालय के विभागों की संख्या भिन्न–भिन्न प्रांतों में 11 से लेकर 24 तक होती है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने इसे 13 तक सीमित रखने का सुझाव दिया है। विभाग का सचिव केंद्रीय सरकार की भांति विभाग के मंत्री के सहायक एवं सलाहकार के रूप में कार्य करता है और मंत्री विभाग के आधार पर विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रत्येक राज्य में राज्य सचिवालय, राज्य शासन व प्रशासन का वह केंद्र है, जहां से प्रत्यक्ष रूप से नीति निर्धारण तथा परोक्ष रूप से नीति के क्रियान्वयन की प्रक्रिया संचालित होती है। इस प्रशासनिक संरचना के शिखर पर राजनीतिक नेतृत्व, मध्य में सचिवालय तथा अंत में निदेशालय होते हैं। सचिवालय वस्तुतः सत्ता का हृदय है, जहां से शासन शरीर के लिए आवश्यक निर्देश के रूप में रक्त संचार प्राप्त होता है।

टिप्पणी

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ट्रांजेक्शन ऑफ बिजनेस रूल्स, 1961 के हिसाब से देश की कार्यपालिका काम करती है। काम–काज सुचारू ढंग से चले, इसके लिए प्रधानमंत्री विभिन्न समितियों का गठन कर सकते हैं।

प्रधानमंत्री के पास यह अधिकार होता है कि वह समितियों की संख्या में कमी या बढ़ोतरी कर सकते हैं। प्रधानमंत्री के पास यह भी अधिकार होता है कि वह कैबिनेट के अंदर भी सांसदों को समितियों में शामिल कर सकते हैं।

कैबिनेट समितियां अस्थायी होती हैं यानी सरकार बदलने के साथ ही इनके सदस्य भी बदल जाते हैं। मंत्रियों की एड–हॉक समितियां बनाने का भी प्रावधान है। इनका गठन किसी विशेष मुद्दे पर चर्चा के लिए कैबिनेट या प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है।

नियम के अनुसार, अगर कोई विषय ऐसा है जिसके लिए एक से ज्यादा विभागों की सहमति चाहिए तो फैसला कैबिनेट समितियां करती हैं। कैबिनेट समितियों का काम नीतिगत मुद्दों पर चर्चा करना और उन्हें अंतिम रूप देना है। इनके विषय राजनीति, सुरक्षा, अर्थव्यवस्था से लेकर नियुक्तियों तक हो सकते हैं।

3.8 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **अधिवेशन** : किसी बड़ी सभा का सम्मेलन, जलसा।
- **वैकल्पिक** : ऐच्छिक, संदिग्ध।
- **विधायन** : विधान करना या बनाना।
- **उन्मूलन** : जड़ से उखाड़ देना, अंत करना, उत्सादन।
- **प्राक्कलन** : संभावित व्यय का पहले से अनुमान लगाना।

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. हमारे संविधान में केंद्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर कैसी शासन प्रणाली की व्यवस्था है?
2. राज्य सरकार के संबंध में मुख्यमंत्री क्या कार्य संपन्न करता है?
3. सचिव की नियुक्ति किन पदाधिकारियों में से की जाती है?
4. समितियों की संख्या में कमी या बढोतरी करने का अधिकार किसके पास होता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राज्यपाल के कार्यों, दायित्वों तथा अधिकारों की समीक्षा कीजिए।
2. मंत्रिपरिषद के संदर्भ में मुख्यमंत्री की शक्तियों की विवेचना कीजिए।
3. सचिवालय की भूमिका के विभिन्न आयामों की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।
4. विभिन्न कैबिनेट समितियों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. एस. आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
2. डॉ. एस. सी. सिंघल, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय शासन एवं गजनीलि लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
4. मोहित भट्ष्टाचार्य, लोक प्रशासन के नये आयाम जवाहर बुक सेंटर।
5. भारत 2015, पब्लिकेशन डिवीजन।

इकाई 4 केंद्र राज्य संबंध

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 सरकारिया आयोग रिपोर्ट
4.3 केंद्र–राज्य संबंध में समस्या क्षेत्र
    4.3.1 सिवल सेवा : केंद्र–राज्य सिविल सेवा
    4.3.2 स्थानीय प्रशासनिक सेवा
    4.3.3 भर्ती
    4.3.4 लोक सेवा आयोग की भूमिका
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

भाषाओं की पहचान, असमान विकास, राज्यों के गठन का पुनर्गठन या फिर विशेष राज्य का दर्जा देने से जुड़े विषय केंद्र–राज्य संबंधों के अंतर्गत आते हैं। साथ ही देश में शिक्षा, व्यापार जैसे विषयों पर नीति निर्माण संबंधी निर्णय एवं केंद्र और राज्य के बीच में इनको लेकर क्या आपसी समझ है? यही महत्वपूर्ण होता है। भारतीय संविधान में भारत को राज्यवादी संघ न कहकर 'राज्यों का संघ' कहा गया है। भारतीय संविधान में विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय शक्तियों का सुस्पष्ट बंटवारा केंद्र और राज्यों के बीच किया गया है।

विधायी शक्ति के विषयों को तीन सूचियों में बांटा गया है– पहली, केंद्रीय सूची में उन विषयों को शामिल किया गया है जिन पर सिर्फ केंद्र सरकार कानून बना सकती है। इसमें राष्ट्रीय महत्व के विषय जैसे कि प्रतिरक्षा, विदेश संबंध, मुद्रा संचार और वित्तीय मामले आदि शामिल किए गए हैं। दूसरी, राज्य सूची जिसमें कानून और व्यवस्था, जन–स्वास्थ्य, प्रशासन जैसे स्थानीय महत्व के विषयों को शामिल किया गया है और तीसरी, समवर्ती सूची में वे विषय शामिल किए जाते हैं जिन पर केंद्र और राज्य दोनों ही कानून बना सकते हैं जैसे कि शिक्षा, चिकित्सा आदि। कोई राज्य सरकार केंद्र के द्वारा बनाए गए कानूनों व नीति के विरोध में या फिर विपरीत कानून नहीं बना सकती है।

प्रस्तुत इकाई में केंद्र–राज्य संबंधों के अर्थ को समझाते हुए केंद्र–राज्य में टकराव के क्षेत्र और राज्यों की स्वायत्तता की मांग आदि का अध्ययन किया जा रहा है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सरकारिया आयोग रिपोर्ट के प्रारूप को जान पाएंगे;
- केंद्र–राज्य संबंध में समस्या क्षेत्र को समझ पाएंगे;
- केंद्र–राज्य सिविल सेवा के संबंध में जानकारी ग्रहण कर पाएंगे;
- स्थानीय प्रशासनिक सेवा के संदर्भ से परिचित हो पाएंगे;
- भारत में लोक सेवाओं में भर्ती की प्रक्रिया से परिचित हो पाएंगे;
- लोक सेवा आयोग की भूमिका को समझ पाएंगे।

4.2 सरकारिया आयोग रिपोर्ट

तमिलनाडु द्वारा पहल करने के पश्चात अन्य राज्यों ने भी स्वायत्तता की मांग का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया। 1977 के पश्चात तो यह मांग और जोर पकड़ती गई जब पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार तथा जम्मू और कश्मीर की नेशनल कान्फ्रेंस सरकार ने भी राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया।

पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने तो राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न पर एक परिपत्र तैयार किया जो सभी राज्य सरकारों को भेजा गया। इस परिपत्र की प्रमुख मांगें निम्नलिखित थीं–

1. संविधान की प्रस्तावना में भारत के लिए प्रयुक्त यूनियन शब्द के स्थान पर फेडरेशन शब्द रखा जाए।
2. केंद्र और राज्यों के मध्य शक्तियों के विभाजन का पुनर्निरीक्षण किया जाए, परिपत्र ने सुझाव दिया कि केंद्र के पास केवल प्रतिरक्षा, विदेश नीति, विदेश व्यापार, मुद्रा, आर्थिक समन्वय आदि विषय रहें। बाकी सभी विषय, अवशिष्ट शक्तियों सहित राज्यों के पास रहें।
3. राज्यपाल पूर्णरूपेण एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान की धारा 357 को समाप्त कर दिया जाए।
4. राज्यों की व्यवस्थापिका (विधानसभा) द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर राष्ट्रपति के अनुमोदन की आवश्यकता न रहे।
5. केंद्रीय सरकार की आय का 75 प्रतिशत अंश राज्यों के मध्य वितरित किया जाए।
6. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन भी लोकसभा के सदस्यों की भांति प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा हो और दोनों सदनों को समान शक्तियां प्रदान की जाएं।
7. योजना आयोग के स्वरूप तथा गठन का निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा किया जाए।

1977 में जम्मू और कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला ने भी केंद्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों पर पुनर्विचार करने की मांग उठाई। इस समय केंद्र में जनता दल की सरकार थी और उसने इन मांगों के प्रति सहानुभूति तो दिखलाई परंतु उन्हें पूरा करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। 1980 में सत्ता में परिवर्तन हुआ और केंद्र में पुनः कांग्रेस सरकार की स्थापना हुई। इसी वर्ष स्वायत्तता के संदर्भ में अकाली दल ने आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव का मूल और अधिकृत रूप कभी प्रस्तुत नहीं किया गया। अनुमान यह है कि यह प्रस्ताव भारत की एकता और अखण्डता पर प्रहार करता है और इस कारण इसे अन्य दलों का समर्थन प्राप्त नहीं हो पाया। वास्तविकता यह है कि राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न कोई सैद्धांतिक प्रश्न न रहकर केवल एक राजनीतिक हथियार बनकर रह गया। समय–समय पर इसका उपयोग उन राज्यों ने, जहां विपक्षी दलों की सरकारें हैं, केंद्रीय सरकार को परेशानी में डालने के लिए किया है। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रश्न के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक आधारों पर सार्वजनिक रूप से बहस हो, तभी राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न को गंभीरता से लिया जा सकता है।

सरकारिया आयोग प्रतिवेदन

राज्यों की स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में 1983 में केंद्रीय सरकार ने केंद्र–राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से एक आयोग की स्थापना की, जिसे सरकारिया आयोग कहा गया। न्यायमूर्ति सरकारिया इस आयोग के अध्यक्ष थे और इसमें दो और सदस्य थे। नवम्बर, 1987 में सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट केंद्रीय सरकार को सौंप दी। सरकारिया आयोग रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थीं–

1. सरकारिया आयोग ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि देश की अखण्डता तथा एकता की रक्षा के लिए केंद्र का शक्तिशाली होना आवश्यक है।
2. आयोग ने यह भी सिफारिश की कि आपातकालीन उपलब्धों के अंतर्गत अनुच्छेद 356 का उपयोग राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए अत्यंत सावधानीपूर्वक किया जाए। आयोग के अनुसार राज्यों में राष्ट्रपति शासन तभी लागू किया जाए जब इसका अन्य कोई विकल्प नहीं हो।
3. आयोग के अनुसार संबंधित राज्य की विधानसभा को तभी भंग किया जाए जब अनुच्छेद 356 की उद्घोषणा का अनुमोदन संसद दो माह के भीतर कर दे।
4. आयोग ने सुझाव दिया कि समवर्ती विषयों पर विधि–निर्माण के क्षेत्र में केंद्र तथा राज्यों के मध्य विचार–विनिमय होना चाहिए।
5. आयोग ने योजना आयोग तथा वित्त आयोग के मध्य अधिक समन्वय पर बल दिया। साथ ही इसने यह भी सुझाव दिया कि राज्यों को केंद्रीय ऋण देने की पद्धति पर पुनर्विचार किया जाए।
6. राज्यों में केंद्रीय सुरक्षा बलों की नियुक्ति के संबंध में सरकारिया आयोग ने केंद्र को पूर्ण स्वतंत्रता देने का सुझाव दिया।

7. आयोग ने कुछ नई अखिल भारतीय सेवाएं गठित करने का भी सुझाव दिया।
8. आयोग के अनुसार राष्ट्रीय विकास परिषद को और सशक्त तथा अधिक सक्रिय बनाने की आवश्यकता है।
9. आयोग का एक अन्य सुझाव यह भी था कि प्रधानमंत्री, सभी केंद्रीय मंत्रियों और राज्यों के मुख्यमंत्रियों को सम्मिलित कर एक उच्चस्तरीय मंत्रिपरिषद का गठन किया जाए जो केंद्र–राज्यों से संबंधित समस्याओं पर यह विचार करे।
10. आयोग ने अंतर्राज्य परिषदों की स्थापना तथा उन्हें अधिक सशक्त तथा सक्रिय बनाने पर जोर दिया।
11. आयोग के अनुसार राज्यपाल के पद पर किसी निष्पक्ष और विशिष्ट व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिए और यह नियुक्ति राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह से हो। आयोग के अनुसार राज्यपाल पद से अवकाश लेने के पश्चात उसके राजनीति में भाग लेने पर प्रतिबंध लगाना उचित होगा।

सरकारिया आयोग ने जो सुझाव दिए हैं उनमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन की बात नहीं कही गई है। वास्तव में केंद्र–राज्य संबंध सुधारने की दिशा में संविधान एक बाधा नहीं है और इस संदर्भ में इसमें महत्वपूर्ण संशोधन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों की वास्तविक समस्याओं का निराकरण किया जाए और इस क्षेत्र में उचित परिपाटियों को जन्म दिया जाए।

अपनी प्रगति जांचिए

1. केंद्रीय सरकार ने केंद्र–राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से सरकारिया आयोग की स्थापना कब की?

   (क) 1977 में (ख) 1983 में

   (ग) 1980 में (घ) 1987 में

2. राज्यों में केंद्रीय सुरक्षा बलों की नियुक्ति के संबंध में किसने केंद्र को पूर्ण स्वतंत्रता देने का सुझाव दिया?

   (क) सरकारिया आयोग ने (ख) लोक आयोग ने

   (ग) प्रधानमंत्री ने (घ) उपप्रधानमंत्री ने

4.3 केंद्र–राज्य संबंध में समस्या क्षेत्र

केंद्र–राज्य संबंधों से आशय एक लोकतांत्रिक राज्य में संघवादी केंद्र और उसकी इकाइयों के बीच के आपसी संबंध से होता है। विश्व भर में लोकतंत्र के उदय के साथ राजनीति में केंद्र–राज्य संबंधों को एक नवीन परिभाषा मिली है।

संघीय पद्धति की स्थापना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। संघीय व्यवस्था के अंतर्गत दो प्रकार की सरकारें होती हैं– एक केंद्रीय अथवा संघीय सरकार

और दूसरी संघ की विभिन्न इकाइयों की सरकारें। भारतीय संघ में मुख्य 29 इकाइयां हैं जिन्हें राज्य कहा जाता है तथा 7 केंद्र–शासित प्रदेश हैं। संघीय पद्धति को उचित रूप में समझने के लिये यह आवश्यक है कि केंद्र और राज्यों के संबंधों को समझा जाए। यहां हम विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों के संबंधों की विवेचना और उनके मध्य मुद्दों का अवलोकन करेंगे।

टिप्पणी

1. विधायी संबंध

(i) संविधान की सातवीं अनुसूची के अंतर्गत शासन संबंधी विषयों का विभाजन केंद्र तथा राज्यों के मध्य सूचियों के अंतर्गत किया गया है। प्रथम, संघ सूची है जिसमें राष्ट्रीय महत्व के 97 विषय हैं और इन पर विधि निर्माण की शक्ति केंद्रीय सरकार को प्राप्त है। दूसरी, वित्तीय राज्य सूची है जिसके 66 विषयों पर राज्य सरकारों को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है। तीसरी, समवर्ती सूची है जिसके 47 विषयों पर केंद्र तथा राज्य दोनों सरकारों को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है, परंतु संविधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर केंद्र और राज्य दोनों ही कानून बनाएं तो ऐसी स्थिति में केंद्र के कानून को राज्य के कानून के ऊपर प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अतिरिक्त संविधान ने अवशिष्ट शक्तियां केंद्रीय सरकार को प्रदान की हैं।

(ii) संविधान के अनुच्छेद 294 के अंतर्गत राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके एक बार में एक वर्ष के लिये राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति केंद्रीय सरकार को दे सकती है।

(iii) अनुच्छेद 352 के अंतर्गत राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होने पर राज्य सूची के विषयों पर विधि निर्माण की शक्ति केंद्र को प्राप्त हो जाती है।

(iv) अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राज्य की विधानसभा भंग होने की स्थिति में भी केंद्रीय संसद उस राज्य के लिये कानून बना सकती है।

(v) दो या अधिक राज्यों की व्यवस्थापिकाएं (विधानसभाएं) यदि ऐसा आग्रह करें तो संसद उन राज्यों के लिये राज्य–सूची के विषयों पर कानून बना सकती है।

(vi) केंद्रीय सरकार अपने अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्ति के लिये ऐसे विषयों पर भी कानून बना सकती है जिनका संबंध राज्य सूची के विषयों से हो।

2. प्रशासनिक संबंध

(i) राज्य के मुख्य अधिशासनिक अधिकारी अर्थात राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अथवा केंद्र द्वारा की जाती है।

(ii) अनुच्छेद 356 के अंतर्गत किसी राज्य में राज्यपाल की रिपोर्ट के अंतर्गत कि वहां संविधान के अनुसार शासन करना कठिन हो गया है, आपातकाल की घोषणा की जाती है। ऐसी स्थिति में केंद्र उस राज्य के प्रशासन का संचालन भी करता है।

टिप्पणी

(iii) अखिल भारतीय प्रशासनिक, पुलिस तथा कुछ अन्य सेवाओं के सदस्यों का चयन, प्रशिक्षण तथा नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। परंतु वह राज्यों के क्षेत्रों में भी कार्य करते हैं। इसी प्रकार राज्य कर्मचारियों को भी केंद्रीय सेवा में लिया जा सकता है।

(iv) निर्वाचन आयोग केंद्रीय संस्था है पर वह केंद्र और राज्य, दोनों क्षेत्रों में और दोनों के अधिकारियों के सहयोग से निर्वाचनों की व्यवस्था करता है।

(v) न्याय के क्षेत्र में एकीकृत न्याय व्यवस्था है। अमेरिका की भांति केंद्र तथा राज्यों के पृथक–पृथक न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था भारत में नहीं की गई है।

(vi) वित्तीय लेखा परीक्षण के लिये भारत में एक ही संगठन है जो केंद्र तथा राज्य दोनों ही सरकारों से संबद्ध है।

(vii) अनुच्छेद 256 तथा 257 के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्यों को प्रशासनिक निर्देश दे सके।

(viii) राज्य सरकारों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपनी नीतियों का संचालन इस प्रकार करें जिससे उनके क्षेत्रों में केंद्रीय कानून को समुचित ढंग से लागू किया जा सके।

(ix) केंद्र सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विभिन्न राज्यों के लिये अंतर्राज्यीय परिषदों की स्थापना करे।

(x) निम्न वर्ग तथा अन्य पिछड़ी जातियों की स्थिति की जांच करने तथा उनमें सुधार के सुझाव देने के लिये केंद्र सरकार एक आयोग की स्थापना कर सकती है।

3. वित्तीय संबंध

(i) संघ तथा राज्य सूचियों में सम्मिलित विषयों से संबद्ध करों की राशि पूर्णतया संबंधित सरकारों के पास रहती है।

(ii) संघ सूची के कुछ विषयों से संबंधित क्षेत्रों में कुछ कर संघ द्वारा लगाए जाते हैं परंतु इनकी वसूली तथा विनियोजन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। कुछ कर संघ द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी पूर्ण राशि राज्यों को दे दी जाती है। कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं, परंतु उनकी आय का विभाजन केंद्र तथा राज्यों के मध्य किया जाता है।

(iii) संघ सरकार द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान देने की व्यवस्था भी संविधान ने की है।

(iv) अनुच्छेद 275 के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों पर रिपोर्ट देने के लिये राष्ट्रपति द्वारा एक वर्ष पश्चात एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने की व्यवस्था भी संविधान ने की है।

टिप्पणी

(v) अनुच्छेद 282 के अंतर्गत संविधान ने यह व्यवस्था की कि संसद किसी भी सार्वजनिक उद्देश्य के निमित्त अनुदान स्वीकार कर सकती है, चाहे वह विषय केंद्र का हो, अथवा राज्य का। परिणामस्वरूप पंचवर्षीय योजनाओं के क्षेत्र में राज्यों के ऊपर केंद्रीय नियंत्रण बहुत बढ़ गया है।

(vi) केंद्र द्वारा राज्यों को ऋण देने की भी व्यवस्था है जिसके कारण राज्यों के ऊपर केंद्र के नियंत्रण, निर्देशन तथा निरीक्षण की शक्तियों में भी वृद्धि हुई है।

अनुच्छेद 360 के अंतर्गत वित्तीय आपात की स्थिति की घोषणा का अधिकार केंद्र सरकार को प्राप्त है जिसके अंतर्गत वह केंद्र तथा राज्य दोनों की वित्तीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर सकती है।

विभिन्न क्षेत्रों में केंद्र और राज्य संबंधों पर विचार करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओं ने सभी क्षेत्रों में केंद्र को राज्यों से अधिक शक्तिशाली बनाया है। इस प्रकार भारतीय संविधान के अंतर्गत भी संघ शासन के क्षेत्र में एक शक्तिशाली केंद्र की स्थापना की प्रचलित प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है।

केंद्र–राज्य संबंधों में सुधार के सुझाव

केंद्र और राज्य के बीच एक संतुलन को प्राप्त करने में विभिन्न चुनौतियां हैं। हालांकि, ये चुनौतियां ऐसी नहीं हैं कि जिनका समाधान न किया जा सके।

केंद्र और राज्य के बीच एक मुख्य समस्या क्षेत्रीय राज्यों में राजस्व और व्यय के बीच एक असंतुलन है। राज्यों के स्वास्थ्य, शिक्षा और अन्य सार्वजनिक सेवाओं से संबंधित कार्यक्रमों को लागू करने की आवश्यकता होती है। लेकिन इन सार्वजनिक सेवाओं के लिए वे अपने स्वयं के राजस्व को इकट्ठा करने में असमर्थ हैं। इस समस्या के समाधान लिए केंद्र सरकार द्वारा राज्यों को अधिक राजस्व आवंटित करना और राज्यों को अधिक राजस्व इकट्ठा करने के लिए अनुमति दिया जाना है। उदाहरण के लिए, राज्य सेवाकर नहीं जमा कर सकते। अतः अधिक राजस्व आंतरिक रूप से राज्यों के भीतर उत्पन्न किया जाना चाहिए और केंद्र को भी राज्यों को और अधिक पैसा स्थानांतरित करना होगा।

साक्ष्यों से पता चला है कि राज्य नवाचार और परिवर्तन के महत्वपूर्ण भंडार हैं। उदाहरण के लिए, डिजिटल सेवा सुधार के तहत राज्य सरकारें इलेक्ट्रॉनिक साधनों के माध्यम से सार्वजनिक सेवा वितरण आरंभ करती हैं। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति जन्म प्रमाण–पत्र जल्दी से कंप्यूटरीकरण की वजह से प्राप्त कर सकता है। अन्य उदाहरण है छत्तीसगढ़ का है, यहां एक बहुत मजबूत ई–गवर्नेंस प्रणाली का विकास हुआ है। इसलिए अन्य समाधान के रूप में राज्यों में इस तरह के नवाचारों को लागू करने और इस तरह की पहल को अन्य राज्यों में फैलाने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद का नवाचार के प्रसार के लिए कुछ तंत्र बनाने के लिए

इस्तेमाल किया जा सकता है। एक तीसरा समाधान केंद्र–राज्य संबंधों को विकसित करने के लिए संस्थानों के संपर्कों का विकास किया जाना है।

ऐसे मंच भी हैं जहां राज्य स्तर और केंद्र स्तर के अधिकारी एक–दूसरे से बात कर सकते हैं और जानकारी साझा करके काम कर सकते हैं। हालांकि अंतर्राज्यीय परिषद और राष्ट्रीय विकास परिषद जैसे कुछ संस्थान इस दिशा में काफी समय से सक्रिय हैं, लेकिन उनमें प्रवर्तन शक्ति की कमी है। फिर भी उनकी सिफारिशों का सम्मान किया जाना चाहिए।

इन तीन समाधानों को केंद्र–राज्य संबंधों में सुधार के लिए भारत के विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण माना जा सकता है। लेकिन साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि भारत, कुछ कमियों के बावजूद केंद्र–राज्य संबंधों का एक बहुत अच्छा मॉडल है। यह एक ऐसा मॉडल है जो कि लोकतांत्रिक स्थिरता सुनिश्चित करता है और अन्य देशों के लिए एक मॉडल बनने की सामर्थ्य रखता है।

इस संबंध का सबसे सकारात्मक पहलू बहुदलीय प्रणाली है, जो अलग–अलग पार्टियों को केंद्र में प्रतिनिधित्व का अवसर देती है। वास्तव में, गठबंधन सरकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है जिसने केंद्र–राज्य संबंधों में स्थिरता पैदा की है। सभी विवादों में केंद्रीय–सरकार के स्तर पर राजनीतिक प्रतिनिधित्व द्वारा मध्यस्थता प्राप्त होती है। शायद इसलिए अलगाव के लिए किसी आंदोलन का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। साथ ही, इस राजनीतिक प्रतिनिधित्व के परिणाम के रूप में ही, हर छोटी पार्टी के पास भी वह वीटो शक्ति है, जो नीति की प्रक्रिया को धीमा कर देती है। 'एक कदम आगे और दो कदम पीछे' की विधि से भारत की राजनीति चल रही है। जहां प्रणाली में लचीलापन है वहीं यह नीति स्थिरता की कीमत पर आती है। एक अन्य समस्या यह है कि एक गठबंधन सरकार में अत्यधिक लचीलेपन का भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इससे नीति में लचीलेपन और स्थिरता के बीच व्यवहारों का टहराव आ जाता है, अर्थात लचीलेपन और सभी आवाजों की स्वायत्तता नीति की निरंतरता की कीमत पर प्राप्त होती है, जो कि अच्छे विकास के परिणामों के लिए आवश्यक गुण है।

केंद्र–राज्य संबंधों में उभरती प्रवृत्तियां

भारतीय संविधान के अंतर्गत संघीय व्यवस्था की स्थापना की गई है। भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयां है– एक, राज्य जिनकी संख्या 29 है और दूसरी, केंद्र–शासित प्रदेश जिनकी संख्या 7 है। विश्व के अन्य संघों की तुलना में भारतीय संघ की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। भारतीय संघ में केंद्र अत्यंत शक्तिशाली है तथा उसे आपातकाल में राज्यों के शासन को अपने हाथों में लेने का अधिकार प्राप्त है। इसके साथ ही भारत में राज्यों के अपने पृथक संविधान नहीं हैं और राज्यों को संविधान में संशोधन का अधिकार भी नहीं है। इसी कारण भारत में राज्यों की राजनीति का स्वरूप भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है। भारत में राज्यों की राजनीति का स्वरूप तथा प्रवृत्तियां सभी राज्यों में एक समान नहीं हैं और समय तथा परिस्थितियों के साथ इनमें

टिप्पणी

परिवर्तन भी होता रहा है। राज्यों की राजनीति पर विभिन्न दृष्टिकोणों से आगे विचार किया जा रहा है–

1. **प्रारंभिक काल**– भारत में राज्यों की राजनीति का प्रारंभ 1947 में देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ प्रारंभ हुआ और 1964 में पंडित नेहरू की मृत्यु तक चला। इस दृष्टि से हम इस काल को 'नेहरू काल' के नाम से भी पुकार सकते हैं। इस अवधि में पंडित नेहरू देश के प्रधानमंत्री रहे और केंद्र तथा राज्यों में कांग्रेस पार्टी की ही सरकारें कार्य करती रहीं। परिणामस्वरूप, राज्यों की राजनीति का स्वरूप तथा प्रवृत्ति लगभग वही रही जो केंद्रीय राजनीति की थी। पंडित नेहरू के व्यक्तित्व का प्रभाव और कांग्रेस पार्टी के अनुशासन का यह फल था कि राज्यों को अपनी पृथक नीतियां अपनाने अथवा केंद्र को चुनौती देने का साहस नहीं होता था। राज्यों तथा केंद्र के मध्य छुटपुट मतभेद होने की स्थिति में कांग्रेस के नेता पारस्परिक विचार विमर्श द्वारा सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में उसे सुलझा लेते थे। इसी अवधि में राज्यों का भाषाई आधार पर गठन भी हुआ। इसके कारण कुछ राज्यों में तनावपूर्ण स्थितियां अवश्य उत्पन्न हुईं परंतु केंद्र तथा राज्यों के शीर्ष नेताओं ने उन पर सरलता से काबू पा लिया। संक्षेप में, इस काल की राज्यों की राजनीति एक सरल और सीधे मार्ग पर चलती रही और उसमें उल्लेखनीय कुछ भी नहीं हुआ।
2. **राज्यों में परिवर्तन का काल**– 1964 में पंडित नेहरू की मृत्यु हुई और उसके साथ ही राज्यों की राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन होना भी प्रारंभ हो गया। परिवर्तन का यह क्रम 1964 से लेकर 1967 तक चला। पंडित नेहरू की मृत्यु के पश्चात कांग्रेस पार्टी के सम्मुख उनके स्थान पर एक नए नेता और प्रधानमंत्री को चुनने की बारी आई। लाल बहादुर शास्त्री ने नए प्रधानमंत्री के रूप में पद संभाला परंतु उनके चयन की विशेषता यह थी कि उसमें केंद्रीय नेताओं के अतिरिक्त कांग्रेस के राज्य स्तरीय नेताओं ने भी सक्रिय भूमिका निभाई। इस द्वितीय काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि कांग्रेस के अंदर वैचारिक मतभेद उभरने प्रारंभ हो गए और उसके फलस्वरूप पृथकत्व की भावना सतह पर आने लगी। कांग्रेस से बाहर निकलकर अनेक लोगों ने राज्य स्तर पर छोटे–छोटे दलों का गठन भी किया। उदाहरणस्वरूप, केरल में केरल कांग्रेस, बंगाल में बांग्ला कांग्रेस, राजस्थान में जनता पार्टी आदि की स्थापना हुई। यद्यपि ये दल स्थायी नहीं रह पाए और इन्होंने राज्यों की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया, फिर भी यह स्पष्ट हो गया कि राज्यों की राजनीति पर अब कांग्रेस का एकाधिकार अधिक समय तक चलने वाला नहीं है।
3. **राज्यों में गैर–कांग्रेसी शासन का काल**– लाल बहादुर शास्त्री अधिक समय तक प्रधानमंत्री के पद पर कार्य नहीं कर पाए और उनकी असमय मृत्यु के पश्चात श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। इसके साथ ही राज्यों की

राजनीति में भी तीव्रता के साथ परिवर्तन प्रारंभ हो गए। 1967 के आम चुनावों का परिणाम आश्चर्यजनक रहा क्योंकि आठ राज्यों यथा– उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान, केरल, तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल में गैर–कांग्रेस सरकारों की स्थापना हुई। इस काल की अन्य विशेषताएं ये रहीं कि इनमें से अधिकांश राज्यों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाया और परिणाम स्वरूप अधिकांश राज्यों में विभिन्न दलों ने मिलकर सरकार का गठन किया, जैसा कि सामान्यतः इस प्रकार की सरकारों के साथ होता है इनमें सम्मिलित दलों के मध्य शीघ्र ही मतभेद उभरने लगे और इसके फलस्वरूप इनमें से अधिकांश सरकारें अधिक समय तक कार्य नहीं कर पाईं। इस काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि राज्यों में बड़े पैमाने पर दल बदल की घटनाएं हुईं। कांग्रेस के अंतर्गत भी इस अवधि में मतभेद उभरे जिसके फलस्वरूप 1969 में कांग्रेस का दो भागों में विभाजन हो गया। विभिन्न राज्यों में इस काल में अनेक समस्याओं को लेकर जन–आंदोलन भी हुए। इन सब घटनाओं के फलस्वरूप राज्यों की राजनीति में इस काल में अस्थिरता आनी प्रारंभ हो गई। राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के कारण इस अवधि में पहली बार केंद्र तथा राज्यों के मध्य तनाव के लक्षण भी उभरने लगे।

4. **केंद्रीय नियंत्रण काल**– 1970 के पश्चात राज्यों की राजनीति के स्वरूप तथा प्रवृत्तियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1971 के आम निर्वाचनों में श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रभाव में अत्यन्त वृद्धि हुई क्योंकि केंद्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेस पार्टी ने बड़े बहुमत से विजय प्राप्त की तथा अपनी सरकारों का गठन किया। श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में राज्यों की राजनीति पर केंद्र का दबाव बहुत बढ़ गया। श्रीमती गांधी के शासन के अंतर्गत राज्यों की राजनीति में केंद्रीय नेताओं का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया यहां तक कि राज्यों के मुख्यमंत्रियों का चयन भी राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के बहुमत द्वारा न किया जाकर प्रधानमंत्री द्वारा किया जाने लगा। राज्यों में केंद्रीय हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता ही चला गया जिसके विरुद्ध राज्यों की जनता तथा विरोधी दलों में असंतोष बढ़ता ही चला गया। इस असंतोष को दबाने के लिए 1975 में देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गयी और 1977 तक, जब तक आपातकाल लागू रहा, भारत का संघीय ढांचा व्यवहार में एकात्मक हो गया। इन परिस्थितियों में राज्यों की राजनीतिक सक्रियता भी समाप्त हो गई क्योंकि राज्य सरकारें केंद्रीय प्रतिनिधि के रूप में केंद्र के राजनीतिक निर्णयों को क्रियान्वित करने में ही लगी रहीं।
5. **राज्यों में नवचेतना काल**– आपातकालीन स्थिति की घोषणा के विरुद्ध राज्यों में जनता में असंतोष बढ़ता ही चला गया और विरोधी दलों ने इस असंतोष को व्यापक और संगठित करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। परिणामस्वरूप, 1977 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी की घोर पराजय हुई

टिप्पणी

और केंद्र तथा अनेक राज्यों में विरोधी दलों द्वारा गठित जनता पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ। इसी के साथ राज्यों की राजनीति में एक नए अध्याय का प्रारंभ हुआ। प्रथम बार केंद्र तथा अनेक राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई जिसके परिणामस्वरूप राज्यों की राजनीति में कांग्रेस विरोध की प्रवृत्ति उभरने लगी, लेकिन सत्ता में आने के साथ ही जनता पार्टी में मतभेद उभरने लगे। इस पार्टी के अंदर विभिन्न गुटों के मध्य लोलुपता के कारण तीन वर्षों के भीतर ही जनता पार्टी का विघटन हो गया और देश में एक बार पुनः आम निर्वाचन हुए।

6. **क्षेत्रवाद का काल**– 1980 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने पुनः एक बार अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। केंद्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप एक बार फिर राज्यों की राजनीति में केंद्रीय हस्तक्षेप की परंपरा प्रारंभ हो गई। इस काल की एक अन्य विशेषता यह रही कि अनेक राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय हुआ और कुछ राज्यों में तो ये अत्यंत प्रभावशाली भी बन गए। उदाहरणस्वरूप, आंध्र में तेलगूदेशम, असम में असम गण परिषद, पंजाब में अकाली दल, तमिलनाडु में अन्ना द्रमुक मुनेत्र कडगम तथा जम्मू और कश्मीर में राष्ट्रीय कान्फ्रेंस जैसे क्षेत्रीय दलों ने सरकारों का गठन किया। क्षेत्रीय दलों के सत्ता में आने के साथ ही राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न पुनः उभरने लगा और केंद्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के मध्य पुनः तनाव बढ़ने लगा। विभिन्न राज्यों में गठित गैर–कांग्रेसी सरकारों ने परस्पर मिलकर राज्यों की स्वायत्तता के पक्ष में जमानत का निर्माण प्रारंभ कर दिया।

   1983 में श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या हो गई और उनके पश्चात प्रधानमंत्री का पद उनके पुत्र राजीव गांधी ने संभाला। राजीव गांधी के शासन में आते ही राज्यों की राजनीति में बढ़ते हुए असंतोष को कुछ ठहराव प्राप्त हुआ। प्रारम्भिक दौर में राजीव गांधी को राज्यों में उत्पन्न असंतोष को दूर करने की दिशा में बहुत सफलता प्राप्त हुई। उदाहरणस्वरूप पंजाब, आसाम, मिजोरम आदि की समस्याओं को सुलझाने में कुछ समय के लिए ही सही, केंद्र को सफलता प्राप्त हुई। परंतु शीघ्र ही, सरकार के विरुद्ध असंतोष बढ़ने की वजह से अपने द्वितीय कार्यकाल में राजीव गांधी को प्रधानमंत्री का पद छोड़कर विरोधी दल के नेता के रूप में कार्य करना पड़ा। इस अवधि में राज्यों में केंद्र की कांग्रेस सरकार के विरुद्ध असंतोष बढ़ता ही चला गया।

7. **वर्तमान काल**– राजीव गांधी की हत्या के पश्चात हुए निर्वाचनों में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और लोकसभा में सबसे बड़ा दल होने के नाते पी. वी. नरसिंह राव के प्रधानमंत्रित्व में कांग्रेस ने ही सरकार का गठन किया। इस निर्वाचन की एक विशेषता यह रही कि उत्तर भारत के राज्यों में कांग्रेस का सफाया हो गया। प्रथम बार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और

हिमाचल प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी जबकि बिहार और उड़ीसा में जनता दल की और पश्चिम बंगाल में वामपंथी मोर्चे की सरकार का गठन हुआ। दक्षिण के अधिकांश राज्यों में कांगेस ही सरकार गठित करने में सफल हुई। वर्तमान काल में राज्यों की राजनीति का स्वरूप पूर्णरूपेण ही परिवर्तित हो गया है। भारतीय जनता पार्टी ने अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण को अपनी राजनीति का मुख्य आधार बनाया जिसके फलस्वरूप 06 दिसम्बर, 1992 को आयोध्या स्थित विवादित ढांचा ध्वस्त कर दिया गया। इस घटना के कारण देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिक दंगे हुए और चार राज्यों की भारतीय जनता पार्टी सरकारों को केंद्र ने पदमुक्त कर वहां राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

वर्तमान समय में राज्यों की राजनीति में गुटबन्दी, भ्रष्टाचार, संकुचित दृष्टिकोण, धार्मिक उन्माद और सांप्रदायिक विद्वेशों का बोलबाला है। परिणामस्वरूप राज्यों की राजनीति में अस्थिरता उत्पन्न हो गई है जो देश की एकता तथा आर्थिक विकास के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

4.3.1 सिवल सेवा : केंद्र–राज्य सिविल सेवा

नई अखिल भारतीय सेवा या केंद्रीय सेवाओं के गठन के लिए संविधान, राज्य सभा को दो–तिहाई बहुमत द्वारा इसे भंग करने की क्षमता द्वारा अधिक सिविल शाखाओं को स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है। भारतीय वन सेवा और भारतीय विदेश सेवा, दोनों सेवाओं को संवैधानिक प्रावधान के तहत स्थापित किया गया है। सिविल सेवाओं की जिम्मेदारी भारत के प्रशासन को प्रभावी ढंग से और कुशलतापूर्वक चलाने की है।

यह माना जाता है कि भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के प्रशासन को अपने प्राकृतिक, आर्थिक और मानव संसाधनों के कुशल प्रबंधन की आवश्यकता है। मंत्रालय के निर्देशानुसार नीतियों के तहत कई केंद्रीय एजेंसियों के माध्यम से देश को प्रबंधित किया जाता है। सिविल सेवाओं के सदस्य केंद्र सरकार और राज्य सरकार में प्रशासक के रूप में, विदेशी दूतावासों एवं मिशनों में दूतों, कर संग्राहक और राजस्व आयुक्त के रूप में, सिविल सेवा कमीशन पुलिस अधिकारियों के रूप में, आयोगों और सार्वजनिक कंपनियों में एक्जीक्यूटिव के रूप में और स्थायी रूप से संयुक्त राज्य के प्रतिनिधित्व और इसकी एजेंसियों के रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।

ब्रिटिश काल में भारतीय प्रशासनिक सेवाएं, इंडियन सिविल सर्विस या संक्षेप में आई.सी.एस नाम से जानी जाती थीं। ये ब्रिटिश भारत सरकार द्वारा दी गईं अभिजात वर्गीय नागरिक सेवाएं थीं, जो अब बदल कर अल्पकालिक नागरिक सेवाओं के रूप में मौजूद हैं, लेकिन फिलहाल वर्तमान में इनका रूप एकदम अलग है। कोलोनियल सिविल सेवा–ईस्ट इंडिया कंपनी के दौर में, इन सेवाओं के प्रार्थी, एच.ई.आई.सी.एस (सम्मानित ईस्ट इंडिया कंपनी नगर सेवक) कहलाते थे। भारत में इसके ब्रिटिश स्थापना काल में नगर सेवकों (सिविल सर्वेंट्स) के दो समूह होते थे। उच्च पदस्थ–जो कंपनी के साथ कॉन्वेनेंट्स में आये, उन्हें कॉन्वेनेंटेड सेवक कहते थे।

अनकॉन्वेनेंटेड–जो किसी ऐसे अनुबंध में बंधे नहीं थे। यह समूह प्रायः अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर तैनात होता था।

यह अनुबंधित होने के कारण उत्पन्न होने वाला भेदभाव, इंपीरियल सिविल सर्विस ऑफ इंडिया के गठन, जो लोक सेवा आयोग (पब्लिक सर्विस कमीशन) 1886–87 की सिफारिश से गठित हुई थी, बाद समाप्त हो गया। हां कॉन्वेनेंटेड शब्द लम्बी अवधि तक सेवा संलग्न पद के लिये इस्तेमाल होता रहा। इंपीरियल सिविल सर्विस नाम को सिविल सर्विस ऑफ इंडिया में बदल दिया गया। किंतु इंडियन सिविल सर्विस पद बना रहा। लोक सेवकों का पहला दायित्व जनता पर केवल अपने अधिकारों का प्रयोग करना ही नहीं बल्कि उनकी सेवा करना है।

सिविल सेवाओं का आज भी अपना एक अलग मकाम है। विकासशील योजना और उसके क्रियान्वयन के द्वारा अति विशाल राष्ट्र निर्माण कार्य में लोगों के सक्रिय सहयोग के लिए सामान्य व्यक्ति के प्रति लोक सेवकों के व्यवहार और आचरण में सुधार होना आवश्यक है और उनके व्यवहार और आचरण में यह सुधार सामान्य व्यक्ति को दृष्टिगोचर भी होना चाहिए।

लोक सेवक प्रजातांत्रिक तरीकों से योजना विकास कार्य हाथ में लेने वाले कल्याणकारी राज्य के विशेष दायित्वों को अनुभव करते हैं, जिसके लिए सभी स्तरों पर लोगों का स्वेच्छा से सहयोग अनिवार्य है। यह सहयोग सभी स्तरों पर लोक सेवकों के केवल शिष्ट व्यवहार द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। लोक सेवकों के इस शिष्ट और सहायतापूर्ण रवैये द्वारा जनता को लोक सेवकों के प्रति जिम्मेदार, नियंत्रित और शिष्टतापूर्वक ढंग से व्यवहार करना है। कुल मिलाकर सरकारी तंत्र और विशेष रूप से उसके वे अंग, जिनका जनता के साथ सीधा संपर्क है, सहायता पूर्ण रवैया अपनाते और मामलों को शीघ्रतापूर्वक निपटाते हैं।

यदि किसी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध कोई ऐसी शिकायत प्राप्त हो कि उसने अपने कार्य में जनता के साथ अशिष्ट व्यवहार किया है या विलंबकारी तरीके अपनाए हैं और यह स्थापित हो जाए कि उसने ऐसा किया है तो उसके विरुद्ध निवारक कार्यवाही जल्द की जाती है। भारतीय सिविल सेवा, जिसे केवल सिविल सेवा के नाम से भी जाना जाता है, सिविल सेवा है और इसमें गणतांत्रिक भारतीय सरकार की स्थायी नौकरशाही होती है।

भारत के संसदीय लोकतंत्र में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों, जो कि मंत्रीगण होते हैं, उनके साथ वे प्रशासन को चलाने के लिए जिम्मेदार होते हैं। ये मंत्री विधायिकाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं, जिनका निर्वाचन सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर आम जनता के हाथों होता है। मंत्रीगण परोक्ष रूप से लोगों के लिए भी जिम्मेदार हैं, लेकिन आधुनिक प्रशासन की कई समस्याओं के साथ मंत्रीगण द्वारा व्यक्तिगत रूप से उनसे निपटने की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

इस तरह से मंत्रियों ने नीतियों का निर्धारण किया और नीतियों के निर्वाह के लिए सिविल सेवकों की नियुक्ति की जाती है। कार्यकारी निर्णय भारतीय सिविल सेवकों द्वारा

कार्यान्वित किया जाता है। सिविल सेवक भारतीय संसद के नहीं भारत सरकार के कर्मचारी हैं। सिविल सेवकों के पास कुछ पारंपरिक और सांविधिक दायित्व भी होते हैं, जो कि कुछ हद तक सत्ता में पार्टी को राजनैतिक शक्ति के लाभ का इस्तेमाल करने से बचाता है।

वरिष्ठ सिविल सेवक संसद के स्पष्टीकरण के लिए जवाबदेह हो सकते हैं। सिविल सेवा में सरकारी मंत्रियों (जिनकी नियुक्ति राजनैतिक स्तर पर की गई हो), संसद के सदस्यों, विधानसभा विधायी सदस्य, भारतीय सशस्त्र बलों, गैर–सिविल सेवा पुलिस अधिकारियों और स्थानीय सरकारी अधिकारियों को शामिल नहीं किया जाता है।

भारतीय सिविल सेवा की संरचना

सिविल सेवा का निर्माण एक निश्चित पैटर्न का अनुसरण करता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा और केन्द्रीय सिविल सेवा (दोनों ग्रेड ए और बी) केवल मौजूदा आधुनिक भारतीय सिविल सेवा का गठन करते हैं। इसमें आवेदन करने वाले विश्वविद्यालय के स्नातक होते हैं जिनकी भर्ती लिखित और मौखिक परीक्षाओं की एक कठिन प्रणाली के माध्यम से की जाती है। भारतीय सिविल सेवा के संभावित उम्मीदवारों (सभी तीन सेवाओं) और केन्द्रीय सिविल सेवा (दोनों ग्रेड ए और बी) की नियुक्ति संघ लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है।

अखिल भारतीय सिविल सेवा

- भारतीय प्रशासनिक सेवा
- भारतीय वन सेवा
- भारतीय पुलिस सेवा

केन्द्रीय सिविल सेवा

केंद्रीय सेवाएं, केंद्रीय सरकार के प्रशासन के साथ संबंधित हैं। ये विदेशी मामलों, रक्षा, आयकर, सीमा शुल्क जैसे विषयों के साथ संबंधित हैं। इन सेवाओं के अधिकारी केंद्रीय सरकार के अधिकारियों द्वारा भर्ती किए जाते हैं।

ग्रुप 'ए'

- भारतीय विदेश सेवा, ग्रुप 'ए'
- केंद्रीय सचिवालय सेवा ग्रुप 'ए' (ग्रेड चयन और ग्रेड I अधिकारी)
- पुरातत्व सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय वानस्पतिक सर्वेक्षण, ग्रुप 'ए'
- केंद्रीय इंजीनियरिंग सेवा (सिविल) ग्रुप 'ए'
- केंद्रीय इंजीनियरिंग (इलेक्ट्रिकल और मैकेनिकल) ग्रुप 'ए' सेवा
- केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा, ग्रुप 'ए'
- केंद्रीय राजस्व रासायनिक सेवा, ग्रुप 'ए'

टिप्पणी

- सामान्य केंद्रीय सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण, ग्रुप 'ए'
- भारतीय लेखा परीक्षा और लेखा सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय सिविल लेखा सेवा
- भारतीय रक्षा लेखा सेवा
- भारतीय मौसम सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय डाक सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय डाक और टेलीग्राफ यातायात सेवा, ग्रुप 'क'
- भारतीय राजस्व सेवा, ग्रुप 'ए' (सीमा शुल्क शाखा, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क शाखा और आयकर शाखा)
- भारतीय नमक सेवा, ग्रुप 'ए'
- व्यापारिक समुद्री प्रशिक्षण पोत सेवा, ग्रुप 'ए'
- खान सुरक्षा महानिदेशालय, ग्रुप 'ए'
- विदेशी संचार सेवा, ग्रुप 'ए'
- सर्वे ऑफ इंडिया, ग्रुप 'ए'
- भारतीय दूरसंचार सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारत की जूलॉजिकल सर्वे, ग्रुप 'ए'
- भारतीय सिविल सेवा फ्रंटियर, ग्रुप 'ए' (ग्रेड–I और ग्रेड II अधिकारी)
- केंद्रीय न्यायिक सेवा (ग्रेड I, II, III और IV)
- रेलवे निरीक्षणालय सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय विदेश सेवा, शाखा (बी) (पूर्व) (सामान्य संवर्ग, ग्रेड I और सामान्य संवर्ग, ग्रेड II)
- दिल्ली तथा अंडमान और निकोबार द्वीप ग्रुप सिविल सेवा, ग्रेड I
- दिल्ली और अंडमान और निकोबार द्वीप पुलिस सेवा, ग्रेड II
- भारतीय निरीक्षण सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय आपूर्ति सेवा, ग्रुप 'ए'
- केन्द्रीय सूचना सेवा (चयन ग्रेड, वरिष्ठ प्रशासनिक ग्रेड, जूनियर प्रशासनिक ग्रेड, ग्रेड I और ग्रेड II)
- भारतीय सांख्यिकी सेवा
- भारतीय आर्थिक सेवा
- टेलीग्राफ यातायात सेवा, ग्रुप 'ए'
- केन्द्रीय जल अभियांत्रिकी सेवा, ग्रुप 'ए'

टिप्पणी

- सेंट्रल पावर इंजीनियरिंग सर्विस, ग्रुप 'ए'
- कंपनी लॉ बोर्ड सेवा
- केंद्रीय पूल के श्रम अधिकारियों, ग्रुप 'ए'
- केंद्रीय इंजीनियरिंग सेवा (सड़क), ग्रुप 'ए'
- भारतीय डाक और टेलीग्राफ लेखा और वित्त सेवा, ग्रुप 'ए'
- भारतीय प्रसारण (इंजीनियर्स) सेवा
- केंद्रीय व्यापार सेवा, ग्रुप 'ए'
- सशस्त्र बलों के मुख्यालय सिविल सेवा (ग्रुप 'ए')
- केंद्रीय सचिवालय राजभाषा सेवा (ग्रुप 'ए')

ग्रुप 'बी'

- केंद्रीय सचिवालय सेवा, ग्रुप 'बी' (धारा और सहायक ग्रेड अधिकारी)
- केंद्रीय सचिवालय राजभाषा सेवा, ग्रुप 'बी'
- केंद्रीय सचिवालय आशुलिपिक सेवा, (ग्रेड I, ग्रेड II और चयन ग्रेड अधिकारी)
- केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा, ग्रुप 'बी'
- भारतीय मौसम सेवा, ग्रुप बी
- डाक अधीक्षकों सेवा, ग्रुप 'बी'
- पोस्टमास्टर सेवा, ग्रुप 'बी'
- टेलीकम्युनिकेशन इंजीनियरिंग सेवा, ग्रुप 'बी'
- भारतीय डाक और टेलीग्राफ लेखा और वित्त सेवा, ग्रुप 'बी' दूरसंचार विंग.
- भारतीय डाक एवं टेलीग्राफ लेखा एवं वित्त सेवा, डाक विंग, ग्रुप 'बी'
- तार यातायात सेवा, ग्रुप बी
- केन्द्रीय उत्पाद शुल्क सेवा, ग्रुप 'बी'
- मूल्यांकन सीमा शुल्क सेवा, ग्रुप 'बी' (प्रधान मूल्यांक और मुख्य मूल्यांक)
- सीमा शुल्क निवारक सेवा, ग्रुप 'बी' – (मुख्य निरीक्षक)
- रक्षा सचिवालय सेवा
- केंद्र शासित प्रदेश प्रशासनिक सेवा
- केंद्र शासित प्रदेश पुलिस सेवा

राज्य सिविल सेवा

राज्य सिविल सेवा परीक्षाओं और भर्ती का आयोजन भारत के व्यक्तिगत राज्यों द्वारा किया जाता है। राज्य सिविल सेवा भूमि, राजस्व, कृषि, वन, शिक्षा जैसे विषयों के साथ

जुड़ी है। राज्य नागरिक सेवाओं के अधिकारियों की भर्ती विभिन्न राज्यों द्वारा राज्य लोक सेवा आयोगों के माध्यम से की जाती है। राज्य सेविल सेवा (एससीएस) परीक्षा के माध्यम से चयनित किए गए छात्रों की निम्नलिखित सेवाओं की श्रेणी है–

- राज्य सिविल सेवा, क्लास–I (पी.सी.एस) प्रावेन्सियल सिविल सर्विस
- राज्य पुलिस सेवा, क्लास–I (पी.पी.एस) प्रावेन्सियल पुलिस सर्विस
- ब्लॉक डेवलपमेंट अधिकारी
- राजस्व (प्रशासनिक) सेवा
- तहसीलदार / तालुकदार / सहायक कलेक्टर
- उत्पाद शुल्क और कराधान अधिकारी
- रोजगार अधिकारी जिला
- खजाना अधिकारी जिला
- जिला कल्याण अधिकारी
- सहायक रजिस्ट्रार सहकारी सोसायटी
- जिला खाद्य एवं आपूर्ति अधिकारी / नियंत्रक
- किसी भी अन्य क्लास–I / क्लास–II सेवा नियमों के अनुसार संबंधित राज्य द्वारा अधिसूचित

भारतीय सिविल सेवा के प्रमुख

सर्वोच्च रैंकिंग सिविल सेवक गणतंत्र भारत के मंत्रिमंडल सचिवालय का प्रमुख होता है जो कि कैबिनेट सचिव भी होता है। वह भारत गणराज्य की सिविल सेवा बोर्ड का पदेन और अध्यक्ष होता है। वह भारतीय प्रशासनिक सेवा का अध्यक्ष और भारतीय सरकार के व्यापार नियम के तहत सभी नागरिक सेवाओं का अध्यक्ष होता है।

पद धारकों को यह सुनिश्चित करना होता है कि वे सिविल सेवा कौशल और क्षमता के साथ अधिग्रहित हैं और उनमें रोजमर्रा की चुनौतियों का सामना करने की क्षमता है और सिविल सेवक एक निष्पक्ष और सभ्य वातावरण में काम करने कि लिए जवाबदेह होता है।

नाम	तिथियां
एन.आर. पिल्लै	1950 से 1953
वाय.एन सुकथांकर	1953 से 1957
एम. के वेलोडी	1957 से 1958
विष्णु सहाय	1958 से 1960
बी.एन. झा	1960 से 1961
विष्णु सहाय	1961 से 1962
एस.एस. खेरा	1962 से 1964

धरम वीरा	1964 से 1966
डी.एस. जोशी	1966 से 1968
बी. सिवरमन	1968 से 1970
टी. स्वामीनाथन	1970 से 1972
बी.डी. पाण्डे	1972 से 1977
एन.के. मुखर्जी	1977 से 1980
एस.एस. ग्रेवाल	1980 से 1981
सी.आर कृष्णास्वामी राव	1981 से 1985
पी.के.कॉल	1985 से 1986
बी.जी. देशमुख	1986 से 1989
टी.एन सेशन	1989 से 1989
वी.सी. पाण्डे	1989 से 1990
नरेश चंद्रा	1990 से 1992
एस. राजगोपाल	1992 से 1993
जफर सैफुल्लाह	1993 से 1994
सुरेन्द्र सिंह	1994 से 1996
टी.एस.आर. सुब्रमण्यम	1996 से 1998
प्रभात कुमार	1998 से 2000
टी.आर. प्रसाद	2000 से 2002
कमल पांडे	2002 से 2004
बी.के. चतुर्वेदी	2004 से 2007
के.एम. चंद्रशेखर	2007 से 2011
ए. के. सेथ	2011 से अब तक

4.3.2 स्थानीय प्रशासनिक सेवा

स्थानीय जिला प्रशासन : जिले का सामान्य प्रशासन उपायुक्त के पास निहित होता है, जो प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए, विभागीय आयुक्त के अधीन है। उपायुक्त के रूप में, वह जिले का कार्यकारी प्रमुख है, जिसकी विकास, पंचायत, स्थानीय निकाय, नागरिक प्रशासन इत्यादि से संबंधित कई जिम्मेदारियां हैं। जिला मजिस्ट्रेट के रूप में, वह कानून व्यवस्था के लिए जिम्मेदार है और पुलिस और अभियोजन एजेंसी का नेतृत्व करता है। कलेक्टर के रूप में, वह राजस्व प्रशासन का मुख्य अधिकारी है और भूमि राजस्व के संग्रह के लिए जिम्मेदार है। वह पंजीकरण कार्य के लिए जिला निर्वाचन अधि

ाकारी और रजिस्ट्रार के रूप में कार्य करता है। वह अपने जिले में अन्य सरकारी एजेंसियों पर अधिकतर पर्यवेक्षण का प्रयोग करता है। वह जिला प्रशासन का प्रमुख, विभिन्न विभागों के बीच एक समन्वयक अधिकारी और जनता और सरकार के बीच एक कनेक्टिंग लिंक है। वह नीतियों को निष्पादित करता है, समय–समय पर सरकार द्वारा बनाए गए नियमों और विनियमों का प्रबंधन करता है।

जिला कलेक्टर के रूप में

उपायुक्त जिले में राजस्व प्रशासन का उच्चतम अधिकारी है। राजस्व मामलों में, वह विभागीय आयुक्त और वित्तीय आयुक्त, राजस्व के माध्यम से सरकार के लिए जिम्मेदार है। वह भूमि राजस्व, अन्य प्रकार के सरकारी करों, फीस और भूमि राजस्व के बकाया के रूप में वसूल करने योग्य सभी बकाया राशि के संग्रह के लिए जिम्मेदार है। वह भूमि के संबंध में अधिकारों के सटीक और अपरिवर्तनीय रिकॉर्ड के रखरखाव को सुनिश्चित करने के लिए जिम्मेदार है। वह पटवारी और तहसील कार्यालयों में और उप–मंडल अधिकारी (सिविल) और उप आयुक्त के कार्यालयों में उप–आयुक्त कार्यालय के अधीक्षक के मामले को छोड़कर अधीनस्थ राजस्व के लिए नियुक्त अधिकारी के लिए नियुक्ति प्राधिकारी भी है। कर्मचारी जिला कलेक्टर के रूप में, वह जिले में सबसे ज्यादा राजस्व न्यायिक प्राधिकरण है।

जिला मजिस्ट्रेट के रूप में

जिले में कानून और व्यवस्था के रखरखाव के लिए उपायुक्त जिम्मेदार है। वह आपराधिक प्रशासन का प्रमुख है और जिले में सभी कार्यकारी मजिस्ट्रेटों की देखरेख करता है और पुलिस के कार्यों को नियंत्रित और निर्देशित करता है। जिले में जेलों और लॉक–अप के प्रशासन पर उसकी पर्यवेक्षी शक्तियां हैं। जिला कलेक्टर और जिला मजिस्ट्रेट के रूप में उपर्युक्त कर्तव्यों के अलावा, वह विस्थापित व्यक्तियों (मुआवजा और पुनर्वास) अधिनियम, 1 9 54 के तहत उप कस्टोडियन के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अतिरिक्त उपायुक्त

अतिरिक्त उपायुक्त डीआरडीए का मुख्य कार्यकारी अधिकारी है। अतिरिक्त उपायुक्त का पद उपायुक्त की सहायता के लिए बनाया गया है। अतिरिक्त उपायुक्त नियमों के तहत उप आयुक्त के समान शक्तियों का प्रयोग करता है।

एसडीएम और उपमंडल अधिकारी

उप–मंडल अधिकारी (सिविल) सब–डिवीजन का मुख्य सिविल अधिकारी है। वास्तव में, वह अपने सब–डिवीजन का एक लघु उपायुक्त है। उप–विभाजन में काम समन्वय करने के लिए उसके पास पर्याप्त शक्तियां हैं। वह तहसीलदारों और उनके कर्मचारियों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण का प्रयोग करता है। वह नियमित मामलों पर सरकार और अन्य विभागों के साथ सीधे मेल खाता है। उनके मुख्य कर्तव्यों में राजस्व, कार्यकारी और न्यायिक कार्य शामिल हैं। राजस्व मामलों में, वह सहायक कलेक्टर प्रथम श्रेणी है

लेकिन कुछ कृत्यों के तहत कलेक्टर की शक्तियां उसे सौंपी गई हैं। अपने अधिकार क्षेत्र में राजस्व, मजिस्ट्रेट, कार्यकारी और विकास मामलों से संबंधित उप मंडल अधिकारी की शक्तियां और जिम्मेदारियां, उप आयुक्त के समान हैं।

टिप्पणी

सिटी मजिस्ट्रेट

वह उपायुक्त के तहत मुख्य प्रशासनिक अधिकारी है और उसे सभी कार्यकारी और प्रशासनिक कार्यों में सहायता करता है। उसे जिले में यात्रा करने की आवश्यकता नहीं होती है लेकिन कार्यालय के काम की निगरानी के लिए वह मुख्यालय में रहता है। वह जिला निर्वाचन अधिकारी के रूप में भी कार्य करता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त जनरल सहायक कई विविध कामों में भाग लेता है।

4.3.3 भर्ती

औपनिवेशिक भारतीय प्रशासनिक सेवा को विस्थापित करते हुए संविधान में भारतीय लोक सेवा अथवा प्रशासनिक सेवा को स्थापित किया गया है एवं सुनिश्चित किया गया है कि चयनित क्षेत्रों में प्रशासन में एकरूप व निष्पक्ष मापदंड हों, सामाजिक व आर्थिक विकास में प्रभावी समन्वय को बढ़ावा मिले तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रोत्साहित हो। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा नियुक्त नवागंतुक विश्वविद्यालयीन स्नातक होते हैं जिन्हें लिखित व मौखिक परीक्षाओं की दृढ़ प्रणाली के माध्यम से चुना जाता है।

केंद्रीय लोक सेवाएं किसी बड़े संगठन की भांति हैं, जिनके स्टाफ में विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी होते हैं—डाक सेवा, लेखा सेवा एवं लेखा—परीक्षण, भारतीय विदेश सेवा इत्यादि। राज्यों (दिल्ली व अन्य संघशासित क्षेत्रों को छोड़कर) के पास अपने—अपने अधिकार—क्षेत्र में स्वतंत्र सेवाएं होती हैं, जिनका विनियमन स्थानीय विधियों (कानूनों) एवं लोक सेवा आयोगों के द्वारा किया जाता है। राज्यपाल प्रायः राज्य लोक सेवा आयोग के अनुमोदन पर राज्य लोक सेवाओं के सदस्यों को नियुक्त करता है। व्यापक विस्तार में शीर्षस्थ प्रशासनिक पदों को भरने के लिए राज्यों की निर्भरता राष्ट्रीय निकायों यथा भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं भारतीय पुलिस सेवा पर होती है।

भर्ती का सामान्य अर्थ है विभिन्न सरकारी नौकरियों के लिए योग्य व्यक्तियों को बहाल करना। सामान्यतः 'भर्ती' शब्द का प्रयोग 'नियुक्ति' शब्द के समानार्थी रूप में ही किया जाता है। लोक प्रशासन में भर्ती का तात्पर्य परीक्षा के आधार पर नियुक्ति से है।

प्रो. एल.डी. ह्वाइट ने भर्ती की परिभाषा करते हुए लिखा है, ''प्रतियोगिता परीक्षाओं, रिक्त स्थानों एवं पदों के लिए व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है।''

डिमॉक के अनुसार, ''विशिष्ट कार्यों के लिए उचित व्यक्तियों को प्राप्त करना और कर्मचारियों के बड़े समूह के विज्ञापन निकालना या विशेष कार्य के लिए किसी उच्च दक्षता प्राप्त व्यक्ति की खोज ही भर्ती है।''

वस्तुतः भर्ती ही शक्तिशाली लोक सेवा की कुंजी है। मि. स्आल का कथन है, ''यह लोक कर्मचारियों के सम्पूर्ण ढांचे की आधारशिला है।''

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भर्ती एक व्यापक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से लोक प्रशासन में योग्य कर्मचारियों का चयन और संगठन किया जाता है और उन्हें उनके पदों पर नियुक्त कर प्रशासन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

टिप्पणी

भर्ती से तात्पर्य यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए योग्य व्यक्तियों की खोज के प्रयास किए जाएं। चयन करते समय चयनकर्ता का लक्ष्य केवल कुशल और योग्यतम व्यक्तियों का चयन होना चाहिए। सकारात्मक अवधारणा में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि केवल योग्य व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाए। किंग्सले के अनुसार सकारात्मक भर्ती की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(क) पद तथा पदोन्नति क्रम पर बल।
(ख) योग्य व्यक्तियों की व्यापक खोज पर बल।
(ग) अयोग्य व्यक्तियों को हटाने के लिए नियुक्ति पूर्व शिक्षा पर बल।
(घ) विभागों के पारस्परिक सहयोग तथा शांतिमय संबंधों पर बल।

भर्ती की समस्याएं

प्रो. बिलोबी ने कर्मचारियों की भर्ती की समस्या के प्रति निम्नलिखित बातों पर विचार करने की सलाह दी है–

1. भर्ती का अधिकार किसे होना चाहिए?
2. सरकारी कर्मचरियों की भर्ती कहां से की जाए – भीतर से या बाहर से?
3. भिन्न–भिन्न पदों पर भर्ती के लिए क्या योग्यताएं हों?
4. उम्मीदवारों की योग्यता का निर्धारण किस प्रकार किया जाना चाहिए– परीक्षाओं के आधार पर या साक्षात्कार के आधार पर?
5. योग्यता का निर्धारण करने के लिए प्रशासकीय व्यवस्था क्या हो?

भर्ती करने वाली सत्ता का निश्चयन

लोक सेवाओं में भर्ती का अधिकार किस व्यक्ति को दिया जाए, यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। मोटे रूप से इस समस्या के संबंध में दो मत हैं–प्रथम, यह सत्ता प्रत्यक्षतः जनता में निहित होनी चाहिए, द्वितीय, यह सत्ता सरकार के किसी अंग में निहित की जानी चाहिए। प्रथम मत के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि सच्चा लोकतंत्र तभी संभव है, जब देश के सभी सर्वोच्च अधिकारी प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुने जाएं, अर्थात उनका निर्वाचन हो। द्वितीय मत के पक्ष में तर्क यह है कि केवल विधान मंडल तथा मुख्य कार्यपालिका के सदस्यों को ही लोगों द्वारा चुना जाना चाहिए और अन्य पदाधिकारियों की भर्ती एक निश्चित प्रणाली द्वारा की जानी चाहिए। उन्हें भर्ती करने की शक्ति सरकार के किसी अंग अथवा लोक सेवा आयोग में निहित कर देनी चाहिए।

उक्त दोनों मतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से दूसरा मत उत्तम है।

भर्ती की पद्धतियां

भर्ती की दो पद्धतियां प्रचलित हैं– प्रत्यक्ष या बाहर से भर्ती और अप्रत्यक्ष या भीतर से भर्ती। इसे 'प्रत्यक्ष भर्ती बनाम पदोन्नति भर्ती' भी कहा जाता है। यदि पहला मार्ग अपनाया जाता हैं तो उसे 'प्रत्यक्ष भर्ती' या बाहर से भर्ती या सीधी भर्ती' की पद्धति कहा जाता है। दूसरी पद्धति में पहले से सेवारत लोगों को ही निम्न पदों से उच्चतर पदों पर प्रोन्नत कर दिया जाता है। इस पद्धति के लाभदायक होने के कारण इसका उपयोग अधिक किया जाता है।

प्रत्यक्ष भर्ती के गुण

(क) इस पद्धति का सबसे पहला गुण यह है कि इसमें प्रत्येक स्तर पर योग्य लोगों के चयन के विकल्प असीम होते हैं।

(ख) इस पद्धति में सेवा के प्रत्येक स्तर पर नवयुवकों का प्रवेश होता है, जिससे शासन में गतिशीलता बनी रहती है।

(ग) यह पद्धति सेवा के भीतर और सेवा के बाहर के लोगों के बीच भेदभाव नहीं करती और सबके लिए समान अवसर की जनतंत्रात्मक धारणा पर आधारित होती है।

(घ) इस पद्धति में कर्मचारियों में काम करने का अधिक उत्साह रहता है। इसका कारण यह है कि सेवा में नये–नये लोग नियुक्त होते रहते हैं।

प्रत्यक्ष भर्ती के दोष

(क) इसमें सेवा के उच्च पदों पर अनुभवहीन व्यक्ति नियुक्त कर दिए जाते हैं। वे विभाग के जटिल कार्यों को उतनी क्षमता के साथ संपन्न नहीं कर सकते जितनी कि विभाग के अनुभवी कर्मचारी।

(ख) इसमें सरकारी सेवा में पहले से लगे कर्मचारियों को पदोन्नति के पर्याप्त अवसर नहीं मिलते। इसके फलस्वरूप निम्न श्रेणियों के पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों का उत्साह ठंडा पड़ जाता है।

(ग) इस पद्धति के फलस्वरूप कई बार अनुभवहीन नवयुवकों के अधीन कुशल, वृद्ध और अनुभवी व्यक्तियों को कार्य करना पड़ता है जिससे उनके सम्मान और गरिमा को ठेस पहुंचती है।

(घ) इस पद्धति में सेवा के विभिन्न स्तरों के पदों पर बाहर के लोगों को नियुक्त किया जाता है, जो विभागीय तौर–तरीकों से अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए सरकार को अतिरिक्त व्यय का बोझ उठाना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष भर्ती के गुण

(क) इस विधि से सरकारी सेवकों का चयन करने में उच्च पदों के लिए ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जिन्हें सरकारी सेवाओं का पर्याप्त अनुभव होता है।

(ख) इसमें कर्मचारियों को पदोन्नति के प्रचुर अवसर प्राप्त होते हैं, अतः वे अधिक लगन और उत्सह से काम करते हैं। इससे प्रशासकीय क्षमता में वृद्धि होती है।

(ग) इस पद्धति में धन की बचत होती है। उन्नति की अधिक संभावनाओं के कारण कर्मचारी कम वेतन पर काम करने को तैयार रहते हैं। इससे सरकारी प्रशासन का व्यय कम हो जाता है।

टिप्पणी

(घ) इसमें योग्य व्यक्ति उपलब्ध रहते हैं। यह पद्धति परीक्षा पद्धति से अच्छी है, क्योंकि इसमें उन्हीं कर्मचारियों को ऊंचे पद दिए जाते हैं, जिनके चरित्र और स्वभाव का उच्च अधिकारियों को ज्ञान होता है और जो सरकारी कार्यों के संपादन का पूरा ज्ञान रखते हैं।

अप्रत्यक्ष भर्ती के दोष

(क) पदोन्नति से भर्ती के कारण सेवाओं से बाहर के लोगों की उच्च पदों पर भर्ती नहीं हो पाती है।

(ख) इस पद्धति में सरकारी सेवाओं में साधारण अथवा मध्यम योग्यता वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है, जिससे शासन की कार्यकुशलता कम होने लगती है।

(ग) इस पद्धति से भर्ती के कारण कर्मचारियों में कर्तव्य पालन में शिथिलता की प्रवृत्ति होती है। वे जानते हैं कि उच्चतर पदों पर उन्हीं की नियुक्ति (पदोन्नति) होगी, इसलिए वे अधिक परिश्रम नहीं करते और अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं।

निष्कर्ष– भर्ती की उक्त दोनों पद्धतियों की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से कोई भी पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं है। यदि लोक कर्मचारियों के चयन के लिए दोनों पद्धतियों को न्यूनाधिक अनुपात में मिलाकर उपयोग में लाया जाए, तो उत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। सेवा की अधिकतर निचली श्रेणियों में सीधी भर्ती की प्रणाली का प्रयोग किया जाना चाहिए और उच्च पदों के लिए भीतर से अर्थात अप्रत्यक्ष भर्ती या पदोन्नति का नियम अपनाना चाहिए। इनके बीच के अर्थात मध्यम श्रेणी के पदों के लिए उचित तरीका यह होगा कि कुछ स्थानों पर प्रत्यक्ष पद्धति के आधार पर भर्ती की जाए और शेष स्थानों पर अप्रत्यक्ष पद्धति के आधार पर।

व्यवहार में उच्च पदों के लिए लगभग सभी देशों में दोनों ही पद्धतियों का प्रयोग होता है। भारत सरकार में कनिष्ठ लिपिकों के सभी पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती की पद्धति के आधार पर नियुक्ति की जाती है और वरिष्ठ लिपिकों के सभी पदों पर अप्रत्यक्ष भर्ती के आधार पर पहले से सेवारत कर्मचारियों की पदोन्नति की जाती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) में सीधी भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से की जाती है, लेकिन 33.1 प्रतिशत स्थानों पर राज्य सरकारों की अनुशंसा के आधार पर राज्य सिविल सेवाओं के कर्मचारियों की पदोन्नति के साथ बहाली की जाती है।

लोक सेवाओं के लिए आवश्यक अर्हताएं

लोक सेवा में प्रवेश हेतु पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों की अर्हताओं का निर्धारण करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। कतिपय विद्वानों का मत है कि 'समानता के सिद्धांत' के आधार पर सभी सार्वजनिक पद सभी व्यक्तियों के लिए खुले रखने चाहिए। शैक्षणिक अथवा

टिप्पणी

अन्य योग्यताएं निर्धारित करने से चयन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। परंतु आम तौर पर माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति हर एक पद के लिए उपयुक्त अथवा योग्य नहीं होता, इसीलिए विभिन्न सरकारी पदों के लिए कुछ अर्हताएं होनी चाहिए, जो पूर्व निर्धारित हों।

लोक सेवा में प्रवेश के लिए दो प्रकार की अर्हताएं निर्धारित हैं– सामान्य तथा विशेष। सामान्य योग्यता सभी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य होती है और विशेष योग्यता विशिष्ट नौकरी के लिए निर्धारित की जाती है।

(क) सामान्य अर्हताएं– सामान्य अर्हताएं इस प्रकार हैं–1. नागरिकता 2. अधिवास 3. लिंग तथा 4. आयु।

1. **नागरिकता** : लोक सेवा में भर्ती हेतु आवेदन करने वालों के लिए राज्य का नागरिक होना आवश्यक है। यदि कोई विदेशी नियुक्त कर भी लिया जाता है, तो उसका कार्यकाल थोड़े समय के लिए ही होता है।
2. **अधिवास** : शासकीय सेवा के लिए अधिवास की अर्हता भी आवश्यक अर्हता है। इसके अनुसार अभ्यर्थी को अपने क्षेत्र और देश का स्थायी वासी होना जरूरी है। यह इसलिए भी जरूरी है कि अभ्यर्थी को अपने अधिवास की पर्याप्त जानकारी हो।
3. **लिंग** : लोक सेवाओं में लैंगिक आधार पर स्त्रियों को भर्ती से वंचित नहीं रखा जा सकता। उन्हें सेवाओं में प्रवेश के अधिकार का लाभ देने हेतु बहुत–सी सेवाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, उन्हें प्राथमिकता दी जाती है। आज वे सैनिक तथा पुलिस सेवा तक में प्रवेश कर सकती हैं।
4. **आयु** : सरकारी कर्मचारी की भर्ती के लिए प्रायः सभी देशों में सामान्य योग्यता में आयु को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। विभिन्न सेवाओं में प्रवेश हेतु आयु की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएं निर्धारित होती हैं, जैसे कुछ देशों में प्रशासकीय सेवाओं में 20 से 24 वर्ष, कहीं 21 से 25 वर्ष, कहीं 21 से 28 वर्ष। भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों की सेवाओं में प्रवेश हेतु आयु की सीमा में भिन्नता है।

(ख) विशिष्ट अर्हताएं– इनमें शैक्षिक, आनुभविक, प्राविधिक आदि अर्हताएं आती हैं।

1. **शैक्षिक अर्हताएं** : लोक सेवा के अलग–अलग पदों के लिए अलग–अलग और न्यूनतम तथा अधिकतम शैक्षिक योग्यता निर्धारित होती है, जैसे भारत में मुख्य प्रशासकीय सेवाओं में भर्ती हेतु किसी भी विश्वविद्यालय की स्नातक की डिग्री अनिवार्य है।
2. **अनुभव** : कुछ सेवाओं में अनुभव का भी बहुत महत्व होता है। तकनीकी सेवाओं में अनुभवी व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाती है।
3. **प्राविधिक अनुभव** : आजकल सरकार को जटिल एवं विशिष्ट प्रकार के अनेकानेक कार्य करने पड़ते हैं। इन्हें पूरा करने के लिए सरकारी सेवाओं

में विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञ जैसे वैज्ञानिक, इंजीनियर, अर्थशास्त्री आदि नियुक्त किए जाते हैं।

योग्यता निर्धारित करने की विधियां

टिप्पणी

लोक कर्मचारियों की भर्ती के उद्देश्य से ली जाने वाली परीक्षाएं दो प्रकार की होती हैं– प्रतियोगिता परीक्षा और प्रतियोगिता रहित परीक्षा। प्रतियोगिता परीक्षाएं उम्मीदवारों की न्यूनतम निर्धारित योग्यता के साथ–साथ उनकी प्रतिभा की जांच के लिए ली जाती हैं। प्रतियोगिता रहित परीक्षाओं का ध्येय केवल यह पता लगाना है कि किन उम्मीदवारों में निम्नतम निर्धारित योग्यता है।

उम्मीदवारों की तुलनात्मक योग्यता और प्रतिभा की जांच करने के लिए निम्नलिखित परीक्षाओं का प्रावधान है–

(1) लिखित परीक्षा

(2) मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार

(3) कार्यकुशलता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन

(4) शिक्षा एवं अनुभव का मूल्यांकन

(5) बुद्धि परीक्षा अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन

1. **लिखित परीक्षा** : उम्मीदवारों की योग्यता की जांच करने के लिए प्रायः सभी देशों में सामान्यतः लिखित परीक्षाओं का प्रावधान है। स्टाल के अनुसार, ''लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा अथवा कार्यकुशलता की परीक्षा से तुलनात्मक रूप में अधिक सरल और सस्ती होती है, क्योंकि इसमें एक ही समय में अभ्यर्थियों की एक बड़ी संख्या की परीक्षा ली जा सकती है।''

   लिखित परीक्षा दो प्रधान उद्देश्यों के लिए ली जाती है। पहला उद्देश्य व्यक्ति के सामान्य बौद्धिक गुणों और मानसिक क्षमता का पता लगाना है। दूसरा उद्देश्य व्यक्ति के तकनीकी अथवा व्यावसायिक ज्ञान की जांच करना है। इंग्लैंड और भारत में इन परीक्षाओं का उद्देश्य उम्मीदवारों की सामान्य योग्यता का पता लगाना होता है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में लिखित परीक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की विशेष व्यावसायिक योग्यता का पता लगाना होता है।

2. **मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार** : लिखित परीक्षा उम्मीदवार के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय नहीं दे सकती। यह संभव है कि एक व्यक्ति लिखित में बहुत योग्य सिद्ध हो, किंतु उसके भीतर एक क्षमतावान और सफल प्रशासक अथवा कर्मचारी के लिए आवश्यक धैर्य, सतर्कता, निर्णय लेने की क्षमता जैसे गुणों का अभाव हो। मौखिक परीक्षा का प्रयोजन उम्मीदवार के व्यक्तित्व की जांच करना है ताकि उसका सही मूल्यांकन हो सके। इस पद्धति से अभ्यर्थियों की तर्क क्षमता, विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने की शक्ति, आदि की जांच की जाती है।

3. **कार्यकुशलता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन** : कार्यकुशलता परीक्षा विधि का उपयोग ऐसे पदों पर चयन के लिए किया जाता है, जिनमें कौशल की आवश्यकता होती है, जैसे टाइपिस्ट, स्टेनोग्राफर आदि। इन परीक्षाओं मे उम्मीदवार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने काम में कुशलता का प्रदर्शन करे।
4. **शिक्षा एवं अनुभव का मूल्यांकन** : इस पद्धति का उपयोग उन पदों हेतु चयन के लिए किया जाता है, जिनके लिए लिखित परीक्षाएं आवश्यक नहीं होतीं। कानून, चिकित्सा, विज्ञान आदि से संबंधित तथा विशेष योग्यता और अनुभव की आवश्यकता वाले प्रशासकीय पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन इस पद्धति के द्वारा किया जाता है। इस पद्धति में एक मंडल योग्यता का मूल्यांकन कर उम्मीदवारों का उनके साक्षात्कार के बाद नियुक्ति के लिए चयन करता है।
5. **बुद्धि परीक्षा अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन** : बुद्धि परीक्षा का उद्देश्य अभ्यर्थियों की मानसिक परिपक्वता का मूल्यांकन करना होता है। इसके आधार पर उम्मीदवारों के लिए विशेष अंक का प्रावधान होता है। वस्तुतः बुद्धि परीक्षा से उम्मीदवार की आंतरिक बौद्धिक क्षमता की जांच की जाती है।

   आजकल कुछ देशों में 'प्रवृत्ति परीक्षाएं' भी ली जाती हैं। इन मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं से इस बात का पता लगाया जाता है कि किस व्यक्ति का मन किस काम या व्यवसाय में अधिक लगता है।

अर्हताएं निश्चित करने वाले प्रशासकीय तंत्र का गठन

प्रशासकीय कर्मचारियों की नियुक्तियां योग्यता के आधार पर हों इसके लिए समस्त लोक सेवाओं में नियुक्तियों का मापदंड एक जैसा होना चाहिए। इसीलिए विश्व के प्रायः प्रत्येक देश में सरकारी कर्मचारियों की योग्यता निर्धारित करने के लिए एक प्रशासकीय तंत्र का गठन किया जाता है जो कर्मचारियों की निष्पक्षता से भर्ती की व्यवस्था करता है। भारतवर्ष में इस प्रशासकीय तंत्र का गठन केंद्र के संघीय लोक सेवा आयोग तथा प्रत्येक राज्य में राज्यों के लोक सेवा आयोग के रूप में किया गया है।

4.3.4 लोक सेवा आयोग की भूमिका

भारतीय लोक सेवा का विस्तृत इतिहास रहा है। प्राचीन भारत में मौर्य काल के दौरान प्रशासनिक सेवकों को व्यक्तिगत सेवकों की भूमिका निभानी होती थी। मध्यकाल के दौरान वे राजसेवकों का कार्य किया करते थे। ब्रिटिशकाल में वे लोकसेवक बन गए तथा प्रशासनिक सेवा एक सुरक्षित सेवा बन गयी। भारतीय स्वाधीनता के पचास वर्षों (1947—1997) के दौरान भारतीय प्रशासनिक सेवा न्यूनाधिक ब्रिटिश प्रतिरूप जैसी रही परंतु भीतरी व बाहरी दबावों के कारण अब भारतीय प्रशासनिक सेवा स्वयं को पेशेवर बना रही है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में केंद्रीय एवं प्रांतीय प्रशासनिक सेवा प्रणालियां शामिल होती हैं। केंद्रीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली में तीन अखिल भारतीय एवं अनेक अन्य

टिप्पणी

प्रशासनिक सेवाएं हैं। प्रांतीय प्रशासनिक सेवाओं में भी वही प्रारूप है। प्रशासनिक सेवाओं के लिए अभ्यर्थियों का चयन त्रि–स्तरीय परीक्षा के माध्यम से किया जाता है। भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली रैंक–आधारित रखी गयी है जहां विशेषज्ञों के बजाय जनसाधारण को वरीयता में रखा जाता है तथा उसके पद–धारियों को आजीवन रोज़गार प्रदान किया जाता है। प्रशासनिक सेवकों द्वारा प्राप्त वेतन एवं अन्य सुविधाएं देश में जनसाधारण की प्रतिव्यक्ति आय से कई गुना अधिक हैं। यद्यपि ये सुविधाएं व अनुलाभ भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कर्मचारियों व निजी क्षेत्र के प्रबंधकों द्वारा प्राप्त वेतन व सुविधाओं से निश्चित ही कम हैं।

प्रशासनिक सेवाओं में नगरीय मध्यवर्ग का दबदबा है। कुछ ही विश्वविद्यालयों के बहुत सारे आंग्लभाषी व हिन्दीभाषी शिक्षार्थी प्रशासनिक सेवाओं में आ पाते हैं। स्त्रियों का प्रतिनिधित्व बहुत सीमित रहा है जबकि अनुसूचित जनजातियों व अनुसूचित जातियों के लिए 50 प्रतिशत सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया हुआ है, तब भी उनकी संख्या अपर्याप्त है। आश्चर्य यह है कि विभिन्न राज्यों में समाज के शक्तिशाली वर्गों को भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली में बहुत अधिक प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। लगभग आधे प्रशासनिक सेवा आगंतुकों के अभिभावक केंद्रीय अथवा प्रांतीय शासनों में कार्यरत होते हैं।

भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली में प्रचलित वेबेरियन मॉडल का अनुसरण किया जाता है। राजनीतिज्ञों से समन्वय की प्रक्रिया में अधिकांशतया वे उनके अनुरूप स्वयं को ढाल लेते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली के बारे में जनमत यह है कि वे निष्प्रभावी एवं स्टेटस क्योइस्ट्स (Status quoists) होते हैं। उनमें नवाचार (नवोन्मेष), पहल, समानुभूति / परानुभूति एवं परिवर्तन की अभिलाषा का अभाव रहता है। प्रशासनिक सेवकों के दृष्टिकोण परस्पर अत्यधिक भिन्नतापूर्ण होते हैं। भारत के केंद्रीय शासन एवं 25 प्रांतीय शासनों द्वारा 3.5 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद अपने प्रशासनिक सेवकों पर व्यय कर दिया जाता है। इनके द्वारा प्रशासनिक सेवा में लगभग अस्सी लाख व्यक्तियों को रोज़गार प्रदान किया जाता है जो कि संगठित क्षेत्र में प्रदान किये जाने वाले रोज़गार का लगभग 50 प्रतिशत है।

पांचवें वेतन आयोग ने जनवरी 1997 को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में सुधारों की बात कही व मंडल में प्रशासनिक सेवा की 30 प्रतिशत कटौती करने का सुझाव दिया। विश्वभर में प्रशासनिक सेवा सुधारों से नीति–निर्धारक भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली को जनोन्मुखी, उत्पादक एवं धन के लिए प्रतिफलदायी मूल्य वाली बनाने को बाध्य होते हैं। फ़ॅरॅल हेडी के शब्दों में भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली में बहुमत–दल–क्रियाशीलता दिखती है एवं व्यावसायिक सम्मिलित रहते हैं। प्रशासनिक सेवा में आने, पदोन्नति पाने व बने रहने की अर्हताएं पेशेवर एवं प्रदर्शन–आधारित हैं। प्रशासनिक सेवकों के कार्य में आदेशपालन, समन्वय, नीति–क्रियाशीलता, संवैधानिक सक्रियता एवं मार्गदर्शन का मिश्रण रहता है। फ़िलिप मॉर्गन के शब्दों में–"भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रणाली तो राज्य के प्रमुख अभिकर्ता की भांति कार्य करती है। ऐसा करते समय

पितृसत्तात्मक राज के अभिलक्षणों को ध्यान में रखते हुए देश को उसकी प्रशासनिक सेवा प्रणाली के विस्तार में व्यापकता भी प्रदान करनी होती है।"

टिप्पणी

लोक सेवा का तात्पर्य

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा 'प्रशासनिक सेवा' नाम रखा गया था। देश की प्रशासनिक सेवा की निर्विरोध शाखाओं को इंगित करने में इस शब्द–समूह का प्रयोग किया गया। इस प्रकार 'प्रशासनिक सेवा' नाम गढ़ने का श्रेय भारत को दिया जाता है। ईस्ट इंडिया कंपनी (एन्नो डोमिनी 1600–1858) ने अपने कर्मचारियों को 'सेवक' कहना आरंभ किया। इसीलिए सीमा पर लड़ने वाले सैनिक एवं नौ–सैनिकों के अतिरिक्त 'सामाजिक दिशा' में कार्य करने वाले सेवकों को 'प्रशासनिक सेवक' कहा जाने लगा। इस नाम को सन 1785 में आधिकारिक रूप से अपना लिया गया। ऑक्सफ़ोर्ड आंग्लभाषी शब्दकोश के अनुसार 'प्रशासनिक सेवा' का आशय राज प्रशासन की स्थायी पेशेवर शाखाओं से है, जिनमें सैन्य व न्यायिक शाखाएं एवं निर्वाचित राजनेता सम्मिलित नहीं हैं।

ब्रिटेन में इस नामांकन को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– ये सेवक राजनैतिक अथवा न्यायिक पदों के धारक नहीं होते; इन्हें प्रशासनिक क्षमता में नियुक्त किया जाता है तथा इनके पारिश्रमिक का भुगतान संसद द्वारा मतदानित धन से पूर्णतया अथवा प्रत्यक्षतः किया जाता है।

इस परिभाषा के विश्लेषण से प्रदर्शित होता है कि इस पदांकन में रक्षा बलों, राजनीतिक व न्यायिक पदों पर आसीन व्यक्ति सम्मिलित नहीं हैं तथा वे व्यक्ति भी इस परिभाषा से बाहर हैं जो अवैतनिक क्षमता में शासन के लिए कार्य करते हैं अथवा उनके पारिश्रमिक का भुगतान सार्वजनिक धन से नहीं किया जाता। संक्षेप में हॅर्मेन फ़िनर द्वारा प्रशासनिक सेवा को "अधिकारियों के स्थायी, सवैतनिक एवं कुशल निकाय" के रूप में परिभाषित किया गया है।

बाद में प्रशासनिक सेवा में एक नवीन वर्ग (औद्योगिक श्रमिक) को समाहित कर लिया गया। उद्यमों (औद्योगिक व वाणिज्यिक) की बढ़ती संख्या सार्वजनिक क्षेत्र को फैलाती जा रही है, ऐसे श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। हॅर्मेन फ़िनर ने ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा को निम्नांकित तीन वर्गों में वर्गीकृत किया–

- **प्रशासनिक**– ये नीतियों के निर्माण एवं कार्यान्वयन में सहायता करने का साधारण कार्य करने वाले प्रशासनिक अधिकारी हैं।
- **प्रौद्योगिकीय (तकनीकी)**– प्रौद्योगिकीय अधिकारी सुस्पष्ट वैज्ञानिक ज्ञान व प्रशिक्षण में सहायता करने वाले अधिकारी होते हैं; यथा चिकित्सक एवं अभियंता।
- **परिचालनात्मक**– परिचालनात्मक वर्ग से संबंधित अधिकारी द्वारा आरंभिक दो वर्गों के द्वारा हस्तांतरित आदेशों को साधारण शारीरिक गतिविधि के माध्यम से किया जाता है।

यहां यह बताना आवश्यक है कि 'प्रशासनिक सेवा' एवं 'लोक सेवा' का प्रयोग अंतर्परिवर्तनीय रूप से नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रत्येक प्रशासनिक सेवक लोक सेवक भी होता है किंतु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक लोक सेवक प्रशासनिक सेवक भी हो। सैनिक एवं न्यायाधीश लोक सेवक तो होते हैं परंतु प्रशासनिक सेवक नहीं होते; लोक सेवकों को उनके वेतन का भुगतान करदाताओं के धन से किया जाता है तथा प्रशासनिक सेवा के सेवकों के वेतनों का भुगतान सार्वजनिक धन से किया जाता है।

प्रशासनिक सेवा प्रणाली भारत देश की प्रशासनिक कार्यप्रणाली की आधारशिला है। राज्यों के संघ भारत में लोकतंत्र है। देश की राजनैतिक प्रणाली बहुस्तरीय है जिसमें प्रशासन के तीन स्तर होते हैं– केंद्रीय, प्रांतीय एवं स्थानीय। संघीय शासन द्विसदनीय है। निचले सदन को लोकसभा कहा जाता है जिसमें संसद के निर्वाचित सदस्य होते हैं। राज्य सभा रूपी ऊपरी सदन के सदस्यों को निर्धारित संख्याबल के आधार पर विभिन्न प्रांतों से निर्वाचित किया जाता है। ये दोनों सदन एकसाथ मिलकर संसद का निर्माण करते हैं एवं इन सदनों के सदस्यों को सांसद (अर्थात संसद–सदस्य) कहा जाता है। स्थानीय स्तर पर ग्रामों में पंचायतें (ग्रामीणों की परिषदें) होती हैं। विभिन्न ग्रामों को मिलाकर विकासखंड बनाया जाता है तथा विकासखंड–स्तरीय परिषद के मुखिया को प्रधान कहते हैं, जिसे विकासखंड का मुखिया भी कहा जाता है। इन प्रधानों से जिला परिषद बनायी जाती है जिसका मुखिया जिला प्रमुख होता है। बहुमत को निर्वाचन का आधार बनाने के लिए मतदान कराये जाते हैं। मतगणना के पश्चात ज्ञात होता है कि किस प्रत्याशी को सर्वाधिक जनों से मत प्राप्त हुए हैं, उसे निर्वाचित मान लिया जाता है।

भारत एक बहु–धर्मी देश है। सन 1950 को उसमें संविधान अपना लिया गया, जिसमें देश को धर्मनिरपेक्ष राज घोषित किया गया है। संविधान में अल्पसंख्यकों को विशेष अधिकार प्रदान किये गए हैं। कुछ धार्मिक समुदायों द्वारा जाति एवं उपजाति के तंत्र का अनुकरण किया जाता है। भारत के संविधान में आंग्लभाषा को जोड़ने की भाषा एवं हिंदी को राष्ट्रभाषा माना गया है तथा 13 और भाषाओं को राजभाषा का मान दिया गया है। देश के 25 प्रांतों एवं 4 संघशासित क्षेत्रों में से प्रत्येक की अपनी राजभाषा है (उपरोक्त पंद्रह भाषाओं में से कोई), जहां उस भाषा व उसकी विभाषाओं (बोलियों) को बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है। विषमताओं का होना भारतीय सामाजिक तंत्र की विशेषता है। सन 1997 को प्रस्तुत नौवीं पंच–वर्षीय योजना (जिसे कि जनवरी 1997 में अंतिम रूप प्रदान किया गया था) में प्रदर्शित आकलन के अनुसार 50 प्रतिशत जनता निर्धनता–रेखा से नीचे है। देश में बेरोज़गारी व्यापक रूप धारण कर चुकी है।

भारत एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है जहां सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों का संयुक्त महत्व है। सार्वजनिक–निजी क्षेत्र सम्मिश्रण के तराजू में निजी क्षेत्र का पलड़ा अभी भारी हो रहा है। एकाधिकार एवं नियंत्रण दूर हो रहे हैं। अधोसंरचना एवं सामाजिक क्षेत्र विकास के कार्य में शासन गंभीर हुआ है। प्रतिस्पर्द्धा में आगे निकल

जाने के लिए सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्र जूझ रहे हैं। संघीय व प्रांतीय दोनों बजट भारी राजकोषीय घाटे में हैं। सन 1996–97 में राजकोषीय घाटा केंद्रशासन के प्रकरण में सकल घरेलू उत्पाद का 5 प्रतिशत था तथा विभिन्न प्रांतीय शासनों को भी अपने–अपने राज्य में घरेलू उत्पाद के संबंध में इसी स्तर के घाटे झेलने पड़े। मुद्रास्फीति देश के लिए एक स्थायी समस्या रही है। मुद्रास्फीति की दर औसतन 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। देश के संबंध में भुगतानों का संतुलन एवं व्यापार का संतुलन सदा ऋणात्मक रहा है। देश के आर्थिक प्रबंधन का एक स्थायी–सा लक्षण उसका घाटे भरा वित्त–पोषण रहा है।

ऐतिहासिक रूप से देश का महान इतिहास रहा है। प्राचीन भारत राज समृद्ध हुआ करता था जहां कला व संगीत फलते–फूलते थे। देश के मध्यकाल का संबंध मुगलों से है जो बहुत सारे प्रशासनिक परिवर्तन ले आये जिनमें भू राजस्व कर–एकत्रण प्रणाली, औद्योगिक उत्पादों का स्थानीय विनिर्माण एवं अन्य राष्ट्रीय राजों को कला व शिल्प का निर्यात किया जाना सम्मिलित है। मुगल काल के पतन के दौरान सोलहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी उभरी जिसने देश पर 150 वर्षों से अधिक अवधि तक शासन किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से ब्रिटिश शासन ने भारत को अपने नियंत्रण में ले लिया। अपने लगभग 200 वर्षीय शासन के दौरान उसने भारतीय राज्यों का निर्माण किया, वह भारत में शिक्षा प्रणाली लाया, अति शक्तिशाली प्रशासनिक व नौकरशाही ढांचे की आधारशिलाएं रखीं तथा सड़क व रेल परिवहन के विस्तृत जाल से उसके प्रशासन के विभिन्न भागों को परस्पर जोड़ा। सन 1947 में देश स्वाधीन हुआ। सन 1950 में आर्थिक योजनाओं के निर्माण की प्रणाली आरंभ करने हेतु नियोजन आयोग की स्थापना की गयी जो सन 1951 को अपनी पहली पंचवर्षीय योजना लाया। वर्तमान भारत 880 मिलियन व्यक्तियों का देश है। यद्यपि उसकी उन्नति की दर सन 1996–97 में 6.7 प्रतिशत पर आयी, उसकी स्वाधीनता के 50 वर्षों (सन 1947–1997) के दौरान औसत उन्नति दर 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। वैसे जनसंख्या की वृद्धि–दर 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही, जिससे देश के लिए प्रतिवर्ष उन्नति की कुल दर 1 प्रतिशत ही रह गयी। जनता जिन जीवन–मापदंडों में जी रही है, वे अनेक एशियाई देशों व विश्व के अनेक देशों की तुलना में बहुत नीचे हैं। निःसंदेह उपरोक्त अवरोधों से अपनी उन्नति की ओर बढ़ना एवं अपनी जनता को ऐसी गुणवत्ता का जीवन सुनिश्चित करना कि वे गर्व कर सकें, देश के लिए एक जटिल कार्य है। देश को स्वयं अपने उस अतीत की छाया से भी मुक्त होना होगा जिसे अधोगामी के रूप में ही देखा जाता रहा। शेष विश्व से स्वयं को जोड़ने से पहले एक मुख्य चुनौती यह है कि दक्षता के स्तरों के वैश्विक फलकों को छू लिया जाए।

प्रशासनिक सेवा का उद्गम एवं विकास

प्राचीन भारतीय राज (200 ईसापूर्व से 1000 ईसा पश्चात तक) से संबंधित प्रशासनिक सेवा के संगठन का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। यद्यपि मौर्यकाल (313 ईसापूर्व) में

टिप्पणी

विष्णुगुप्त (जो कौटिल्य भी कहलाते थे) ने एक प्रबंध–शोधलेख रचा जिसे 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' कहा जाता है। कौटिल्य ने न्यायालय में नियुक्ति के लिए प्रशासनिक सेवकों की योग्यताओं को लिखा। इस मुद्दे पर उन्होंने विभिन्न विशेषज्ञों के दृष्टिकोणों का विवरण दिया। कौटिल्य की दृष्टि में निष्ठा व निष्कपटता वे दो प्रमुख योग्यताएं होती हैं जिनके आधार पर किसी व्यक्ति को प्रशासनिक सेवक के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। कौटिल्य ने प्रशासनिक सेवकों की नियुक्ति हेतु कुछ जांचें व परीक्षण भी सुझाए। उन्होंने प्रशासनिक सेवकों की नियुक्ति के लिए राज के सतर्कता विभाग द्वारा पड़ताल किए जाने का पक्ष लिया। उन्होंने प्रशासनिक सेवा की कार्यप्रणाली के सतत निरीक्षण एवं नियमित रूप से प्रशासनिक सेवकों के कार्य–निष्पादन का सार राजा को सुनाने का भी अनुमोदन किया।

कौटिल्य ने प्रशासनिक सेवा की भिन्न–भिन्न शाखाओं के विभिन्न मुखियाओं के बारे में बताया। व्यापार–अधीक्षक (पण्याध्यक्ष) वाणिज्यिक सेवा का मुखिया हुआ करता था, जिसमें आंतरिक एवं बाह्य व्यापार सम्मिलित है तथा उस पद से अपेक्षा की जाती है कि वह इस सेवा में रत अधिकारियों को तैयार–तैनात करे। कृषि–अधीक्षक (सिताध्यक्ष) कृषि विभाग का मुखिया होता था, इस पद से अपेक्षा रहती थी कि यह राज्य कृषि–भूमि की निगरानी करे, शासकीय भूमि एवं व्यक्तियों से संबंधित भू–खंडों का विनियमन करे। उसका प्राथमिक कार्य कृषि–नीति बनाना एवं उसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना हुआ करता था। रथों का अधीक्षक (रथाध्यक्ष) रक्षा विभाग का मुखिया होता था। विदेशी आक्रमणों से जनता की सुरक्षा एवं सीमाओं को सुरक्षित रखने को सुनिश्चित करने के अतिरिक्त वह रक्षा उत्पादन से संबंधित विषयों के लिए उत्तरदायी होता था, जिसे राज द्वारा उसके स्वामित्व में निश्चयी रूप से रक्षा प्रतिष्ठानों सहित दिया गया होता था। उसे रक्षा प्रतिष्ठानों के मुखियाओं की नियुक्तियों एवं सेना से संबंधित विषयों को संभालना होता था। खनन अधीक्षक (स्वर्णाध्यक्ष) खनन विभाग का मुखिया हुआ करता था जो स्वर्ण, ताम्र, लौह, हीरा इत्यादि जैसे विभिन्न खनिजों के खनन को संभालता है। अन्य कार्यों के साथ जांच के आधार पर दक्ष खनन अभियंताओं की नियुक्ति भी उसे करनी होती थी ताकि पृथ्वी की आंतरिक व बाह्य पर्पटियों के बारे में उनके ज्ञान को सटीकता से परखा जा सके। वन का अधीक्षक (वन्याध्यक्ष) वानिकी विभाग का मुखिया हुआ करता था। उसे वनों की रक्षा व संरक्षण को सुनिश्चित करना होता था तथा वनों की वृद्धि से संबंधित नीतियों के निर्माण का प्रभार भी उसके पास होता था। भारों के अधीक्षक (भाराध्यक्ष) भार व माप के विभाग का मुखिया हुआ करता था, प्रशिक्षित निरीक्षकों द्वारा उसकी सहायता की जाती थी जो विभिन्न भारों व मापों की सटीकता को सुनिश्चित करने के लिए आकस्मिक जांच किया करते थे। वह भारों व मापों के विशिष्ट प्रकारों वाले व्यापारों में लेन–देन के राज–प्रावधानों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दंड हेतु विनिर्दष्ट करने में भी सक्षम हुआ करता था। वस्त्रों का अधीक्षक (सूत्राध्यक्ष) राज की वस्त्र–नीति के निर्माण, वस्त्र–प्रतिष्ठानों के संचालन एवं सामाजिक रूप से वंचित व विकट निर्धनता में जीवनयापन कर रहे व्यक्तियों को रोज़गार प्रदान करने के लिए उत्तरदायी होता था।

लेखा–परीक्षण का अधीक्षक (लोकाध्यक्ष) लेखा–परीक्षण का मुखिया हुआ करता था। उसके पास ऐसे अधिकारियों का संवर्ग होता था जो राज–बजटों के परीक्षण एवं राज–खातों के लेखा–परीक्षण के कार्य में उसकी सहायता करते थे।

कौटिल्य ने प्रशासनिक सेवकों के लिए आचार–संहिता बनायी, जिसमें दक्ष व प्रभावी अधिकारियों की शीघ्र पदोन्नतियों एवं भ्रष्ट अधिकारियों के लिए उत्कट (कठोर) दंड का विनिर्देश है। कौटिल्य द्वारा सुझाया गया कठोरतम दंड ऐसे भ्रष्ट प्रशासनिक सेवकों का शिरोच्छेदन (सिर काट देना) था। कौटिल्य ने प्रशासनिक सेवकों की क्रियाशीलता के बारे में बताया क्योंकि उनका मानना था कि राज की सत्ता उसके व्यक्तियों से आती है।

मध्यकाल (1000–1600 एडी) के दौरान अकबर द्वारा प्रशासनिक सेवा की संस्थापना की गयी व उसे आगे बढ़ाया गया। अपने काल के दौरान उसने भू–सुधार आरंभ किये (1457 एडी) तथा भू राजस्व प्रणाली स्थापित की जो बाद में भारतीय करारोपण प्रणाली का एक मुख्य घटक कहलायी। उसकी प्रशासनिक सेवा कल्याण व नियामक उन्मुखी थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के पास वाणिज्यिक कार्यों के लिए उत्तरदायी प्रशासनिक सेवा थी। वे जनसाधारण से दूर थे क्योंकि उन्होंने उनके साथ मिलने व उन पर अपनी छाप छोड़ने का प्रयास कभी नहीं किया, वे तो भारतीय समाज के रूपांतरण में लगे थे। सन 1860 में ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिग्रहण के उपरांत भारतीय परिदृश्य में ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा लायी गयी। आरंभ में तो ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा पुलिस–राज का एक भाग हुआ करती थी जहां मुख्य कार्य विधान–व्यवस्था को बनाये रखना होता था। वह तब भिन्न हुई जब विभिन्न प्रांतों में भिन्न–भिन्न प्रशासनिक सेवाएं हुईं। किसी भी ब्रिटिश–भारत प्रांत द्वारा आचार–संहिता विकसित नहीं की गयी। विभिन्न प्रांतों के अधिकारी अपने मनपसंद व्यक्तियों को नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र थे। सैन्य व असैन्य दोनों क्षेत्रों से अधिकारियों को लिया जाता था। उनके वेतन व भत्तों को शासन के विवेक द्वारा निर्धारित किया जाता था। यद्यपि तदुपरांत उनके मापदंडों को बहुत ऊपर ले जाया जाना होता था। शब्द–समूह 'प्रशासनिक सेवा' तो लोक प्रशासन के क्षेत्र में एक भारतीय योगदान है। सैन्य अधिकारियों से शासकीय अधिकारियों को अलग करने के लिए 'प्रशासनिक सेवा' शब्द–समूह का प्रयोग ब्रिटिश शासन द्वारा अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अविभाजित पंजाब में किया गया। ब्रिटिश शासन ने सन 1911 में भारतीय प्रशासनिक सेवा की स्थापना की, जिसका प्राथमिक उद्देश्य इंग्लैंड में ब्रिटिश प्रशासन को मजबूती प्रदान करना था। यद्यपि उसमें वह उद्देश्य पूरा न हो सका परंतु भारत में उसके औपनिवेशिक आधार के प्रशासन को मजबूत करने में अति उपयोगी विचार बनकर रहा। आरंभ में भारतीय प्रशासनिक सेवा में भर्ती ब्रिटिशों तक सीमित थी। प्रवेश की न्यूनतम आयु 19 वर्ष निर्धारित की गयी थी तथा अधिकतम आयु 21 वर्ष रखी गयी थी। परीक्षा की भाषा आंग्लभाषा रखी गयी थी। परीक्षा के आयोजन का एकमात्र केंद्र लंदन था।

यद्यपि सन 1921 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा उठायी गयी मांगों व दबावों के कारण भारतीयों को भी परीक्षा में सम्मिलित होने दिया जाने लगा। सन 1922 में एक भारतीय भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। बाद में ऐचिसन समिति के अनुमोदानों के आधार पर न्यूनतम व अधिकतम आयु को 19 व 21 वर्ष से बढ़ाकर क्रमशः 20 व 22 वर्ष कर दिया गया। अभ्यर्थियों को लंदन एवं भारत दोनों में परीक्षा देने दिया गया। भारतीय प्रशासनिक सेवा में भाग लेने के लिए ब्रिटिश व भारतीय व्यक्तियों के लिए 50 : 50 का अनुपात निर्धारित किया गया। सन 1935 में ब्रिटिश शासन ने भारत के विभिन्न प्रांतों में अंतरिम परिनियम स्थापित करने का निर्णय किया, जिसके परिणामस्वरूप प्रशासनिक सेवकों के रूप में ब्रिटिश व्यक्तियों का निर्गमन हो गया, फलस्वरूप भारतीय प्रशासनिक सेवा में भारतीय व्यक्तियों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी। यद्यपि आरंभ में ब्रिटिश शासन ने भारतीय प्रशासनिक सेवा की ही स्थापना की थी, बाद में वे सांविधिक प्रशासनिक सेवा एवं केंद्रीय प्रशासनिक सेवाओं को लाये। समय बीतता गया, सांविधिक प्रशासनिक सेवा का अस्तित्व मिट गया एवं परिदृश्य में दो सेवाएं शेष रहीं– भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं केंद्रीय प्रशासनिक सेवाएं। स्वाधीनता के समय भारतीय प्रशासनिक सेवा के अतिरिक्त देश में नौ केंद्रीय प्रशासनिक सेवाएं हुआ करती थीं। देश की स्वाधीनता से प्रशासनिक सेवकों के समक्ष नवीन चुनौतियां प्रस्तुत हुईं। उन्हें अब पुलिस–राज की भूमिका नहीं निभानी थी। भारतीय व्यक्तियों का कल्याण उन केंद्रीय कार्य के रूप में देखा जाने लगा जिसे कि भारतीय राज द्वारा किया जाना था।

भारत में स्वाधीनता के उपरांत प्रशासनिक सेवा प्रणाली को पुनर्संगठित किया गया। केंद्रीय स्तर पर केंद्रीय सेवाओं में अखिल भारतीय सेवाओं को सम्मिलित कर लिया गया– भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय पुलिस सेवा एवं केंद्रीय सेवाएं। केंद्रीय सेवाओं को अपने–अपने महत्व के अनुसार चार समूहों में वर्गीकृत किया गया– समूह ए, बी, सी, डी सेवाएं। संघशासित क्षेत्रों में अखिल भारतीय व केंद्रीय दोनों प्रकार की सेवाएं थीं। देश के विभिन्न प्रांतों ने अपनी स्वयं की प्रशासनिक सेवाएं तैयार कर ली थीं।

भारत में सन 1951 में आर्थिक योजना के आगमन से उसकी पहली पंचवर्षीय योजना लायी गयी जिसमें विकास प्रशासन की भूमिका से भारतीय प्रशासनिक सेवा जुड़ गयी। इस नवीन सांचे में उनसे अपेक्षा की जाने लगी कि वे इन कार्यों में सहभागिता करें–सार्वजनिक उपक्रमों के प्रशासन में, निजी क्षेत्र का विनियमन, सामाजिक–आर्थिक एवं राजनैतिक नीतियों का निर्माण, निर्धनता–उन्मूलन, ग्राम्य क्षेत्रों का विकास, मुद्रास्फीति से जूझना, प्रभावी मौद्रिक प्रबंधन, लैंगिक विषमता घटाना, समाजिक असमानता हटाना इत्यादि। आरंभिक 1980 में भारतीय राज को पहली बार संसाधन–अल्पता से जूझना पड़ा जो 1980 के अंत में और गहरा गया। सन 1991 में नवीन आर्थिक नीति लायी गयी, जिसे बृहत् व सूक्ष्म दोनों स्तरों पर आर्थिक गतिविधियों में राज में की एक वापसी के रूप में देखा गया, अर्थात उसके

द्वारा ऐसी बृहत् आर्थिक नीतियों का निर्माण किया गया जो निजी क्षेत्र सहभागिता हेतु अनुकूल परिवेश ले आयीं तथा बृहत् स्तर पर सुधारों से सार्वजनिक उद्यम प्रणाली पर दबाव पड़ा एवं सुचारु सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयां ही रहीं। अन्य शब्दों में राज में भविष्य की सरलता को सन 1990 में पहले ही भांप लिया गया। इस प्रकार सन 1990 में प्रशासनिक सेवा एवं अन्य अनेक सेवाएं नवीन रूपों में उभरने लगीं, अर्थात देश में तीन अखिल भारतीय सेवाओं (भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा एवं भारतीय पुलिस सेवा) व 29 अन्य केंद्रीय सेवाओं को नवस्वरूप धारण करना था। प्रांतीय प्रशासनिक सेवाओं को उनका अनुकरण करना होता था।

उपरोक्त चर्चा से संक्षिप्ततः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में प्रशासनिक सेवकों को शासकों के व्यक्तिगत सेवकों की भांति कार्य करना होता था तथा मध्यकाल में वे राजसेवक बन गए क्योंकि वे राज–नियुक्ति में थे तथा ब्रिटिश–भारत में प्रशासनिक सेवकों का रूपांतरण लोकसेवकों में हो गया। उस काल के दौरान प्रशासनिक सेवा सुरक्षित सेवा कहलाने भी लगी क्योंकि सन 1861 में पहले भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिनियम को भारत में पारित किया गया था, तब से प्रशासनिक सेवकों को अनेक विशेषाधिकार दिए जाने लगे, जिनके अंतर्गत उनकी भर्ती, पदोन्नति, सेवा–समापन, पेंशन, वेतनों का भुगतान इत्यादि सम्मिलित हैं। स्वाधीन भारत में प्रशासनिक सेवा का लोकाचार/स्वरूप कल्याण–उन्मुखी (1940 के अंत में) से बदलकर उन्नीस सौ साठ व उन्नीस सौ अस्सी के मध्य विकास–उन्मुखी हो गया तथा सन 1990 में अंततः वह रूप सेवा–प्रदाता की भूमिका में आ गया क्योंकि सन 1960 के साधारण निर्वाचनों के दौरान विभिन्न राजनैतिक दलों द्वारा जारी किये गए घोषणा–पत्रों में पर्यावरणीय चुनौतियां, संयुक्त विकल्प क्रियाविधियां झलक रही थीं तथा अत्यधिक जनसंख्या की लोकतांत्रिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की चुनौती भी समक्ष थी।

प्रशासनिक (सिविल) सेवा के गुण

1. यह व्यवस्था सर्वोच्च स्तर की कुशलता की जनक है।
2. इससे प्रशासन पहले की अपेक्षा अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष एवं संगत बना है।
3. यह कुशल प्रशासन की प्रभावी आवश्यकता 'एकता' और 'शक्ति' का संचय करती है।
4. जनता की सामाजिक–आर्थिक उन्नति में सहायक होती है।

प्रशासनिक (सिविल) सेवा के दोष

1. लोक सेवक नागरिकों के प्रति अनुउत्तरदायी और गैर–जिम्मेदार होते हैं।
2. अधिकारी वर्ग अहं भाव से ग्रस्त होते हैं जिसके कारण नागरिकों के प्रति हेय दृष्टिकोण अपनाते हैं, जिससे इनके और नागरिकों के बीच दूरियां बढ़ती हैं।
3. लोक सेवक उच्चता की भावना से पीड़ित रहते हैं।

4. लोक सेवक लोक–नियंत्रण से मुक्त रहते हैं।
5. अंकुश के अभाव में वे स्वविवेक से कार्य करते हैं।
6. इनमें भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

टिप्पणी

प्रशासनिक सेवा की विशेषताएं

जिस परिवेश में देश की प्रशासनिक सेवा कार्य कर रही है, वह अनेक संदर्भों में अद्वितीय है एवं भिन्न लक्षणों व रूप से युक्त है। जिस परिवेश में प्रशासनिक सेवा सहित लोक प्रशासन संचालित है, वह एक स्थैतिक कारक है।

प्रशासनिक सेवा (विशेषतया जब उसे एक गतिविधि के रूप में देखा जाता है) अपने निकट चारों ओर के परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के स्वरूप पर सामाजिक–सांस्कृतिक आयाम, राजनैतिक वातावरण, आर्थिक स्थितियों, सामाजिक धारणाओं व भारत के संविधान से व्यापक प्रभाव पड़ते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के स्वरूप का वर्णन निम्नानुसार किया जा सकता है–

(1) संख्याबल

भारत में द्वितीय वेतन आयोग के अनुसार 1 अप्रैल, 1948 को केंद्र–शासकीय श्रमिकों की संख्या 14.45 लाख थी; सन 1957 में यह 17.73 लाख हो गयी। पांचवें वेतन आयोग के अनुसार सन 1994 में केंद्र शासन में 38.76 व्यक्ति कार्यरत थे। सारणी में केंद्र शासन में नौकरशाही वृद्धि प्रदर्शित है।

केंद्र शासन में नौकरशाही का विकास

वेतन आयोग	कर्मचारियों की संख्या
प्रथम वेतन आयोग (1946–47)	14.45 लाख
द्वितीय वेतन आयोग (1957–59)	17.73 लाख
तृतीय वेतन आयोग (1970–73)	29.82 लाख
चतुर्थ वेतन आयोग (1983–87)	37.87 लाख
पंचम वेतन आयोग (1994–97)	38.76 लाख
षष्टम् वेतन आयोग (2003–06)	41.76 लाख

(2) तकनीशियन एवं प्रौद्योगिकीविद

शासन के कार्यों के स्वरूप में परिवर्तन के सापेक्ष अधिक से अधिक वैज्ञानिकों की नियुक्ति द्वारा लोक–सेवा के संघटन में विविधीकरण बढ़ा है। वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय कर्मचारियों की संख्या सन 1959 में 7126 थी; यह संख्या सन 1973 में 22026 हो गयी। सन 1994 में केंद्र शासन में 31983 वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय कर्मचारी नियुक्त थे।

(3) शक्तियों में अभिवृद्धि

प्रशासनिक सेवा की शक्तियों, कार्यों व प्रभाव में तीव्र वृद्धि को विगत 100 वर्षों में लोक प्रशासन का एक सबसे आकर्षक पहलू माना जाता है। इस संदर्भ में पिफनर एवं प्रेस्थस ने लिखा–

जेक्सोनियन काल के आरंभ में शासकीय भूमिका की अवधारणा नकारात्मक थी, जो कि लोकशक्ति के विस्तार से पूर्व तत्कालीन इंग्लैंड से संस्थापकों के द्वारा विरासत में मिली थी बहुजन–लाभ के लिए जिसका उपयोग किया जाता था। शासन तो अर्थव्यवस्था के मुख्य आर्थिक क्षेत्रों में सामर्थ्य को बढ़ाने का साधन बनता जा रहा था। व्यापार एवं वाणिज्यिक लाभों के आरंभिक बोलबाले/दबदबे में शीर्ष पर पहले तो कृषि क्षेत्र रहा, फिर श्रम। सेवाओं के लिए उनकी मांगों से शासन का विस्तार–क्षेत्र एवं आकार निश्चित ही बढ़ा।

नौकरशाही की शक्ति 'स्थायी प्रशासनिक सेवा' प्रशासन में ही नहीं पायी जाती थी अपितु विधि–निर्माण एवं वित्त में भी पायी जाती थी; वह न केवल विधियों (कानूनों) द्वारा लायी जाती थी अपितु वह बहुत सीमा तक उन्हें गढ़ती भी थी; उसे करारोपण की कार्यवाहियों में ही नहीं अपनाया जाता था अपितु उसके माध्यम से यह निर्णय भी किया जाता था कि कितना कर लगाया जाए एवं किस प्रकार। भारत में प्रशासनिक सेवा में भी इस प्रारूप का अनुकरण किया गया है। स्वतंत्र भारत की आर्थिक व सामाजिक विवशताओं के कारण कल्याणकारी–राज की अवधारणा आयी। समाजवादी समाज रचने के लिए नियोजित प्रक्रिया अपनानी होती है। शासन द्वारा नवीन कार्यों एवं दायित्वों को अपना लेने से प्रशासनिक सेवा का महत्व बढ़ा है। हमारे प्रशासनिक सेवक की भूमिका अब पुलिस व राजस्व अधिकारी तक नहीं रही; वह अब भांति–भांति की विकास–गतिविधियों में कार्यरत रहता है एवं देश के विभिन्न भागों में सहस्त्रों परियोजनाओं के क्रियान्वयन में लगा रहता है। हमारी योजनाओं की सफलता वस्तुतः इस बात पर निर्भर है कि प्रशासनिक सेवकों द्वारा अपने–अपने कार्य कितने ठीक ढंग से किये जाते हैं। आर्थिक उदारीकरण की नीति से प्रशासनिक सेवा की दर नहीं घटी।

(4) प्रशासनिक सेवा का सकारात्मक स्वरूप

प्रशासनिक सेवा में बड़ा परिवर्तन आया। पुराने नकारात्मक रूप की परिणति सकारात्मक रूप में हो गयी। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रशासनिक सेवा का विचार निम्नांकित दो प्रकार से नकारात्मक था–

- अहस्तक्षेप नीति विश्वासों के आधार पर प्रशासनिक सेवा के कार्य बहुत सीमा तक निरोधक (बचावात्मक) हुआ करते थे।
- कार्मिक प्रशासन की प्रमुख धारणा लोक–सेवकों के अधिकारों की रक्षा करना तथा 'संरक्षण एवं लूट' की बुराइयों से प्रशासनिक सेवा का बचाव करना था।

वर्तमान में कार्मिक प्रशासन का अधिक सकारात्मक रूप सामने आ रहा है, जिसे उन अधिकारियों में सकारात्मक अभिप्रेरणा उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण माना जा रहा है जो बेहतर लोक–सेवा प्रस्तुत करने में स्वयं सक्षम होंगे।

उद्देश्य तो लोक–अधिकारी को सक्षम, सत्यनिष्ठ, संतुष्ट व इच्छुक करना है। यदि हमारे नियोजन को प्रभावी करना हो तो एक नवीन प्रकार के प्रशासक का आह्वान किया गया है। नवीन प्रशासक ऐसा होगा–

- योजनाओं (स्कीमों) को आगे आकर क्रियान्वित करने के लिए कार्य–उन्मुख
- मानवीय संबंध–अभिमुख अर्थात विनियमों व विधियों की अपेक्षा जनता को अधिक ध्यान में रखने वाला
- क्रियाशील अर्थात फाइलों को खिसकाने मात्र में प्रसन्न न रहने वाला
- जनोन्मुखी अर्थात लोकहित के लिए सदा लालायित
- प्रेरणापूर्ण अर्थात जनसमर्थन जीतने, सहमति व समन्वय पाने में सक्षम

प्रशासनिक सेवक जनता के साथ सदा नहीं रह पाता, उसे उन्हें सहमत कराना होता है, उनका अनुमोदन प्राप्त करना होता है।

(5) प्रशासनिक सेवा तटस्थता

प्रशासनिक सेवा का एक महत्वपूर्ण पारंपरिक गुण उसकी तटस्थता है। मास्टरमेन समिति के शब्दों में वह लक्षण जिसे दीर्घकालिक ब्रिटिश प्रशासन में मान दिया गया एवं विशेष गुण के रूप में सराहा गया, वह है उसकी निष्पक्षता, राजनैतिक पक्षपात से मुक्त सोच।

तटस्थता का अभिप्राय यह है कि लोक–सेवक को अपने सार्वजनिक जीवन में राजनैतिक विचारों अथवा दृष्टिकोणों के बंधन से मुक्त रहना चाहिए। भारत में जन–संबंधी आचार के परिनियमों के अनुसार शासकीय कर्मचारियों के लिए यह बाध्यता है कि वे राजनैतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेंगे। फलस्वरूप प्रशासनिक प्रणाली के सदस्य शासकीय नीतियों का क्रियान्वयन पूर्ण निष्ठा से करते हैं तथा किसी दल से उनका जुड़ाव अथवा झुकाव नहीं होता। प्रशासन की राजनैतिक तटस्थता को भारतीय संवैधानिक तंत्र के द्वारा निर्धारित किया गया है। राजगुरु के रूप में कार्य कराने हेतु प्रशासन को पदानुक्रम के रूप में व्यवस्थित किया गया है, उसे वैधानिक–तार्किक एवं तकनीकी रूपों में सक्षम माध्यम बनाया गया है। ज्यों ही उच्चतर प्रशासनिक सेवा 'नीति–निर्धारक भूमिका' में आयी, त्यों ही उससे अपेक्षा की जाने लगी कि उसकी ओर से भय व पक्ष से रहित होकर निष्पक्ष परामर्श प्रदान किया जाए। यद्यपि एक बार नीति का निर्माण कर लिये जाने पर प्रशासनिक सेवा का दायित्व उसके क्रियान्वयन से बंध जाता है। शासन के संसदीय रूप में मंत्रिमंडल द्वारा प्रधानमंत्री (अथवा राज्य स्तर पर मुख्यमंत्री) के साथ शीर्ष पर कार्यपालन को पहले देखा जा चुका है। प्रत्येक मंत्रालय का मुखिया एक मंत्री होता है।

मंत्री के अधीन एवं उसके लिए प्रशासनिक सेवक कार्य करते हैं। बाद में राजनीति का स्वरूप क्षणिक एवं नौसिखिये जैसा हो गया, पहले तो विशेषज्ञों की भांति स्थायी स्वरूप हुआ करता था। इसके अतिरिक्त, वैसे दोनों के मध्य संबंध तो अंतहीन चर्चा का विषय रहा है, जिसके लिए न तो कोई त्रुटि–विहीन विनिर्देश संभव है, न ही विफलता–रोधी क्रियाविधि।

अवैयक्तिक, दृढ़ता से परिनियम–आबद्ध, तटस्थ नौकरशाही 'समता के लोकतांत्रिक सिद्धांत' को बढ़ा सकती है तथा स्वेच्छाचारी (मनमाने) शासन से दूर ले

टिप्पणी

जा सकती है। यह आवश्यक प्रशासनिक सोद्देश्यता को भी उपलब्ध करा सकती है। तटस्थता को उस धारणा के अंतर्गत देखा जा सकता है जिसमें प्रशासनिक सेवक वास्तव में अति उत्साही एवं कदाचित कट्टर लोकप्रिय प्रतिनिधियों के विरुद्ध अब भी एक अन्य अवरोध की भूमिका निभाते हैं। आज भी यह प्रदर्शित करना प्रशासनिक सेवक का दायित्व है कि प्रशासनिक रूप से क्या संभव है व क्या नहीं। यह तो विशेषज्ञ के रूप में अधिक बेहतर किया जा सकता है क्योंकि सोद्देश्यता सुरक्षित हो जाती है। जिस परिस्थिति में लोकतंत्र के सिद्धांत एवं प्रशासन की अक्षुण्णता दांव (जोख़िम) पर हो, उसमें प्रशासनिक सेवक की तटस्थता इस धारणा सहित सराहनीय हो जाती है कि सोद्देश्य सिद्धांतों को राजनीतिक लाभ के दंश से सुरक्षित बचा लिया जाएगा।

यद्यपि तटस्थता का पारंपरिक विचार अनेक आधारों पर चुनौतीपूर्ण रहा है– पहला व सबसे महत्वपूर्ण विचार 'राजनीति–प्रशासन द्विभाजन' के विश्वास पर आधारित है, अब नीति–निर्धारक कार्यवाहक अथवा मंत्रियों के विषय में पारंपरिक विचार यह है कि प्रशासनिक सेवक अथवा स्थायी कार्यवाहक उनका बस कार्यान्वयन करते हैं– ऐसा कहना उपयुक्त नहीं रह गया है। प्रशासनिक सेवा की भूमिका उस स्थिति से बदल रही है जिसमें उसे राजनैतिक कार्यपालिका का सामूहिक कार्य करने वाला अभिकर्ता मात्र माना जाता था। वर्तमान में नीति–निर्माण एक सर्वसम्मिलित कार्य एवं समेकित प्रयास है।

दूसरी बात यह कि यह विचार दल–राजनीति व नीति–राजनीति के मध्य के असमंजस पर आधारित है। दल–राजनीति का परिहार (परहेज़) लोक–अधिकारियों द्वारा प्रत्येक परिस्थिति में किया जाना चाहिए, न कि नीति–राजनीति का परिहार। एप्लेबी का यह कहना उचित ही है कि वर्तमान में सभी प्रशासन राजनैतिक हैं क्योंकि इन्हें जनहित के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। आधुनिक लोक–अधिकारी का एक महत्वपूर्ण दायित्व शासकीय नीतियों का जन–अनुमोदन जीतना व उनके क्रियान्वयन में उनका समन्वयन करना होता है। लोकप्रिय शासन एवं लोकतांत्रिक आदर्शों की संपूर्ण प्रणाली का एक भाग 'लोक प्रशासन' है, इस भाग को संपूर्ण प्रणाली से पृथक रूप में नहीं देखा जाता।

तृतीय बात यह है कि प्रशासनिक सेवक की भूमिका का स्वरूप बदला है, राज का प्रयोजन नकारात्मक से सकारात्मक हुआ है। वर्तमान में राज द्वारा कल्याणकारी–समाज की रचना की जा रही है तथा अविकसित देशों में वह नियोजित प्रयास कर रहा है। इस प्रयास को सफल करने के लिए नवीन प्रकार के सकारात्मक मानसिकता वाले कार्य–उन्मुख एवं मानवीय प्रवृत्ति के लोक–अधिकारी की आवश्यकता है। विकास एवं लोकतंत्रीकरण दोनों प्रकार के कार्य सफलतापूर्वक करने में ऐसे प्रशासक आवश्यक हैं जिनमें पहल, नेतृत्व व दायित्व ग्रहण करने के गुणों के संग भावनात्मक एवं बौद्धिक एकीकरण के गुण भी हों जिन्हें कि लोकतांत्रिक सामाजिक मूल्य कहा जा सकता है। ऐसे कार्य उन अधिकारियों द्वारा समुचितरूपेण किये जाएंगे जो अकर्मण्य (कामचोर), कार्यविधि–केंद्रित मस्तिष्क वाले, पक्षपाती व निष्ठाहीन होते हैं, यह संदेहास्पद है। कार्यक्रमों के समयबद्ध कार्यपालन के लिए कुछ और भी तो

आवश्यक है– नीतियों व कार्यक्रमों से भावनात्मक अखंडता का बोध एवं जनसाधारण के हितों की पहचान। भावनात्मक रूप से उदासीन अथवा 'असावधान' प्रशासनिक सेवा 'अच्छाई का संवहन' नहीं कर पायेगी। हार्लेण्ड क्लॅवॅलेण्ड के शब्दों में–पृथ्वी पर कैसे कोई वरिष्ठ अधिकारी किसी प्रशासन की नीतियों से भावनात्मक जुड़ाव से बच सकता है? परिपक्व व्यक्ति जो ...ऐसे विषयों पर कार्य करते हैं, उनमें इन विषयों के प्रति भावनात्मक लगाव न होना निरर्थक है...वरिष्ठ सेवा के बारे में हूवर आयोग द्वारा यह यथार्थ ही बताया गया है कि राजनैतिक उदासीनता तो नपुंसकों का झुंड है, अमेरीकियों की वह विशेष नस्ल जो दृष्टि से दूर रहकर कष्ट से दूर रहती है। उसके मन को ठीक न लगने वाला कोई राजनैतिक कार्यपालक उसे पद सौंपना नहीं चाहेगा। शासन ऐसे व्यक्तियों से भरा हुआ है जो 'भावनात्मक लगाव नकारते' हैं, ऐसा शासन उस चिकित्सालय के समान है जहां के चिकित्सकों व चिकित्सा–सहायिकाओं (नर्स) द्वारा इस बात की चिंता (परवाह) नहीं की जाती कि उनके रोगी जीवित हैं अथवा नहीं, वे तो अपने ध्यान में केवल यह बात रखेंगे कि व्यावसायिक कार्यविधियों का पालन किया गया अथवा नहीं। तटस्थ व निष्पक्ष होना उचित है परंतु उदासीन हो जाना नहीं।

सोमर्स ने राजनैतिक तटस्थता के विषय में एक तीक्ष्ण टिप्पणी की है– 'भावनात्मक लगाव' की अवहेलना कर देना सरल है किंतु 'बौद्धिक लगाव' अथवा 'पेशेवर लगाव' का क्या? 'नैतिक लगाव' का क्या? क्या ये भी प्रशासनिक सेवक के लिए अनुचित हैं? इस प्रकार का प्रशासनिक सेवक आकर्षण–विहीन तो होगा ही, साथ ही संदेहास्पद वैधता वाला भी। प्रशासनिक सेवा में प्रबंधन के व्यक्तियों से परे एवं राजनीति के सामाजिक परिणामों से दूर 'उत्तम प्रबंधन' की पहचान करने से लोक प्रशासन बांझ के समान हो जाएगा यदि शून्यवाद छा गया तो किसी रचनात्मक सामर्थ्य का उभरना असंभावित ही है, आशा की उपस्थिति तो उस सामर्थ्य से ही हो सकती है।

प्रशासनिक सेवा तटस्थता का एक महत्वपूर्ण पहलू राजनैतिक गतिविधियों में प्रशासनिक सेवकों की स्थिति है। यहां समस्या यह उत्पन्न होती है कि दो विरोधाभासी लाभों के मध्य का संतुलन डोलने लगता है–

1. लोकतांत्रिक समाज में यह आवश्यक है कि राज–मामलों में सभी नागरिकों की सहभागिता हो एवं सार्वजनिक जीवन में वे जितनी अधिक हो सके, उतनी अधिक क्रियाशील/ऊर्जावान भूमिकाओं का निर्वाह करें।
2. जनहित में यह आवश्यक है कि प्रशासनिक सेवा में राजनैतिक तटस्थता को बनाये रखा जाए तथा उस निष्पक्षता का आश्वासन तो शासन के ढांचे का एक महत्वपूर्ण भाग है।

(6) नौकरशाही परेशानियां

परिशुद्ध परिभाषा के अभाव एवं व्यवहार में अनियमितता के कारण नौकरशाह तीव्र तनाव अनुभव करते हैं। अधिकांशतया यह अस्पष्टता उनके लाभ में भी रहती है परंतु उसी समय कभी–कभी तो राजनैतिक कार्यवाहकों द्वारा सार्वजनिक रूप से

उनका अभिनंदन तक कर दिया जाता है; वैसे कई राजनेता नौकरशाही को कोसने में लिप्त रहकर चुनावी लाभ अर्जित करने में लगे रहते हैं। ऐसा भी कहा जा सकता है कि नौकरशाही किसी राजा (बादशाह) की पत्नी नहीं है, यदि राजनेता उसका प्रयोग उसके पीछे छुपने अथवा उसे ढाल बनाने अथवा उसे सूली पर टांगने में करें तो वह जनहित में कार्य नहीं करने वाली। नौकरशाह कहते हैं कि वे दोनों एक समूह के रूप में कार्य करते हैं– अनुभवहीन राजनेता स्थायी विशेषज्ञीय अनुभव का प्रयोग करते हैं एवं राजनेता द्वारा प्रशासक को चेताया जाता है कि जनता क्या चाहती है परंतु व्यवहार में ऐसा होता नहीं है जैसा कि हम देख चुके हैं। एआरसी ने 'भारत के शासन की कार्यप्रणाली एवं उसकी कार्य–पद्धतियों की रिपोर्ट' नामक अपनी रिपोर्ट में इस प्रकार लिखा है– अधिकांश मंत्री अपने सचिव से निष्पक्ष व स्पष्टवादी परामर्श व सहायता प्राप्त करने के प्रति अनिच्छुक रहते हैं तथा वे अपनी ही इच्छा से निर्णय कर लेना चाहते हैं जो कि वे करने की इच्छा लिए बैठे थे। ऐसे उदाहरण सरलता से मिल जाते हैं जहां मंत्रियों द्वारा अधीनस्थों से अपनी बात हठ से मनवायी जाती है एवं प्रशासक अनिच्छुक, अप्रभावी एवं रुष्ट (रूठे) कार्यकर्ता जैसा कार्य करने लगता है। इससे यह प्रवृत्ति पनप गयी है कि बहुत सारे प्रशासनिक सेवक मंत्रियों की इच्छाओं का अनुसरण करने व उनके परामर्शानुसार प्रस्ताव रखने लग जाते हैं। यह दूषित प्रचलन आगे चलकर व्यक्तिगत संबद्धताओं का रूप ले लेता है तथा जिससे प्रशासनिक सेवकों का राजनीतिकरण हो जाता है। इन सबसे स्वच्छ संबंध की जड़ कट जाती है।

जाति के आधार पर उत्पीड़न भी प्रचलित है। स्थानांतरण (तबादले) करवाने के अतिरिक्त वरिष्ठता का घोर दमन अनेक अवैध कारणों से करा दिया जाता है– सचिव द्वारा शिकायत मात्र से, किसी राजनेता के साथ विवाद/दबाव/तनाव को टालने के लिए, राजनैतिक संबंधों वाले प्रशासनिक सेवक के लिए इन सबसे प्रशासनिक वर्ग नीतिभ्रष्ट हो जाता है एवं अब प्रशासनिक सेवक खिजियाते/झुंझलाते/चिढ़ते रहते हैं।

(7) प्रशासनिक सेवकों में भ्रष्टाचार

ऐसा कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार को भारतीयों द्वारा नहीं लाया गया, इस तथ्य को न नकारें कि यह एक सार्वत्रिक समस्या है; यह न तो आधुनिक जगत की देन है, न ही अन्य विकासशील देशों से उपजी है। भ्रष्टाचार की सार्वत्रिक प्रवृत्ति भारत शासन की दृष्टि से छुपी नहीं है। केंद्रीय स्तर पर भ्रष्टाचार के बचाव के कई वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रयास किये गए हैं। भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए संस्थानों के विकास का इतिहास पुरातन है। सन 1860 की भारतीय दंड संहिता की धारा 161 को रिश्वत लेने व पक्षपात से जूझने के लिए लाया गया था जबकि हावी विक्रेताओं व बिचौलियों को धाराओं 162–163 की परिधि में लाया गया। सन 1947 के भ्रष्टचार–सुरक्षा अधिनियम से भ्रष्टाचार के पीछे के ध्येय प्रमाणित करने की आवश्यकता सिमटी है। सन 1951 को पहली पंच–वर्षीय योजना में सार्वजनिक जीवन की अखंडता पर बल दिया

गया तथा कहा गया कि गलत बोली गयी बात का पता लगाना तो कठिन है ही, साथ ही इससे प्रशासन के दावे एवं प्रशासन में जनता के विश्वास को अनदेखा कर दिया जाता है। इसीलिए प्रशासन एवं लोक–जीवन में भ्रष्टाचार के हर रूप के विरुद्ध एक सतत युद्ध जारी रखा जाना चाहिए।

टिप्पणी

सेवा की इन समस्त विधियों (कानूनों) व परिनियमों के बावजूद प्रशासनिक भ्रष्टाचार तो दैनिक कार्य का विषय बन गया है। इसकी पृष्ठभूमि में इस बात को ध्यान में रखा जाए कि भ्रष्टाचार का स्तर जब सेवा के कुछ उच्चतर स्तरों तक सीमित हो तो भी उसके किये जाने की आवृत्ति निम्नतर स्तरों पर भी उच्च होती है। यह भी उल्लेखनीय है कि बारंबार किये जाने वाले भ्रष्टाचार के कारण हो सकता है कि ऐसा कुछ किये जाने की आवश्यकता हो जो कि स्वयं अवैध हो। वस्तुतः इससे प्रशासनिक निर्णय अथवा कार्य में तीव्रता लाने के लिए अधिकांशतः 'धन देने' की प्रवृत्ति विकसित कर ली गयी। बाद में यह एक वास्तविक तथ्य बना दिया जाता है कि अधिकांशतः भ्रष्टाचार एक स्वीकृत यथार्थता है।

प्रशासनिक सेवा के कार्य एवं महत्ता

वर्तमान में प्रशासनिक सेवक के अनेक दायित्व होते हैं, यथा–

- नीति के समस्त विषय में मंत्रियों को परामर्श देना
- नित्य के कार्यों की समस्त विशेषताओं का प्रबंधन यथा कर एकत्रण, लेखा–अनुरक्षण एवं डाक टिकट विक्रय।

लोक अधिकारियों द्वारा भांति–भांति के कार्य किये जाते हैं। उनका प्रथम कार्य शासन की नीतियों का कार्यपालन कराना है। द्वितीय कार्य के अंतर्गत अर्द्ध–विधायी (प्रत्यायोजित विधान–मंडल) एवं अर्द्ध–न्यायिक (प्रशासनिक अधिनिर्णयन) दायित्व सम्मिलित हैं। तृतीय कार्य में शीर्ष स्तर के राजनैतिक कार्यपालकों को नीति–विषयों पर परामर्श देते हैं। चौथे कार्य के रूप में 'जनसंपर्क' शासकीय उत्तरदायित्वों का एक महत्वपूर्ण भाग हो जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ पदों के अधिकारियों को यह कार्य सौंप दिया जाता है कि वे जनता को शासकीय नीतियां समझाएं एवं उनके कार्यान्वयन में उनका सहयोग प्राप्त करें। लोक अधिकारी द्वारा भारत में इन समस्त दायित्वों का निर्वाह संसदीय लोकतंत्र के नेपथ्य में किया जाता है एवं राजनेता के प्रति वह प्रत्यक्षतः जवाबदेह होता है तथा उनके माध्यम से वह अंततः संसद के प्रति व जनता के प्रति जवाबदेह होता है।

प्रशासनिक सेवक विधान–व्यवस्था के लिए एवं अपने कार्य–क्षेत्र में साधारण प्रशासन के प्रति उत्तरदायी होता है। साधारणतया भारतीय प्रशासनिक अधिकारी (इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस ऑफिसर) के कार्य निम्नानुसार होते हैं–

- शासन के दैनिक मामलों को संभालना, जैसे– तत्संबंधी मंत्रालय के प्रभारी मंत्री से विचार–विमर्श करते हुए नीतियों का निर्माण व क्रियान्वयन करना।
    - o नीति के क्रियान्वयन में पर्यवेक्षण की आवश्यकता रहती है।

टिप्पणी

  - o क्रियान्वयन में उन स्थानों पर यात्रा करने की आवश्यकता होती है जहां नीतियों का क्रियान्वयन किया जाना हो।
  - o क्रियान्वयन में सार्वजनिक निधियों का परिव्यय भी सम्मिलित है, इसमें भी व्यक्तिगत पर्यवेक्षण की आवश्यकता रहती है क्योंकि कोई अनियमितता होने पर अधिकारी संसद व विधानसभा में जवाबदेह होते हैं।
- नीति गढ़ने व निर्णयन की प्रक्रिया में विभिन्न स्तरों के अधिकारी (संयुक्त सचिव, उप सचिव इत्यादि) अपना–अपना योगदान देते हैं तथा मुद्दे की गंभीरता के अनुसार तत्संबंधी मंत्री अथवा मंत्रिमंडल के तालमेल से नीति को अंतिम रूप प्रदान किया जाता है अर्थात अंतिम निर्णय लिया जाता है।

सरदार वल्लभभाई पटेल को आधुनिक अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने में भारत के प्रशासनिक सेवकों का 'पितामह' कहा जाता है। अभूतपूर्व व स्थिर मुद्रा में उनकी मृत्यु होने पर भारत की प्रशासनिक व पुलिस सेवाओं के 1500 से अधिक अधिकारियों ने शोक में एकत्र होकर दिल्ली स्थित पटेल–निवास पर भारत की सेवा में 'पूर्ण निष्ठा व सतत उत्साह' की प्रतिज्ञा की।

ऑग ने आधुनिक शासन में प्रशासनिक सेवा की महत्ता को निम्नानुसार परिभाषित किया है–

शासन का कार्य कभी न किया जा सकेगा यदि केवल राज्य सचिव, विभागों के अन्य मुखिया, मंडलाध्यक्ष, संसदीय अधीनस्थ सचिव, कनिष्ठ मालिक व प्रशासनिक मालिक हों तो। अन्य शब्दों में मंत्री उन कार्यों को अकेले नहीं कर पाते। इन व्यक्तियों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि ये कर एकत्र करें, लेखा–परीक्षण करें, प्रतिष्ठानों का निरीक्षण करें, जनगणना करें, खातों का लेखा–जोखा रखें, संदेश व डाक भेजें इत्यादि।

नाना प्रकार के ये कार्य अधिकारियों व कर्मचारियों के उस निकाय से करवाए जाते हैं, जिसे स्थायी प्रशासनिक सेवा कहते हैं। यह स्त्री–पुरुषों का विशाल समूह है जो विधि को कार्य में बदलता है, जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक शासन की नीतियों का निष्पादन दैनिक रूप से विभिन्न पदों के संपर्क में रहते हुए कराता है। वह समूह जनता के मध्य कम वरन शासन की दृष्टि में अधिक रहता है। अधिकारियों की एक प्रकार की इस सेना का महत्व उन प्रयोजनों को साकार करने में रत्तीभर भी कम नहीं आंका जा सकता जिनके लिए कि शासन का अस्तित्व होता है।

प्रशासनिक सेवा तो राज का एक कार्यवाहक अभिकरण अथवा कार्यबल है जो उसकी नीतियों व निर्णयों के क्रियान्वयन में रत रहता है। इन कार्यों के अतिरिक्त यह नीति–निर्माण में राजनेताओं के लिए मान्य परामर्शदाता की भूमिका निभाता है। उसके परामर्श व्यावसायिकता पर आधारित होते हैं।

मंत्रियों को 'कैरियर राजनेता' कहा जाता है एवं वे जनता की आवश्यकताओं व उनके हितों के बारे में व्यापक रूप से जानते हैं परंतु वर्तमान जटिल परिवेश में

टिप्पणी

नीति–निर्माण के लिए आवश्यक विस्तृत एवं विशेषज्ञीय ज्ञान का उनमें अभाव होता है। यह ज्ञान प्रशासनिक सेवा द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। देश की उच्चतर प्रशासनिक सेवा उसके भविष्य को स्वरूप प्रदान करने में अवश्यमेव निर्णायक भूमिका निभाती है; विशेषतया भारत जैसे विकासशील समाजों में तो ऐसा ही है जहां उसे चिरकाल से केंद्रीय संस्थान के रूप में देखा जाता रहा है; इसका कारण उसका संख्याबल नहीं है।

परिमाणात्मक बात करें तो उच्चतर प्रशासनिक सेवा का संख्याबल तो भारत में केंद्रशासन के लगभग चालीस लाख कर्मचारियों में से पांच प्रतिशत ही होगा। उच्चतर प्रशासनिक सेवा के सदस्य शासन के सभी क्षेत्रों में समस्त रणनीतिक पदों पर शासक के रूप में रहते हैं तथा इस प्रकार लोक नीति–निर्माण में उनकी प्रत्यक्ष सहभागिता होती है। उनके निर्णय समाज के समस्त वर्गों के जीवन व उनकी प्रसन्नता को प्रभावित करते हैं। वे विधियों (कानूनों) का कार्यपालन कराते हैं, शासन की नीतियों व निर्णयों का क्रियान्वयन करते हैं। लोकतंत्र में नीति–निर्माण राजनैतिज्ञों का राजाधिकार होता है, यह कार्य प्रशासनिक सेवा के सहयोग से किया जाता है। भारत में राजनेता प्रशासनिक फलक पर बहुत बाद में पहुंचे, अर्थात् नीति–निर्माण एवं नीति–क्रियान्वयन दोनों में दीर्घकाल तक प्रशासनिक सेवा कार्यरत रही।

प्रशासनिक सेवा को देश के सम्मुख स्थित समस्याओं के समस्त प्रकारों के विश्वस्त हल के रूप से सदा से देखा जाता है। पहले प्रशासनिक समाज विकसित नहीं किया गया था, तब जनता अपने कार्य–निर्वहन के लिए शासन पर सीधे रूप में निर्भर हुआ करती थी। औपनिवेशिक काल के दौरान व स्वाधीनता उपरांत यह एक प्रचलित धारणा थी। सन 1980 में देश ने अपनी सार्वजनिक नौकरशाही से असहजता अनुभव करना आरंभ कर दिया। यह अनुभूति बढ़ रही थी कि हल तो स्वयं एक समस्या है, इस प्रकार विकल्पों को खोजने की आवश्यकता है।

सन 1991 में भारत ने औपचारिक रूप से मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था एवं उदारीकरण की नवीन आर्थिक नीति घोषित की। प्रशासनिक समाज (विशेषतः स्वयंसेवी संस्थाओं) व मुक्त बाज़ार के कारण इस घोषणा को राज की वापसी की दिशा में एक कदम माना गया। शासन से अब समर्थन चाह रहे नवीन प्रयास 'नवीन लोक प्रबंधन' (एनपीएम) हैं। पांचवें केंद्रीय वेतन आयोग (सन 1997) की रिपोर्ट को भारतीय लोक प्रशासन (प्रशासनिक सेवा सहित) के नवीन फलक का पहला प्रामाणिक पाठ्य माना जाता है। इन परिवर्तनों में से कुछ तो निश्चित ही शीघ्रता वाले हैं, निश्चितता के कारण वे महत्वपूर्ण हैं, प्रशासनिक सेवा की भूमिका बदली है किंतु निश्चित ही उनकी महत्ता नहीं घटी। उदारीकरण, मुक्त बाज़ार एवं वैश्वीकरण की ओर शासन की घोषित नीति के परिप्रेक्ष्य में नियामक के रूप में प्रशासनिक सेवा की महत्ता अत्यधिक बढ़ी है। आर्थिक उदारीकरण की घोषित नीति के तहत निजी क्षेत्र निश्चित ही बढ़ेगा, जिसे फिर निगरानी व नियंत्रण की आवश्यकता होगी। भारत में भारतीय प्रतिभूति विनिमय मंडल

(सेबी), भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण (ट्राई), विनिवेश आयोग, प्रतिस्पर्द्धा आयोग इत्यादि जैसे निकाय पहले से हैं। नियामक नौकरशाह को नवीन कौशल, लक्षण, वृत्तियां एवं सीखें विकसित करनी होंगी।

टिप्पणी

लोक अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले भांति–भांति के कार्यों की परास व्यापक है। उच्चतर प्रशासनिक सेवा के सदस्य द्वारा वर्तमान में विधान–व्यवस्था को तो लागू किया ही जाता है परंतु ग्राम्य विकास व औद्योगिक विकास इत्यादि का दायित्व भी सौंपा गया होता है। उसे संगठन में प्रतिनियुक्ति पर भेजा जाता है जहां कार्य नवीन एवं चुनौतीपूर्ण हो सकता है। उसे किसी अवधि के लिए विदेश भी भेजा जा सकता है। उसे सौंपे जाने वाले कई कार्य निजी क्षेत्र संगठन की समझ से सर्वथा परे होते हैं। उनके कुछ कार्य लोक प्रशासन में विलक्षण होते हैं, यथा आपदा की परिस्थिति संभालना; बहुधा उन संकटों को संभालना है जिनमें सहस्त्रों जनों के जीवन–मरण का प्रश्न रह सकता है। प्रशासनिक सेवक की सामाजिक उपयोगिता सक्रिय सेवा से उसके सेवानिवृत्त होने पर भी समाप्त नहीं होती। उच्चतर प्रशासनिक सेवकों की सेवानिवृत्ति के पश्चात भी उन्हें राज्यपाल, आयोग–सदस्य, समिति–सदस्य के रूप में अथवा अन्य कार्यों में नियुक्त किया जाता है। ज्ञान की बात यह है कि प्रशासनिक सेवक की भूमिका कभी समाप्त नहीं होने वाली है। प्रशासनिक सेवा का आकर्षण समाज में बढ़ा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन 1950 में नया संविधान लागू हुआ। भारतीय सिविल सेवा (ICS) का स्थान भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) ने ग्रहण कर लिया तथा नवीन भारतीय विदेश सेवा (IFS) की स्थापना की गई। संघ लोक सेवा आयोग ने पूर्ववर्ती 'फेडरल पब्लिक सर्विस कमीशन' का स्थान ग्रहण किया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 16 के द्वारा स्थापित खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त ने संघ लोक सेवा का महत्व अपेक्षाकृत बढ़ा दिया है। लोक सेवाओं में प्रशिक्षण की दृष्टि से पांचवें दशक में नेशनल एकेडमी आफ एडमिनिस्ट्रेशन तथा विशेषीकृत प्रशिक्षण अभिकरण स्थापित किये गये।

प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने 27 जून, 1970 को कैबिनेट सचिवालय में सेवीवर्ग विभाग की स्थापना की। केन्द्र सरकार, जो कि संघ सूची के 97 और समवर्ती सूची के 47 विषयों को प्रशासित करती है, इन विषयों से सम्बन्धित केन्द्रीय लोक सेवाओं का गठन कर सकती है। इन क्षेत्रों में प्रतिरक्षा सेवाएं, रेलवे सेवाएं तथा डाक–तार सेवाएं बहुत पहले से ही थीं। उनका इतिहास तथा परम्पराएं काफी पुरानी और गौरवपूर्ण रही हैं। स्वतन्त्रता के बाद संसद ने अखिल भारतीय वन सेवा का गठन किया है।

केन्द्र का अनुसरण करते हुए राज्य सरकारों ने भी अपने–अपने लोक सेवा आयोगों के परामर्श से 'जनरलिस्ट' और 'टेक्निकल' लोक सेवाओं के नये काडरों का गठन किया है। राज्य में इन सेवाओं में विभिन्नता देखने को मिलती है किन्तु ऐतिहासिक विरासत की समानता के कारण राज्य सेवाओं का ढांचा बहुत कुछ एक जैसा रहा है। उदाहरण के लिए केन्द्रीय और राज्यीय लोक सेवाओं में अधिकारियों का एक चतुर्वर्गीय

विभाजन मिलता है जिसे 'फर्स्ट', 'सैकेण्ड', 'थर्ड' और फोर्थ क्लास पब्लिक सर्वेन्ट कहा जाता है। प्रत्येक श्रेणी की प्रत्येक सेवा से सम्बन्धित नियम एवं उपनियम बनाये गये हैं।

वर्तमान समय में भारत में 3 अखिल भारतीय सेवाएं, 35 केन्द्रीय सेवा ग्रुप 'A' तथा अनेक राज्य स्तरीय सेवाएं हैं।

भारतीय लोक सेवा : संरचना (The Indian Civil Services: Structure)

(i) अखिल भारतीय सेवाएं– (1) भारतीय प्रशासनिक सेवा (2) भारतीय पुलिस सेवा (3) भारतीय वन सेवा

(ii) केन्द्रीय सेवाएं– (1) केन्द्रीय सेवा श्रेणी 'प्रथम', (2) केन्द्रीय सेवा श्रेणी 'द्वितीय', (3) केन्द्रीय सेवा श्रेणी 'तृतीय' (4) केन्द्रीय सेवा श्रेणी 'चतुर्थ'।

प्रशासनिक संगठन में श्रम विभाजन तथा पदसोपान के सिद्धान्त के कारण यह सम्भव नहीं है कि संगठन के सभी कर्मचारियों की योग्यता, प्राधिकार तथा उत्तरदायित्व समान हों। कार्मिक प्रशासन सबके लिए भर्ती, पदोन्नति, वेतन आदि के समान नियम नहीं बना सकता इसलिए सेवाओं का वर्गीकरण किया जाता है। मार्सटीन मार्क्स के अनुसार, ''वर्गीकरण का अर्थ, कर्तव्यों एवं अपेक्षित योग्यताओं को समानता के आधार पर पदों में समूहबद्ध करना है।''

डिमॉक के अनुसार, ''वर्गीकरण का अर्थ है तुलनात्मक कठिनाइयों तथा उत्तरदायित्वों के अनुसार पद–सोपान के रूप में पदों को छांटना और श्रेणीबद्ध करना।''

सेवाओं में वर्गीकरण निम्नांकित दो प्रकार का होता है–

1. **रैंक वर्गीकरण** (Rank Classification)– रैंक वर्गीकरण में समान योग्यता, प्रशिक्षण तथा समान वेतनमान वाले लोक सेवकों का एक समूह होता है जो इन गुणों में अन्य ऐसे समूह से उच्च या निम्न होता है। प्रत्येक ऐसे समूह को एक रैंक दे दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा, राजस्थान प्रशासनिक सेवा, राजस्थान तहसीलदार सेवा इसी प्रकार के रैंक हैं। इस वर्गीकरण में पद का कोई जिक्र नहीं है। पद को उसकी कठिनाई तथा आवश्यक योग्यता के आधार पर उचित रैंक का लोक सेवक दे दिया जाता है। किसी पद पर बड़ी या छोटी रैंक का लोक सेवक जाने से पद का महत्व स्वतः बढ़ या घट जाता है।

2. **पद वर्गीकरण** (Position Classification)– पद वर्गीकरण में लोक सेवा की बजाय पदों के वर्ग बनाये जाते हैं। इसमें लोक सेवक की अपनी कोई व्यक्तिगत पहचान नहीं होती। पद के अनुसार उनके वर्ग का अनुमान लगाया जाता है।

   जैसे– रैंक के अनुसार नामपट्टी (Nameplate) पर लिखेंगे मनोज कुमार, आई.ए.एस., जबकि पद वर्गीकरण में लिखेंगे मनमोहन, उपमहाप्रबन्धक।

भारतीय लोक सेवाओं का वर्गीकरण (Classification of Indian Civil Services)

भारत में लोक सेवाओं के वर्गीकरण की व्यवस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में ही प्रारम्भ हो गई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में सेवी वर्गों को दो भागों में बांटा गया था– एक भाग संविदाबद्ध तथा दूसरा असंविदाबद्ध था। सन 1886–87 के एचिसन आयोग की सिफारिश के अनुसार फिर सेवाओं को तीन वर्गों में बांटा गया था– इम्पीरियल सेवा (Imperial Service), प्रान्तीय सेवा (Provincial Service) तथा अधीनस्थ सेवा (Subordinate Service)। आगे चलकर इस्लिंग्टन आयोग (1912–15) ने इस त्रिवर्गीय संरचना के स्थान पर सेवाओं को दो वर्गों में विभाजित किया– उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग सेवा। सन 1930 के बाद इम्पीरियल सेवाओं के दो वर्ग बनाये गये– अखिल भारतीय सेवाएं तथा केन्द्रीय सेवाएं। वर्तमान में भारतीय लोक सेवाओं को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है–

1. **अखिल भारतीय सेवाएं** (All India Services)– भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा तथा भारतीय वन सेवा।
2. **केन्द्रीय सेवाएं** (The Central (Union) Services)– श्रेणी प्रथम, श्रेणी द्वितीय, श्रेणी तृतीय तथा श्रेणी चतुर्थ।
3. **राज्य सेवाएं** (State Services)– राज्य सेवाएं, राज्य अधीनस्थ सेवाएं तथा राज्य तहसीलदार सेवाएं।
4. **केन्द्रीय सचिवालय सेवाएं** (Central Secretariat)– श्रेणी प्रथम, श्रेणी द्वितीय, श्रेणी तृतीय तथा श्रेणी चतुर्थ।
5. **विशेषज्ञ सेवाएं** (Specialist Service)– चिकित्सा सेवा, अभियन्ता सेवा, शिक्षा सेवा इत्यादि।

उपरोक्त वर्गों के अतिरिक्त प्रत्येक सेवा में अनेक ग्रेड बनाये गये हैं। साथ ही लोक सेवकों को राजपत्रित तथा अराजपत्रित वर्गों में रखा गया है। इनके वर्गीकरण की प्रकृति को समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि यहां विशुद्ध प्रतिमान नहीं है। फिर भी अखिल भारतीय सेवाओं तथा राज्य सेवाओं को रैंक आधारित वर्गीकरण में लिया जा सकता है। इन लोक सेवाओं की विशेष बात यह है कि इनके सदस्यों को भारतीय प्रशासन के किसी संगठन के किसी ऐसे पद पर नियुक्त किया जा सकता है, जिस पर विशेषीकरण की आवश्यकता न हो। इनके अतिरिक्त सभी सेवाओं जैसे केन्द्रीय सेवाओं, केन्द्रीय सचिवालय सेवाओं तथा विशेषज्ञ सेवाओं को पद वर्गीकरण के अधिक नजदीक माना जा सकता है। केन्द्रीय सेवाएं श्रेणी प्रथम, श्रेणी द्वितीय में भी रैंक वर्गीकरण के कुछ गुण देखे जा सकते हैं।

अखिल भारतीय सेवाएं (All India Services)

स्वयं संविधान के भीतर अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान किया गया है। उसमें विशेषतः भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा का उल्लेख किया गया है। उन्हें जारी रखते हुए संसद को यह सत्ता दी गई है कि वह विधि द्वारा अन्य सेवाओं

की स्थापना कर सके। अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना करने के लिए विधि पारित होने से पहले आवश्यक है कि राज्यसभा अपने दो–तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके यह घोषणा करे कि इस प्रकार की सेवा की स्थापना आवश्यक है। इस विषय में राज्यों से भी परामर्श किया जा सकता है।

टिप्पणी

वर्तमान में तीन अखिल भारतीय सेवाएं हैं। ये हैं– भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS), भारतीय पुलिस (IPS) तथा भारतीय वन सेवा (IFS)। अखिल भारतीय सेवा की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके सदस्यों की भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन तथा सेवा की शर्तों का निर्धारण तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए केन्द्रीय सरकार उत्तरदायी है। पर ये सेवाएं अपने कार्यकाल के अधिकांश समय में राज्य सरकार की सेवा में रहती हैं। वस्तुतः इनकी नियुक्ति विभिन्न राज्यों के काडरों पर होती है और केन्द्रीय सरकार इन्हें अवधि प्रणाली के आधार पर कुछ समय के लिए ले लेती है। चतुर्थ वेतन आयोग की अनुशंसा के बाद इन सेवाओं के छः ग्रेड बनाये गये हैं। ग्रेड का आधार वेतनमान होता है। वैसे इन्हें विशेष प्रकार की श्रेणी भी कहा जा सकता है–

1. उच्चतम वेतनमान (स्थिर) इसमें सभी सचिव आते हैं।
2. उच्चतम वेतनमान (स्थिर) इसमें अतिरिक्त सचिव शामिल हैं।
3. उच्चतम वेतमान (संयुक्त सचिव)
4. चयनित वेतनमान
5. वरिष्ठ वेतनमान
6. कनिष्ठ वेतनमान

उपर्युक्त सभी वेतनमान व्यवस्थाओं के भीतर पदोन्नति की व्यवस्था है। इसका रैंक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोक सेवक कनिष्ठ वेतनमान से उच्चतम (स्थिर) तक आई.ए.एस., आई.पी.एस. या आई.एफ.एस. ही रहता है।

केन्द्रीय सेवाएं (Central Services)

केंद्रीय सेवाओं का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार का कार्मिक विभाग करता है और ये केन्द्रीय सरकार के विभागों के लिए कार्य करती हैं। इनकी चार श्रेणियां (प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ) होती हैं। इनमें से प्रथम दो अर्थात श्रेणी प्रथम तथा श्रेणी द्वितीय की भर्ती अखिल भारतीय सेवाओं की भर्ती के साथ संघ लोक सेवा आयोग 'संयुक्त सिविल सेवा परीक्षा' के द्वारा करता है। केन्द्रीय सेवा श्रेणी प्रथम में लगभग 35 सेवाएं तथा श्रेणी द्वितीय में 25 सेवाएं आती हैं। ये सेवाएं भारत सरकार के अलग–अलग कार्यों के लिए बनी हैं। श्रेणी प्रथम उसके उच्च पदों तथा उसी विभाग की श्रेणी द्वितीय मध्यम पदों पर कार्य करती हैं।

केन्द्रीय सेवा में श्रेणी द्वितीय में कार्यालयी वर्ग आता है। श्रेणी तृतीय में लिपिक तथा कार्यालयी वर्ग आता है और श्रेणी चतुर्थ में चपरासी, चौकीदार, ड्राइवर आदि आते हैं।

केन्द्रीय सेवाएं : वर्ग 'अ' (Central Services Group A)

इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. भारतीय विदेश सेवा
2. भारतीय लेखा परीक्षा एवं लेखा सेवा
3. भारतीय पुरातत्व सेवा
4. भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण सेवा
5. भारतीय भू–सर्वेक्षण सेवा
6. भारतीय सुरक्षा लेखा सेवा
7. भारतीय मौसम सेवा
8. भारतीय डाक सेवा
9. भारतीय डाक तार संचार सेवा
10. भारतीय राजस्व सेवा (भारतीय सीमा शुल्क सेवा, केन्द्रीय एक्साइज सेवा तथा आयकर सेवा समाहित)
11. भारतीय नमक सेवा
12. भारतीय जन्तु सर्वेक्षण सेवा
13. भारतीय सीमा प्रशासन सेवा
14. भारतीय विदेश सेवा शाखा (ब) (सामान्य कैडर की प्रथम तथा द्वितीय कोटियां)
15. भारतीय निरीक्षण सेवा
16. भारतीय पूर्ति सेवा
17. भारतीय सांख्यिकी सेवा
18. भारतीय आर्थिक सेवा
19. केन्द्रीय अभियान्त्रिकी सेवा
20. केन्द्रीय विद्युत अभियांत्रिकी सेवा
21. केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा
22. केन्द्रीय राजस्व रासायनिक सेवा
23. केन्द्रीय सचिवालय सेवा
24. सामान्य केन्द्रीय सेवा
25. केन्द्रीय विधिक सेवा
26. भारतीय सूचना सेवा (पूर्व नाम केन्द्रीय सूचना सेवा)
27. व्यापारिक जहाजरानी प्रशिक्षण जलयान सेवा

28. खदान विभाग सेवा
29. समुद्रपार संचार सेवा
30. भारत सर्वेक्षण सेवा
31. तार अभियान्त्रिकी सेवा
32. रेलवे निरीक्षण सेवा (प्रथम)
33. तार यातायात सेवा (प्रथम)
34. रेलवे कार्मिक सेवा
35. भारतीय लागत लेखा सेवा

टिप्पणी

केन्द्रीय सेवाएं : वर्ग 'ब' (Central Services: Group B)

1. भारतीय जलवायु सेवा
2. भारतीय निरीक्षण सेवा
3. भारतीय भू–सर्वेक्षण सेवा
4. भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण सेवा
5. भारतीय सर्वेक्षण सेवा
6. भारतीय जन्तु सर्वेक्षण सेवा
7. भारतीय नमक सेवा
8. सामान्य केन्द्रीय सेवा
9. केन्द्रीय अभियान्त्रिकी सेवा
10. केन्द्रीय विद्युत अभियान्त्रिकी सेवा
11. केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा
12. केन्द्रीय एक्साइज सेवा (अधीक्षक तथा जिला अधीक्षक अधिकारी इत्यादिब
13. सीमा शुल्क आकलन सेवा (प्रधान आकलन तथा मुख्य आकलन)
14. सीमा शुल्क आकलन सेवा (प्राकलन)
15. सीमा शुल्क निरोधक सेवा (मुख्य निरीक्षक)
16. सीमा शुल्क निरोधक सेवा (निरोधक)
17. डाक निरीक्षण सेवा
18. तार अभियांत्रिकी एवं बेतार सेवा
19. तार यातायात सेवा
20. आयकर सेवा
21. श्रम अधिकारी सेवा

टिप्पणी

22. केन्द्रीय सचिवालय सेवा (अनुभाग) अधिकारी
23. केन्द्रीय सचिवालय सेवा (ग्रेड प्रथम)
24. केन्द्रीय सचिवालय स्टेनोग्राफर सेवा (ग्रेड प्रथम)
25. केन्द्रीय सचिवालय स्टेनोग्राफर सेवा (सम्मिलित)

केन्द्रीय सेवाएं : वर्ग 'स' (Central Services: Group C)

ये सेवाएं अराजपत्रित श्रेणी की हैं। इनमें केन्द्रीय सचिवालय लिपिक सेवा तथा डाक एवं तार लेखा सेवा इत्यादि सम्मिलित हैं।

केन्द्रीय सेवाएं : वर्ग 'द' (Central Services: Group D)

इस श्रेणी में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, यथा–चपरासी, जमादार तथा बागबान इत्यादि सम्मिलित हैं।

उपयुर्क्त वर्णित वर्ग 'अ' तथा 'ब' के अधिकारियों की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा होती है। वर्ग 'स' की भर्ती कर्मचारी चयन आयोग द्वारा होती है तथा वर्ग 'द' की भर्ती सम्बन्धित विभाग या कार्यालय स्वयं के स्तर पर करता है।

केन्द्रीय सेवाओं के वर्ग 'अ', 'ब' तथा 'स' के कार्मिकों से सम्बन्धित कार्मिक प्रशासन के कार्य भारत सरकार के 'कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मन्त्रालय' द्वारा सम्पादित होते हैं। केन्द्रीय तथा राज्य सेवाओं के कुल कार्मिकों में से 90 प्रतिशत कार्मिक तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के ही हैं।

राज्य सेवाएं (State Services)

राज्य सेवाएं वे सेवाएं हैं जिनकी भर्ती राज्य का लोक सेवा आयोग करता है, इनका प्रबन्ध राज्य सरकार करती है तथा ये सेवाएं राज्य के विभागों में कार्य करती हैं। इन सेवाओं के दो मुख्य वर्ग हैं– राज्य सेवाएं तथा राज्य अधीनस्थ सेवाएं। प्रकृति के अनुसार राज्य सेवाओं की दो सेवाएं (प्रशासनिक तथा पुलिस) दो अखिल भारतीय सेवाओं की पद्धति पर तैयार की गई हैं और ये राज्य सेवाएं इन अखिल भारतीय सेवाओं के अधीनस्थ के रूप में कार्य करती हैं। शेष राज्य सेवाएं भी केन्द्रीय सेवा श्रेणी द्वितीय की तरह विभागों में कार्य करने के लिए बनाई गई हैं। इसलिए प्रथम दो को रैंक पद्धति में तथा शेष सभी को वर्गीकरण की मिश्रित पद्धति में रखा जा सकता है। राज्य सेवाओं में मन्त्रालय तथा चतुर्थ श्रेणी सेवाएं भी हैं। इन सबके अतिरिक्त अनेक विभागीय सेवाएं हैं जिन्हें विशिष्ट सेवाओं में रखा जा सकता है, जैसे–कृषि, पशुपालन, पुरातत्व आदि।

सामान्यतः राज्यों में लोक सेवाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार होता है–

1. राज्य प्रशासनिक सेवाएं (State Administrative Services)
2. राज्य लेखा सेवाएं (State Accounts Services)
3. राज्य लेखा अधीनस्थ सेवाएं (State Accounts Subordinate Services)

4. राज्य सचिवालय सेवाएं (State Secretariat Services)
5. विभागीय सेवाएं (Departmental Services)

राज्य लोक सेवाओं को सामान्य रूप से चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है–

टिप्पणी

1. प्रथम श्रेणी (राजपत्रित) (Gazetted)
2. द्वितीय श्रेणी (राजपत्रित) (Gazetted)
3. तृतीय श्रेणी (अराजपत्रित) (Non-Gazetted)
4. चतुर्थ श्रेणी (अराजपत्रित) (Non-Gazetted)

केन्द्रीय सचिवालय सेवाएं (Central Secretariat Services)

ये सेवाएं केन्द्रीय सचिवालय के कार्यालयों के प्रबन्ध के लिए स्थापित की गई हैं। ये निम्नांकित तीन प्रकार की हैं–

(क) **केन्द्रीय सचिवालय सेवा** (CSS)– इसकी शुरुआत तो ब्रिटिशकाल में ही हो चुकी थी किन्तु स्वतन्त्र भारत में 1951 में इसका गठन किया गया। यह केन्द्रीय सचिवालय में मध्यम एवं निचले स्तरों पर कार्यालय प्रबन्ध करने तथा उच्च अधिकारियों को सहयोग करने के लिए गठित की गई है। इस वर्ग के लोक सेवक सचिवालय में सहायक अनुभाग अधिकारी, अवर सचिव, उपसचिव और कभी–कभी तो संयुक्त सचिव के पद तक पहुंच जाते हैं।

वेतनमान के अनुसार इस सेवा में चार ग्रेड स्थापित किये गये हैं। ये ग्रेड हैं–

1. चयनित ग्रेड (उपसचिव से संयुक्त सचिव तक)
2. ग्रेड प्रथम (सहायक या अवर सचिव)
3. अनुभाग अधिकारी ग्रेड
4. सहायक अधिकारी ग्रेड

(ख) **केन्द्रीय सचिवालय आशुलिपिक सेवा** (Central Secretariat Stenographer Services)– इसका गठन भी 1951 में किया गया। ये प्रायः अनुभाग में अधिकारी के साथ काम करते हैं। इनकी पदोन्नति सचिवालय के उच्च अधिकारियों के निजी सचिव पदों तक संभव है। इस सेवा में चार ग्रेड हैं– निजी सचिव का ग्रेड 'क' (इसमें ग्रेड 'ख' को मिला दिया है।) ग्रेड 'ग' तथा ग्रेड 'घ'।

(ग) **केन्द्रीय सचिवालय लिपिक सेवा** (Central Secretariat Clerical Services)– केन्द्रीय सचिवालय में इस सेवा के कनिष्ठ तथा वरिष्ठ लिपिकों की संख्या लगभग 12 हजार है। इनकी भर्ती 'स्टाफ चयन आयोग' द्वारा प्रतियोगी परीक्षा द्वारा की जाती है। कनिष्ठ से वरिष्ठ लिपिक पद के 75 प्रतिशत पदों पर पदोन्नति की जाती है। शेष 25 प्रतिशत पद विभागीय परीक्षाओं के आधार पर भरे जाते हैं। वरिष्ठ लिपिक को भी पदोन्नति के

अवसर दिये गये हैं। सचिवालय सेवा के सहायक ग्रेड के 50 प्रतिशत पद वरिष्ठ लिपिकों से भरे जाते हैं।

विशिष्ट सेवाएं (Special Sevices)

ये सेवाएं विभिन्न कार्यों के लिए विशेषीकरण के आधार पर स्थापित की गई हैं। अपने क्षेत्र में छोटे से लेकर निदेशक और महानिदेशक के पद तक इनका विस्तार है। इंजीनियरिंग सेवा में कनिष्ठ अभियन्ता से लेकर मुख्य अभियन्ता तक के पद आते हैं। इसी प्रकार स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में तकनीक, कम्प्यूटर, इलेक्ट्रोनिक्स आदि से सम्बन्धित सेवाएं इस वर्ग में आती हैं। वेतनमान के आधार पर इनके भी वर्ग बनाये हुये हैं।

स्थानीय सेवाएं (Local Services)

सेवाएं, प्रशासनिक व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण एवं जटिल आयाम हैं। किसी भी राष्ट्र के नागरिकों का कल्याण एवं सुरक्षा सरकार की कार्यकुशलता पर निर्भर रहती है। केन्द्र एवं राज्य के समान स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं में भी सेवाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत के विभिन्न राज्यों में स्थानीय सेवाएं कार्यरत हैं। संविधान के 73वें एवं 74वें संशोधन के बाद स्थानीय संस्थाओं को अनेक प्रकार के कार्य एवं उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं। इन्हें पूर्ण करने के लिए नगरीय एवं पंचायती राज संस्थाओं में कुशल, ईमानदार, तकनीकी ज्ञान रखने वाले सेवी वर्गों की आवश्यकता है। स्थानीय शासन की संस्थाओं के कार्य–संचालन में सेवाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वस्तुतः नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों का प्रभावशील क्रियान्वयन सेवाओं की गुणवत्ता पर निर्भर करता है।

स्थानीय सेवाएं दो प्रकार की होती हैं–

(क) नगर पालिका सेवा (Municipality Services)

(ख) पंचायत सेवा (Panchayat Services)

(क) नगर पालिका सेवा (Municipality Services)

संविधान के अन्तर्गत स्थानीय शासन राज्य सूची का विषय है। इसी कारण भारत के विभिन्न नगरों में नगरीय शासन की संस्थाओं में सेवा से सम्बन्धित भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रणालियां प्रचलित हैं। मुख्य रूप से नगरपालिका में निम्नांकित तीन प्रकार की सेवीवर्ग व्यवस्था देखने को मिलती है–

1. **पृथक सेवीवर्ग प्रणाली** (Separate Persnannel System)– इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक नगरीय इकाई अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करने और सेवा–शर्तों को सुनिश्चित करने के लिए पूर्णतः अधिकृत एवं स्वतन्त्र होती है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति चूंकि एक विशिष्ट नगरपालिका द्वारा या नगरीय इकाई में होती है, अतः किसी अन्य नगरीय इकाई में कर्मचारियों का स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता है।
2. **एकीकृत सेवीवर्ग प्रणाली** (Unified Personnel Services)– इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत नगरीय निकायों में कुछ पदों या सभी प्रकार के पदों के

लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए एक सेवा होती है जिसका प्रशासनिक विनिमय और नियन्त्रण सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। इसमें राज्य स्तर पर नगरीय निकाय के विभिन्न सेवा संवर्गों के लिए कर्मचारियों की भर्ती की जाती है। उन्हें राज्य के अन्य नगरीय निकायों में नियुक्त एवं स्थानान्तरित किया जा सकता है।

3. **समन्वित प्रणाली** (Co-ordinate System)– इसमें नगरीय निकायों के कर्मचारियों के लिए कोई विशेष प्रणाली नहीं अपनायी जाती, बल्कि राज्य सरकार के विभिन्न प्रशासनिक विभागों और स्थानीय निकायों में नियुक्ति किये जाने वाले कर्मचारी एक ही संवर्ग से लिए जाते हैं, जैसे– नगरपालिका में कार्यरत स्वास्थ्य कर्मचारी एवं इंजीनियर की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है जो राज्य स्वास्थ्य तथा इंजीनियरिंग सेवा के सदस्य होते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में तीन प्रकार की प्रणालियां प्रचलित हैं। पृथक सेवीवर्ग प्रणाली गुजरात और पश्चिम बंगाल में प्रचलित है। एकीकृत प्रणाली राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु आदि में कार्यरत है। समन्वित प्रणाली प्रत्येक राज्य में सीमित मात्रा में प्रचलित है, जैसे– नगर निगम का आयुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा या राज्य सेवा का होता है।

(ख) पंचायत सेवा (Panchayat Services)

नगरीय संस्थाओं के समान पंचायत राज संस्थाओं में भी राज्यों में विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रचलित हैं। सामान्यतः सभी राज्यों में पंचायत संस्थाओं में सेवाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. वे अधिकारी/कर्मचारी जो पंचायत संस्थाओं में राज्य सरकार की ओर से प्रतिनियुक्ति पर हैं, तथा
2. वे कर्मचारी जो पंचायत संस्थाओं के सेवक हैं।

प्रायः सभी राज्यों में पंचायत के वरिष्ठ अधिकारी राज्य की नियमित लोक सेवा के सदस्य होते हैं जिन्हें राज्य सरकार पंचायत संस्थाओं में नियुक्त/प्रतिनियुक्त करती है। इस प्रकार नियुक्त किये गए लोक–सेवक ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं में अपनी सेवा का कुछ समय बिताकर पुनः राज्य सकरार की सेवा में चले जाते हैं। रिक्त स्थानों पर पुनः दूसरे राज्य सेवक प्रतिनियुक्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की सेवाओं की भर्ती, पदोन्नति एवं नियन्त्रण राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में रहता है।

सामान्यतयाः सभी राज्यों में पंचायत संस्थाओं में प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के अधिकारी राज्य सरकार की लोक सेवा के सदस्य होते हैं। राजस्थान, कर्नाटक और मध्य प्रदेश राज्यों में तो तृतीय श्रेणी के कुछ वर्गों के कर्मचारी भी इन संस्थाओं में राज्य की सेवा से प्रतिनियुक्ति पर भेजे जाते हैं।

टिप्पणी

भारत की लोकसेवाओं में वर्गीकरण का एक और आधार भी है वह है– राजपत्रित तथा अराजपत्रित। राजपत्रित अधिकारी वे होते हैं जिनकी नियुक्ति पर उनका नाम राजपत्र (गजेट) में छपता है। इस वर्गीकरण का आधार भी वेतन तथा श्रेणी होती है। सामान्यतः अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं, श्रेणी प्रथम तथा श्रेणी द्वितीय राज्य सेवाएं, राज्य अधीनस्थ सेवाएं, विशिष्ट सेवाओं में मध्यम से उच्च सेवाएं प्रायः राजपत्रित वर्ग में रखी जाती हैं। शेष सब अराजपत्रित मानी जाती हैं।

भारतीय लोक सेवाओं के वर्गीकरण का मूल्यांकन

भारत की लोक सेवाओं में वर्गीकरण की व्यवस्था बहुत अस्पष्ट है। इससे भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण तथा अनुशासन की कोई सकारात्मक नीति नहीं बनाई जा सकती। इस वर्गीकरण व्यवस्था में निम्नलिखित कमियां देखी जा सकती हैं–

1. वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। योग्यता, उत्तरदायित्व, कठिनाई आदि को आधार बनाकर वर्गीकरण नहीं किया गया है। एक आई.ए.एस. को भर्ती के समय एक सेवा में रखा गया और मान लिया कि वह जीवनपर्यन्त योग्य रहेगा। उसकी योग्यता की इंजीनियर, डॉक्टर आदि से कोई तुलना नहीं। एक सीमा तक वेतन को ही वर्गीकरण का आधार मान लिया गया है। अधिकारी बड़ा है क्योंकि वेतनमान अधिक है और वेतनमान अधिक है क्योंकि अधिकारी बड़ा है, यह एक आधारहीन तरीका है।
2. वर्तमान पद्धति में ग्रेड्स की संख्या बहुत अधिक है और सेवाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। यह स्थिति अच्छे कार्मिक प्रशासन के अनुकूल नहीं है।
3. यह अलोकतांत्रिक पद्धति है। इसमें प्रस्थिति (Status) को बहुत महत्व दिया गया है। एक सेवा के व्यक्ति दूसरी सेवा के व्यक्तियों से इसलिए नहीं मिलते हैं कि प्रस्थिति का अन्तर है। इनके बीच परस्पर संचार में मनोवैज्ञानिक बाधा और ईर्ष्या रहती है जो प्रशासनिक अकुशलता लाती है।
4. इस वर्गीकरण के रहते समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसमें वर्गीकरण के लिए अधिकारी की जिम्मेदारी, कठिनाई तथा योग्यता को नहीं आंका जाता।
5. वर्गीकरण में रैंक को आधार बनाने से विशेषज्ञों में असंतोष, तनाव तथा निम्न मनोबल बना रहता है। उन्हें यह नहीं समझाया जा सकता कि सामान्यकों को उनसे श्रेष्ठ स्थान क्यों दिया गया है।

भारतीय लोक प्रशासन पर अपने प्रतिवेदन में प्रो. एपलबी (Prof. Appleby) ने सेवाओं के वर्गीकरण में निम्नलिखित कमियां बताई हैं–

1. सेवाओं के बीच विभाजन, सीमाओं की कठोरता (Rigidity)
2. वर्गीकरण के आधार के रूप में बौद्धिक उन्मुखता (Intellectually Oriented),
3. सेवाएं विश्रृंखलित (Disjoined)

4. सेवाओं के बीच ईर्ष्या (Inter Class Jealouries)
5. सामान्यक वर्चस्व (More Generalist Deminated)
6. प्रस्थिति उन्मुख (Status Oriented)

वर्गीकरण की इस पद्धति की प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reform Commission 1968) ने भी आलोचना की है। द्वितीय वेतन आयोग के अनुसार, "इस वर्गीकरण पद्धति से ऐसा कोई व्यावहारिक उद्देश्य पूरा नहीं होता जोकि इसके बिना पूरा न हो सके और दूसरी ओर इसका एक अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।" इसलिए आयोग ने इस पद्धति के उन्मूलन की सिफारिश की। वर्तमान पद्धति ब्रिटिशकाल से चली आ रही है। इक्कीसवीं सदी के आते–आते लोक प्रशासन की प्रकृति, भूमिका तथा उस पर तकनीकी प्रभाव से कार्य पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गया है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किस पद्धति की स्थापना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है?

(क) विधायी	(ख) लोकतांत्रिक
(ग) संघीय	(घ) असंघीय

4. भारत के प्रशासन को प्रभावी ढंग से और कुशलतापूर्वक चलाने की जिम्मेदारी किसकी है?

(क) राजा की	(ख) महारानी की
(ग) राष्ट्रपति की	(घ) सिविल सेवाओं की

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)

4.5 सारांश

राज्यों की स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में 1983 में केंद्रीय सरकार ने केंद्र–राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से एक आयोग की स्थापना की, जिसे सरकारिया आयोग कहा गया। न्यायमूर्ति सरकारिया इस आयोग के अध्यक्ष थे और इसमें दो और सदस्य थे। नवम्बर, 1987 में सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट केंद्रीय सरकार को सौंप दी।

सरकारिया आयोग ने जो सुझाव दिए हैं उनमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन की बात नहीं कही गई है। वास्तव में केंद्र–राज्य संबंध सुधारने की दिशा में संविधान एक बाधा नहीं है और इस संदर्भ में इसमें महत्वपूर्ण संशोधन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों की वास्तविक समस्याओं का निराकरण किया जाए और इस क्षेत्र में उचित परिपाटियों को जन्म दिया जाए।

संघीय पद्धति की स्थापना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। संघीय व्यवस्था के अंतर्गत दो प्रकार की सरकारें होती हैं– एक केंद्रीय अथवा संघीय सरकार और दूसरी संघ की विभिन्न इकाइयों की सरकारें। भारतीय संघ में मुख्य 29 इकाइयां हैं जिन्हें राज्य कहा जाता है तथा 7 केंद्र–शासित प्रदेश हैं। संघीय पद्धति को उचित रूप में समझने के लिये यह आवश्यक है कि केंद्र और राज्यों के संबंधों को समझा जाए।

केंद्र और राज्य के बीच एक मुख्य समस्या क्षेत्रीय राज्यों में राजस्व और व्यय के बीच एक असंतुलन है। राज्यों के स्वास्थ्य, शिक्षा और अन्य सार्वजनिक सेवाओं से संबंधित कार्यक्रमों को लागू करने की आवश्यकता होती है। लेकिन इन सार्वजनिक सेवाओं के लिए वे अपने स्वयं के राजस्व को इकट्ठा करने में असमर्थ हैं। इस समस्या के समाधान लिए केंद्र सरकार द्वारा राज्यों को अधिक राजस्व आवंटित करना और राज्यों को अधिक राजस्व इकट्ठा करने के लिए अनुमति दिया जाना है। उदाहरण के लिए, राज्य सेवाकर नहीं जमा कर सकते। अतः अधिक राजस्व आंतरिक रूप से राज्यों के भीतर उत्पन्न किया जाना चाहिए, और केंद्र को भी राज्यों को और अधिक पैसा स्थानांतरित करना होगा।

भारतीय संविधान के अंतर्गत संघीय व्यवस्था की स्थापना की गई है। भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयां है– एक, राज्य जिनकी संख्या 29 है और दूसरी, केंद्र–शासित प्रदेश जिनकी संख्या 7 है। विश्व के अन्य संघों की तुलना में भारतीय संघ की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। भारतीय संघ में केंद्र अत्यंत शक्तिशाली है तथा उसे आपातकाल में राज्यों के शासन को अपने हाथों में लेने का अधिकार प्राप्त है। इसके साथ ही भारत में राज्यों के अपने पृथक संविधान नहीं हैं और राज्यों को संविधान में संशोधन का अधिकार भी नहीं है। इसी कारण भारत में राज्यों की राजनीति का स्वरूप भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है। भारत में राज्यों की राजनीति का स्वरूप तथा प्रवृत्तियां सभी राज्यों में एक समान नहीं हैं और समय तथा परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन भी होता रहा है।

सिविल सेवा का निर्माण एक निश्चित पैटर्न का अनुसरण करता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा और केन्द्रीय सिविल सेवा (दोनों ग्रेड ए और बी) केवल मौजूदा आधुनिक भारतीय सिविल सेवा का गठन करते हैं। इसमें आवेदन करने वाले विश्वविद्यालय के स्नातक होते हैं जिनकी भर्ती लिखित और मौखिक परीक्षाओं की एक कठिन प्रणाली के माध्यम से की जाती है। भारतीय सिविल सेवा के संभावित

उम्मीदवारों (सभी तीन सेवाओं) और केन्द्रीय सिविल सेवा (दोनों ग्रेड ए और बी) की नियुक्ति लोक संघ सेवा आयोग द्वारा की जाती है।

टिप्पणी

केंद्रीय लोक सेवाएं किसी बड़े संगठन की भांति हैं, जिनके स्टाफ में विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी होते हैं—डाक सेवा, लेखा सेवा एवं लेखा—परीक्षण, भारतीय विदेश सेवा इत्यादि। राज्यों (दिल्ली व अन्य संघशासित क्षेत्रों को छोड़कर) के पास अपने—अपने अधिकार—क्षेत्र में स्वतंत्र सेवाएं होती हैं, जिनका विनियमन स्थानीय विधियों (कानूनों) एवं लोक सेवा आयोगों के द्वारा किया जाता है। राज्यपाल प्रायः राज्य लोक सेवा आयोग के अनुमोदन पर राज्य लोक सेवाओं के सदस्यों को नियुक्त करता है। व्यापक विस्तार में शीर्षस्थ प्रशासनिक पदों को भरने के लिए राज्यों की निर्भरता राष्ट्रीय निकायों यथा भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं भारतीय पुलिस सेवा पर होती है।

भारतीय लोक सेवा का विस्तृत इतिहास रहा है। प्राचीन भारत में मौर्य काल के दौरान प्रशासनिक सेवकों को व्यक्तिगत सेवकों की भूमिका निभानी होती थी। मध्यकाल के दौरान वे राजसेवकों का कार्य किया करते थे। ब्रिटिशकाल में वे लोकसेवक बन गए तथा प्रशासनिक सेवा एक सुरक्षित सेवा बन गयी। भारतीय स्वाधीनता के पचास वर्षों (1947—1997) के दौरान भारतीय प्रशासनिक सेवा न्यूनाधिक ब्रिटिश प्रतिरूप जैसी रही परंतु भीतरी व बाहरी दबावों के कारण अब भारतीय प्रशासनिक सेवा स्वयं को पेशेवर बना रहा है।

4.6 मुख्य शब्दावली

- **अवशिष्ट** : बचा हुआ, बाकी।
- **प्रथक** : अलग, भिन्न।
- **विस्थापित** : जिसे अपनी जगह से जबरन हटा दिया गया हो।
- **अनुशंसा** : संस्तुति, सिफारिश।
- **अर्हता** : योग्यता, किसी पद के लिए वांछित विशेष गुण।

4.7 स्व—मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु—उत्तरीय प्रश्न

1. 1977 में जम्मू और कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला ने क्या करने की मांग उठाई?
2. केंद्र—राज्य संबंधों से क्या आशय है?
3. भारतीय वन सेवा और भारतीय विदेश सेवा को किस प्रावधान के तहत स्थापित किया गया है?
4. जिले का सामान्य प्रशासन किसके पास निहित होता है?
5. भर्ती का सामान्य अर्थ क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सरकारिया आयोग रिपोर्ट और प्रतिवेदन की विवेचना कीजिए।
2. केंद्र–राज्य संबंधों में सुधार के सुझावों की समीक्षा कीजिए।
3. भारतीय सिविल सेवा के अर्थ और संरचना पर प्रकाश डालिए।
4. उपायुक्त की विभिन्न जिम्मेदारियों की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. एस. आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
2. डॉ. एस. सी. सिंघल, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय शासन एवं गजनीलि लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
4. मोहित भट्ध्टाचार्य, लोक प्रशासन के नये आयाम जवाहर बुक सेंटर।
5. भारत 2015, पब्लिकेशन डिवीजन।

इकाई 5 राजस्व प्रशासन

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 जिला प्रशासन
5.3 ब्लॉक स्तर
5.4 तहसील स्तर प्रशासन मशीनरी – भूमिका और कार्य
5.5 जिला विकास प्रशासन
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

भारत में राजस्व प्रशासन की प्रक्रिया शेरशाह सूरी (1540–45) के समय से लागू हुई। यह मुग़ल सम्राट अकबर (1556–1605) के काल में जारी रही तथा विकसित हुई। टोडरमल ने शेरशाह सूरी के अंतर्गत कार्य करना शुरू किया था। बाद में उसने अकबर के अधीन कार्य करना शुरू किया। उसे राजस्व निर्धारण तथा सर्वेक्षण की एक नयी व्यवस्था को शुरू करने के लिए याद किया जाता है, जो कि राज्य की मांग तथा प्रजा की जरूरतों के मध्य एक संतुलन की रूपरेखा को दर्शाता है। मुगलों के शासनकाल में राजस्व प्रशासन विभिन्न वर्गों के लोगों से मिलकर बना था, जिसमें राजशाही प्रशासन के प्रत्यक्ष अधिकारी शामिल थे, जैसे कि प्रांतीय गवर्नर, आमिल, कानूनगो, जागीरदार (राजस्व समनुदेशिती) तथा उनके अधिकारी तथा एजेंट्स, किसानों के प्रतिनिधि जैसे ग्राम अध्यक्ष (मुकद्दम) तथा चौधरी।

भारत में ब्रिटिश के आगमन के साथ ही राजनीतिक तथा आर्थिक परिदृश्य में बहुत सारे परिवर्तन हुए। ब्रिटिश शासन में राजस्व प्रशासन का स्थायी बंदोबस्त (लार्ड कार्नवालिस द्वारा 1793 में), रैयतवाड़ी व्यवस्था (सर थॉमस मुनरो द्वारा 1802 में) द्वारा वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित किया गया। औपनिवेशिक सरकार ने अपने हित से प्रेरित होकर प्रभावशाली रूप से शासन करने के लिए, राजस्व व्यवस्था में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया, लेकिन गैर किसान बिचौलियों के वर्गों को प्रोत्साहित किया। ब्रिटिश ने मुगलों से कृषि व्यवस्था के सांस्थानिक रूप को विरासत में लिया था। ब्रिटिश ने भूमि से संबंधित वर्तमान व्यवस्था पर एक दूसरी व्यवस्था को शुरू किया जो कि उनके रिवाजों तथा प्रथाओं से मिलती–जुलती थी। ब्रिटिश काल में राजस्व व्यवस्था प्रशासन के केंद्र में थी। जिले में कलक्टर वास्तविक शासनकर्ता था, उसके ही इर्द–गिर्द प्रशासन घूमता था।

प्रस्तुत इकाई में भारतीय राजस्व प्रशासन तथा उसके संगठन पर प्रकाश डाला गया है तथा जिला, ब्लॉक व तहसील प्रशासन का अध्ययन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजस्व प्रशासन की संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- जिला प्रशासन के सभी पक्षों को समझ पाएंगे;
- ब्लॉक स्तर पर होने वाली गतिविधियों से परिचित हो पाएंगे;
- तहसील स्तर की प्रशासन मशीनरी के कार्यों को समझ पाएंगे;
- जिला विकास प्रशासन के दायित्वों के बारे में जान पाएंगे।

5.2 जिला प्रशासन

जिला तथा राजस्व प्रशासन

भारत में प्रशासन की इकाई के रूप में जिले का लंबा इतिहास है जो मौर्यकाल से शुरू होता है। मुगल काल के दौरान जिले को सरकार कहा जाता था और इसके प्रमुख को करोड़ी फौजदारी कहते थे लेकिन आज का जिला प्रशासन और जिलाधीश (Collector) के पद का विकास भारत में British East India Company के समय में हुआ था।

भारत में कलेक्टर पद का सृजन 1772 ईस्वी में तत्कालीन गवर्नर जनरल Warren Hastings ने किया था। जिले का स्पष्ट रूप से प्रयोग सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में किया जाने लगा। ब्रिटिश शासन के दौरान स्थापित जिला भारतीय प्रशासन की रीढ़ की हड्डी के रूप में जाना जाने लगा।

संविधान में जिला शब्द का अनुच्छेद 233 में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of judges) के प्रश्न में प्रयोग किया गया है।

जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर का पद अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जिला कलेक्टर भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) का अधिकारी होता है। जिला स्तर पर जिला कलेक्टर राज्य सरकार की आंख, कान तथा हाथों के रूप में कार्य करते हैं। केंद्र सरकार की अनुमति के बिना उसे पद विमुक्त नहीं किया जा सकता है।

कलक्टर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह निम्नलिखित चार रूपों में करता है–

1. कलक्टर (राजस्व संग्राहक)
2. जिलाधिकारी के रूप में
3. जिला मजिस्ट्रेट के रूप में
4. विकास अधिकारी के रूप में

टिप्पणी

जिले में कानून व्यवस्था बनाए रखना कलक्टर यानी जिलाधिकारी की जिम्मेदारी है। जिले में पुलिस विभाग का मुखिया पुलिस अधीक्षक होता है।

कमीश्नरेट प्रणाली में पुलिस अधीक्षक यानी SP को कानून व्यवस्था लागू करने में स्वायत्तता होती है। कई जिलों में कमिश्नरेट व्यवस्था लागू है।

जिला प्रशासन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. कानून और व्यवस्था लागू करना
2. सरकार का भू–राजस्व एकत्रित करना
3. जिले की नगरीय तथा ग्रामीण जनता का कल्याण

जिलाधीश

जिलाधीश जिला स्तरीय प्रशासन का प्रधान होता है। वह जिले में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने के साथ–साथ विभिन्न विकास कार्यों एवं राजस्व मामलों की देख–रेख करता है। जिलाधीश के अधीन उपखंड स्तर पर उपखंड अधिकारी एवं तहसील स्तर पर तहसीलदार प्रशासनिक नियंत्रण व क्रियान्वयन एवं राजस्व संबंधी मामलों की देख–रेख के लिए उत्तरदायी होते हैं।

उपखंड अधिकारी

जिलों को उप खंडों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक उपखंड उपखंड अधिकारी के अधीन होता है। यह राज्य प्रशासनिक सेवा का अधिकारी होता है। उपखंड अधिकारी अपने क्षेत्र के प्रशासन से संबंधित लगभग सभी महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन जिलाधीश के निर्देशन में करते हैं।

तहसीलदार

उपखंड स्तर के नीचे के राजस्व प्रशासन हेतु राज्य में प्रत्येक उपखंड को तहसीलों में बांटा गया है। तहसीलों का प्रमुख अधिकारी तहसीलदार होता है। तहसीलदारों की नियुक्ति राजस्व मंडल द्वारा की जाती है। वे तहसीलदार सेवा के सदस्य होते हैं। अधीनस्थ सेवा का अधिकारी होते हुए भी तहसीलदार एक राजपत्रित अधिकारी होता है।

पटवारी

राजस्व प्रशासन की मुख्य एवं न्यूनतम इकाई ग्राम या गाँव होता है। गाँव का प्रशासक पटवारी होता है। प्रत्येक तहसील विभिन्न पटवार क्षेत्रों में विभाजित होती है। प्रत्येक पटवार क्षेत्र का प्रमुख अधिकारी पटवारी होता है। पटवारी कार्यालय उसके कार्यक्षेत्र के प्रमुख गाँव में होता है और वह उसी गाँव में निवास करता है। पटवारी का पद मुगल काल में प्रचलन में आया था। पटवारी सरकारी प्रतिनिधि के रूप में भारत की ग्रामीण जनता के लिए निकटतम अधिकारी होता है। पटवारी का पद राजस्व प्रशासन में सबसे महत्वपूर्ण होता है।

जिले का न्यायिक अधिकारी

भूमि, सीमा विवाद, चारागाह, भू–अभिलेख तथा पंजीकरण, भू–राजस्व, संपत्ति विभाजन आदि से संबंधित विवादों का निबटारा करता है।

उपखंड अधिकारी दंडनायक (SDM)

अपने क्षेत्र में शांति व्यवस्था बनाने का कार्य करता है। इसके लिए उसे पुलिस थानों व चौकियों का निरीक्षण, फौजदारी प्रशासन का संचालन तथा धारा 144 लागू करने का अधिकार प्राप्त है। गाँवों के आर्थिक, सामाजिक व विकास कार्यक्रमों को संचालित करने का दायित्व भी उपखंड अधिकारी का होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. मुगल काल के दौरान जिले को क्या कहा जाता था?

(क) राज्य	(ख) सरकार
(ग) गाँव	(घ) कसबा

2. भारत में कलेक्टर पद का सृजन कब किया गया?

(क) 1772 में	(ख) 1872 में
(ग) 1777 में	(घ) 1900 में

5.3 ब्लॉक स्तर

भारत में पंचायत व्यवस्था त्रिस्तरीय है। त्रिस्तरीय पंचायत में विभिन्न पदों को शामिल किया गया है, जिसमें ब्लॉक प्रमुख का भी एक पद है। यह पद बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस पद पर चयनित व्यक्ति अपने क्षेत्र का विकास करता है। कम से कम दो–तीन ग्राम पंचायतों को मिलाकर एक विकासखंड का गठन होता है। गाँवों में सड़क, बिजली, नाली, शिक्षा, पेयजल और स्वास्थ्य आदि से संबंधित आवश्यकताओं को विकासखंड द्वारा पूरा किया जाता है। ब्लॉक प्रमुख, ब्लॉक या विकास खंड का अध्यक्ष होता है। ब्लॉक में आने वाली ग्राम पंचायतों का बजट ब्लॉक प्रमुख की अध्यक्षता में ही पास होता है।

ब्लॉक किसे कहते हैं

राज्यों को जिलों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक जिले को ब्लॉकों में विभाजित किया गया है। ब्लॉकों को ग्राम पंचायत में और ग्राम पंचायतों को गाँवों में विभाजित किया गया है। एक जिले में कई ब्लॉक होते हैं।

ब्लॉक प्रमुख का चुनाव कैसे होता है

गाँव के विकास के लिए प्रत्येक गाँव का एक प्रमुख बनाया जाता है। जिसका चयन उस गाँव की जनता द्वारा मतदान के माध्यम से किया जाता है। उसे हम ग्राम प्रधान कहते हैं। प्रत्येक पांच वर्ष में ग्राम प्रधान और क्षेत्र पंचायत सदस्य का चुनाव होता है।

इन सदस्यों का चयन गाँव की जनता द्वारा किया जाता है। इसके बाद निर्वाचित हुए क्षेत्र पंचायत सदस्यों में से किसी एक का मतदान द्वारा ब्लॉक प्रमुख के पद पर चयन किया जाता है। ब्लॉक प्रमुख के चुनाव में सिर्फ क्षेत्र पंचायत सदस्य ही मतदान कर सकते हैं।

ब्लॉक प्रमुख बनने हेतु योग्यता

ब्लॉक प्रमुख का चुनाव लड़ने वाले व्यक्ति को 10वीं पास होना अनिवार्य है–

1. उसे राजनीति के मामले में पहले से ही जानकारी होना आवश्यक है।
2. वह स्वास्थ्य के मामले में बिल्कुल दुरुस्त होना चाहिए।

ब्लॉक प्रमुख का वेतन

ब्लॉक प्रमुख के पद पर चयनित व्यक्ति को प्रतिमाह आकर्षक वेतन मानदेय के रूप में प्राप्त होता है। इसके साथ ही ब्लॉक प्रमुख को कई प्रकार के भत्ते भी दिए जाते हैं।

ब्लॉक प्रमुख के कार्य और अधिकार

1. ब्लॉक प्रमुख को पंचायत समिति या स्थायी समिति के निर्णयों का कार्यान्वयन करने का अधिकार प्राप्त होता है।
2. ब्लॉक प्रमुख को पंचायत समिति के वित्तीय और कार्यपालिका प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण रखने का अधिकार होता है।
3. प्राकृतिक आपदा से प्रभावित जनता को राहत देने के लिए ब्लॉक प्रमुख को आवश्यक कदम उठाने की शक्ति प्रदान की गई है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. ब्लॉक प्रमुख, ब्लॉक या विकास खंड का क्या होता है?

(क) मंत्री	(ख) नेता
(ग) अध्यक्ष	(घ) क्लर्क

4. जिले को किसमें विभाजित किया गया है?

(क) गाँव में	(ख) शहर में
(ग) नगर में	(घ) ब्लॉक में

5.4 तहसील स्तर प्रशासन मशीनरी – भूमिका और कार्य

तहसीलदार/नायब तहसीलदार

तहसील भारत की एक प्रशासनिक इकाई है। एक राज्य कई जिलों से मिलकर बना होता है। एक जिले के अंदर कई तालुक या तहसील या प्रखंड होते हैं। तहसील का प्रभारी अधिकारी तहसीलदार होता है।

टिप्पणी

तहसीलदार और नायब तहसीलदार, राजस्व प्रशासन के प्रमुख अधिकारी और सहायक कलेक्टर के दूसरे स्तर की शक्तियां हैं। विभाजन के मामलों का निर्णय करते समय तहसीलदार सहायक कलेक्टर 1 ग्रेड की शक्तियों को मानता है। उसका मुख्य कार्य राजस्व संग्रह और अपने क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर दौरा करना है। राजस्व रिकॉर्ड और फसल के आंकड़े भी उसके द्वारा बनाए रखे जाते हैं। तहसीलदार और नायब–तहसीलदार भूमि राजस्व और सरकार को देय अन्य बकाया राशि के संग्रह के लिए जिम्मेदार हैं। अधीनस्थ राजस्व कर्मचारियों के संपर्क में रहने के लिए, मौसमी स्थितियों और फसलों की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए, किसानों की कठिनाइयों को सुनने और तकावी ऋण वितरित करने के लिए, तहसीलदार और नायब–तहसीलदार बड़े पैमाने पर अपने क्षेत्राधिकार के क्षेत्रों का दौरा करते हैं। वे मौके पर तत्काल मामलों का फैसला करते हैं, जैसे– खाता पुस्तकों की प्रविष्टियों में सुधार, प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने वाले लोगों को राहन प्रदान करना आदि। यात्रा से वापसी पर, वे रिपोर्ट तैयार करते हैं और सरकारी छूट या निलंबन आदि की सिफारिश करते हैं। वे विभिन्न प्रकार के काम करने के अलावा किरायेदारी के विवादों, खाता पुस्तकों में प्रविष्टियों इत्यादि के निबटारे के लिए अदालतों में भी बैठते हैं।

जिले में तहसीलदारों और नायब तहसीलदारों को निम्नलिखित राजस्व कर्मचारियों द्वारा सहायता दी जाती है–

1. अधिकारी कानूनगो
2. सहायक कानूनगो
3. फील्ड कानूनगो
4. पेशी कानूनगो
5. कृषि कानूनगो
6. पटवारी

अपनी प्रगति जांचिए

5. तहसील भारत की कैसी इकाई है?
   (क) प्रशासनिक
   (ख) सामाजिक
   (ग) आर्थिक
   (घ) भौतिक
6. तहसील का प्रभारी अधिकारी कौन होता है?
   (क) दारोगा
   (ख) तहसीलदार
   (ग) अध्यक्ष
   (घ) चौधरी

5.5 जिला विकास प्रशासन

जिला विकास और पंचायत अधिकारी

जिला विकास और पंचायत अधिकारी जिले के विकास और कल्याण कार्यक्रमों को चलाने के लिए डिप्टी कमिश्नर की मदद करने के लिए प्रमुख अधिकारी है। वह निम्नलिखित विषयों से संबंधित होता है–

1. विकास से संबंधित कार्य
2. पांच साल की योजनाएं और स्थानीय विकास कार्य
3. पंचायत समितियां, स्थानीय निकाय और पंचायत

टिप्पणी

जिला रिव्यू ऑफिसर

डीआरओ का पद वर्ष 1983 में बनाया गया था। वह राजस्व और वसूली कार्यों से संबंधित काम करने के लिए डिप्टी कमिश्नर की मदद करने के लिए मुख्य अधिकारी भी हैं।

पुलिस

जिले में पुलिस प्रशासन पुलिस अधीक्षक के अधीन होता है, जो कानून और व्यवस्था के रखरखाव के लिए जिम्मेदार होता है। अनेक स्थानों पर दो पुलिस उप–अधीक्षकों द्वारा पुलिस अधीक्षक की सहायता की जाती है।

न्यायपालिका

जिला एवं सत्र न्यायाधीश, अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, सीजेएम, वरिष्ठ उप न्यायाधीश न्यायपालिका परिसर में अलग–अलग अदालत रखते हैं।

जिला अटार्नी

जिले में सभी नागरिक मामलों को अभियोजन पक्ष के निदेशक के मार्गदर्शन में सरकार और आपराधिक मामलों के कानूनी अनुस्मारक के मार्गदर्शन में जिला अटॉर्नी द्वारा निबटाया जाता है। जिला अटॉर्नी को किसी भी निजी अभ्यास की अनुमति नहीं है। उन्हें जिला स्तर के अधिकारियों को कानूनी सलाह देना आवश्यक है, जिसका कोई शुल्क नहीं लिया जाता है। हालांकि, जिला स्तर पर यदि कोई केंद्रीय सरकारी कार्यालय कानूनी राय चाहता है, तो निर्धारित शुल्क को सरकारी खाते में जमा किया जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. जिले में पुलिस प्रशासन किसके अधीन होता है?

   (क) थानेदार के　　(ख) इंस्पेक्टर के

   (ग) पुलिस अधीक्षक के　　(घ) हवलदार के

8. निम्न में से किसे किसको किसी भी प्रकार के निजी अभ्यास की अनुमति नहीं है?

   (क) वकील को　　(ख) डॉक्टर को

   (ग) मास्टर को　　(घ) जिला अटॉर्नी को

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (ख)
7. (ग)
8. (घ)

5.7 सारांश

भारत में प्रशासन की इकाई के रूप में जिले का लंबा इतिहास है जो मौर्यकाल से शुरू होता है। मुगल काल के दौरान जिले को सरकार कहा जाता था और इसके प्रमुख को करोड़ी फौजदारी कहते थे लेकिन आज का जिला प्रशासन और जिलाधीश (Collector) के पद का विकास भारत में British East India Company के समय में हुआ था।

भारत में कलेक्टर पद का सृजन 1772 ईस्वी में तत्कालीन गवर्नर जनरल Warren Hastings ने किया था। जिले का स्पष्ट रूप से प्रयोग सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में किया जाने लगा। ब्रिटिश शासन के दौरान स्थापित जिला भारतीय प्रशासन की रीढ़ की हड्डी के रूप में जाना जाने लगा।

संविधान में जिला शब्द का अनुच्छेद 233 में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of judges) के प्रश्न में प्रयोग किया गया है।

जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर का पद अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जिला कलेक्टर भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) का अधिकारी होता है। जिला स्तर पर जिला कलेक्टर राज्य सरकार की आंख कान तथा हाथों के रूप में कार्य करते हैं। केंद्र सरकार की अनुमति के बिना उसे पद विमुक्त नहीं किया जा सकता है।

जिलाधीश जिला स्तरीय प्रशासन का प्रधान होता है। वह जिले में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने के साथ–साथ विभिन्न विकास कार्यों एवं राजस्व मामलों की देख–रेख करता है। जिलाधीश के अधीन उपखंड स्तर पर उपखंड अधिकारी एवं तहसील स्तर पर तहसीलदार प्रशासनिक नियंत्रण व क्रियान्वयन एवं राजस्व संबंधी मामलों की देख–रेख के लिए उत्तरदायी होते हैं।

भारत में पंचायत व्यवस्था त्रिस्तरीय है। त्रिस्तरीय पंचायत में विभिन्न पदों को शामिल किया गया है, जिसमें ब्लॉक प्रमुख का भी एक पद है। यह पद बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस पद पर चयनित व्यक्ति अपने क्षेत्र का विकास करता है। कम से कम दो–तीन ग्राम पंचायतों को मिलाकर एक विकासखंड का गठन होता है। गाँवों में सड़क, बिजली, नाली, शिक्षा, पेयजल और स्वास्थ्य आदि से संबंधित आवश्यकताओं को विकासखंड द्वारा पूरा किया जाता है। ब्लॉक प्रमुख, ब्लॉक या विकास खंड का अध्यक्ष होता है। ब्लॉक में आने वाली ग्राम पंचायतों का बजट ब्लॉक प्रमुख की अध्यक्षता में ही पास होता है।

गाँव के विकास के लिए प्रत्येक गाँव का एक प्रमुख बनाया जाता है, जिसका चयन उस गाँव की जनता द्वारा मतदान के माध्यम से किया जाता है। उसे हम ग्राम प्रधान कहते हैं। प्रत्येक पांच वर्ष में ग्राम प्रधान और क्षेत्र पंचायत सदस्य का चुनाव होता है। इन सदस्यों का चयन गाँव की जनता द्वारा किया जाता है। इसके बाद निर्वाचित हुए क्षेत्र पंचायत सदस्यों में से किसी एक का मतदान द्वारा ब्लॉक प्रमुख के पद पर चयन किया जाता है। ब्लॉक प्रमुख के चुनाव में सिर्फ क्षेत्र पंचायत सदस्य ही मतदान कर सकते हैं।

तहसील भारत की एक प्रशासनिक इकाई है। एक राज्य कई जिलों से मिलकर बना होता है। एक जिले के अंदर कई तालुक या तहसील या प्रखंड होते हैं। तहसील का प्रभारी अधिकारी तहसीलदार होता है। तहसीलदार और नायब तहसीलदार, राजस्व प्रशासन के प्रमुख अधिकारी और सहायक कलेक्टर के दूसरे स्तर की शक्तियां हैं। विभाजन के मामलों का निर्णय करते समय तहसीलदार सहायक कलेक्टर 1 ग्रेड की शक्तियों को मानता है। उसका मुख्य कार्य राजस्व संग्रह और अपने क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर दौरा करना है। राजस्व रिकॉर्ड और फसल के आंकड़े भी उसके द्वारा बनाए रखे जाते हैं। तहसीलदार और नायब–तहसीलदार भूमि राजस्व और सरकार को देय अन्य बकाया राशि के संग्रह के लिए जिम्मेदार हैं। अधीनस्थ राजस्व कर्मचारियों के संपर्क में रहने के लिए, मौसमी स्थितियों और फसलों की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए, किसानों की कठिनाइयों को सुनने और तकावी ऋण वितरित करने के लिए, तहसीलदार और नायब–तहसीलदार बड़े पैमाने पर अपने क्षेत्राधिकार के क्षेत्रों का दौरा करते हैं। वे मौके पर तत्काल मामलों का फैसला करते हैं, जैसे– खाता पुस्तकों में प्रविष्टियों में सुधार, प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने वाले लोगों को राहन प्रदान करना आदि। यात्रा से वापसी पर, वे रिपोर्ट तैयार करते हैं और सरकारी छूट या निलंबन आदि की सिफारिश करते हैं। वे विभिन्न प्रकार के काम करने के अलावा किरायेदारी के विवादों, खाता पुस्तकों में प्रविष्टियों इत्यादि के निबटारे के लिए अदालतों में भी बैठते हैं।

जिला विकास और पंचायत अधिकारी जिले के विकास और कल्याण कार्यक्रमों को चलाने के लिए डिप्टी कमिश्नर की मदद करने के लिए प्रमुख अधिकारी है।

जिले में सभी नागरिक मामलों को अभियोजन पक्ष के निदेशक के मार्गदर्शन में सरकार और आपराधिक मामलों के कानूनी अनुस्मारक के मार्गदर्शन में जिला अटॉर्नी द्वारा निबटाया जाता है। जिला अटॉर्नी को किसी भी निजी अभ्यास की अनुमति नहीं है। उन्हें जिला स्तर के अधिकारियों को कानूनी सलाह देना आवश्यक है, जिसका कोई शुल्क नहीं लिया जाता है। हालांकि, जिला स्तर पर यदि कोई केंद्रीय सरकारी कार्यालय कानूनी राय चाहता है, तो निर्धारित शुल्क को सरकारी खाते में जमा किया जाता है।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **ब्रह्मदेय** : ब्राह्मण की दान की हुई वस्तु।
- **अग्रहार** : राज्य की ओर से ब्राह्मण को निर्वाहार्थ मिलनेवाला भूमिदान।

टिप्पणी

- **आदाता** : पानेवाला, झगड़े में पड़ी संपत्ति की देखभाल हेतु न्यायालय द्वारा नियुक्त अधिकारी।
- **जजिया** : वह कर जो मुसलिम शासक गैर–मुसलिम प्रजा पर लगाते थे।
- **जकात** : आयात कर।
- **आमिल** : अधिकारी।
- **मुकद्दम** : गाँव का चौधरी, अध्यक्ष।
- **संभर** : भरण–पोषण करनेवाला।
- **स्वायत्त** : जो अपने ही अधिकार में हो।
- **निस्तारण** : उद्धार करना।

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में कलेक्टर पद का सृजन किसने किया था?
2. भारत में पंचायत व्यवस्था कैसी है?
3. एक राज्य किससे मिलकर बना होता है?
4. जिला विकास प्रशासक किन विषयों से संबंधित होता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. जिला प्रशासन की व्याख्या कीजिए।
2. ब्लॉक प्रमुख के पद और दायित्वों की समीक्षा कीजिए।
3. तहसीलदार के पद और कार्यों की व्याख्या कीजिए।
4. जिला विकास प्रशासन के प्रमुख विभागों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. एस. आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
2. डॉ. एस. सी. सिंघल, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय शासन एवं गजनीलि लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, एजुकेशन पब्लिशर्स।
4. मोहित भट्घ्टाचार्य, लोक प्रशासन के नये आयाम जवाहर बुक सेंटर।
5. भारत 2015, पब्लिकेशन डिवीजन।